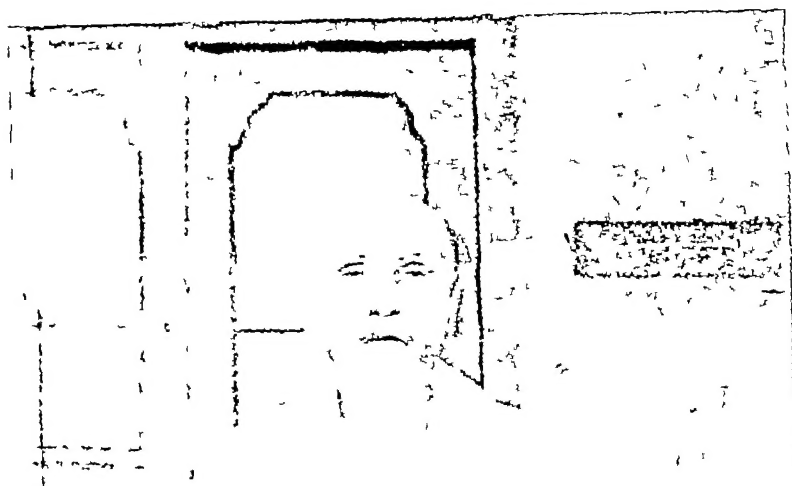
प्रकाशक—नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

मुद्रक—महताब राय, नागरी मुद्रण, काशी

प्रथम संस्करण १६००, सं० २०१४

मूल्य ५)



कवितार्किक चक्रवर्ती प० महादेव शास्त्री साहित्य व्याकरणाचार्य
जिनको प्रस्तुत तुच्छ कृति समर्पित है।

कवि

तार्किक चक्रवर्ती

पं० श्री महादेव शास्त्री

जी को सादर

समर्पित

प्रस्तावना

मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाज की आधारशिला या मूल-भित्ति है मर्यादा एवं व्यवस्था। यही कारण है कि मानव, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यवस्था लाना और देखना चाहता है। जीवन का सर्वतः प्रमुख क्षेत्र है—"अध्ययन", क्योंकि यही सारे जीवन की नींव है, अतः यहाँ व्यवस्था अपनी चरम सीमा में अपेक्षित है। जहाँ तक हिंदी साहित्य के नवीन मोड से जीवन के तथाकथित क्षेत्र का संबंध है—उसके लिए स्थिर व्यवस्था अभी "साध्य" की कोटि में है। बात यह है कि इसकी भावयित्री एवं कारयित्री प्रतिभाएँ परंपरा प्राप्त "शब्द-प्रमाण" की व्यंवस्थित भारतीय पद्धति की अवहेलना तो कर रही हैं, उपजीव्य साहित्य की प्रकृति को भी पूर्णतः आत्मसात् करने में दत्तावधान नहीं हैं और विभिन्न संस्कृतियों की कचित् जीर्ण-शीर्ण एवं कचित् अपरिपक्व विचारों को अनपची एवं कृत्रिम पद्धति से साहित्य को अंधाधुंध राशीभूत करती हुई चली जा रही हैं। साहित्य के आलोचनात्मक पक्ष की बात छोड़ें, जहाँ तक उसके रचनात्मक पक्ष की बात है, अध्येताओं को जितनी कठिनाइयाँ प्रतीत होती हैं, उसका एक मात्र मूल कारण है—निश्चित दशा और स्थिर व्यवस्था का अभाव। इसी अभाव के निराकरण में जो कुछ सूक्ष्म भारतीय साहित्य के सूत्र हैं, प्रस्तुत निबंध उन्हीं को पकड़ने का प्रयास है।

सम्प्रति, हिंदी साहित्य की धारा पूर्णतः पश्चिमाभिमुख हो चुकी है। और पश्चिमाभिमुख होने के कारण उपजीव्य की स्वभावगत लाक्षणिक चपलता का प्रतिफलन हिंदी की नवीन कविता में होना अनिवार्य है। "चपलता" का मर्यादा या व्यवस्था से सहज विरोध है। यह चपलता भी जब बेढंगे अनुकृत हो, तो कहना ही क्या! इससे दुर्निवार्य विरूपता उत्पन्न होती है। इस चपलता एवं विरूपता की निवृत्ति के लिए यह आवश्यक है, कि उसे साहित्य शास्त्र की सुविचारित मर्यादा एवं व्यवस्था दी जाय, जिसके फलस्वरूप नवीन कविता की प्रगति एवं अवगति दोनों व्यवस्थित हो जायँ। सैकड़ों वर्ष पूर्व भारतीय साहित्य शास्त्रकारों ने

भी काव्य में "लाक्षणिकता" को उपास्य घोषित कर दिया था, शुद्ध शास्त्रकार उसे जघन्य वृत्ति कहते ही रह गए। भोजराज ने "शृंगार प्रकाश" में शब्द-शक्तियो की चर्चा करते हुए लिखा है—

> अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणामता ।
> सैषाविदग्धवक्रोक्तिजीवितं वृत्तिरुच्यते ।

अर्थात् काव्य की आत्मा यद्यपि विदग्धों की वक्रोक्ति है, तथापि लक्षणा इस आत्मा की भी आत्मा है। तात्पर्य यह कि लक्षणा को यहाँ भी काव्य की दृष्टि से अत्यधिक उपादेय माना गया है, पर उसमें तथाकथित चपलता नहीं है। "इस लक्षणा" शक्ति के अतिरिक्त काव्य के क्षेत्र में कहीं इससे बढ़ चढ़कर भाषा की जो शक्ति है, वह है—"व्यंजना"। आज की "वाद" ग्रस्त नवीन कविता जिस "अतिरिक्त" अर्थ को काव्य में अत्यावश्यक मानती है, आत्मस्थानीय मानती है, उसकी प्राप्ति में यही शक्ति कार्य करती है। "वाद" प्रवण साहित्य उत्तरोत्तर शब्दों से प्राप्त होने वाले सूक्ष्म सकेतों की ओर बढ़ता ही जा रहा है। आज के मान्य आलोचक रिचार्ड्स एव उनके पट्टशिष्य एम्पसन "न्यूऐंस" तथा "एम्बिसिचटी" की जो महत्ता प्रतिष्ठित करते जा रहे हैं, वह किसी से तिरोहित नहीं है। ख्यातनामा ईलियट के सकेतों को कितने लोग ग्रहण कर पाते हैं ? इन इंगित अर्थों के समानातर अपने यहाँ "ध्वनि" की प्रतिष्ठा है पर उसकी "गूढ़ता" यहाँ हेय-कोटि में परिगणित है। उक्त दोनों शक्तियों की अमर्यादित एव अतिरेकी प्रवृत्ति ही आधुनिक कविता मे सारी परेशानियों का मूल है, भारतीय साहित्य शास्त्र उसे मर्यादित करता है। सारांश यह कि नवीन कविता की भाषा जिस अतिरिक्त अर्थोपयोगी शक्तियों-लक्षणा एवं व्यंजना-से समृद्ध है, यदि हमें नवीन कविता की आत्मा पकड़ती है, तो उसका परिज्ञान, नितांत आवश्यक है। अर्थ की प्राप्ति में शब्द-शक्तियों की जो व्यवस्थित प्रक्रिया भारतीय साहित्यशास्त्र एवं अन्य शास्त्रों में मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। भावोत्तेजक भाषा (इमोटिव लैंग्वेज) के कार्य पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रिचार्ड्स भी विचार कर रहे हैं, पर उक्त सौविध्य एवं सौंदर्य सर्व सामान्य को इनसे प्राप्त होना दुष्कर है। प्रस्तुत प्रबंध में शब्द-शक्तियों की इसी व्यवस्थित प्रक्रिया की चर्चा है।

उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस निबंध के दो भाग किए गए हैं—

पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध मे व्यंजना के सिद्धांत पक्ष तथा उत्तरार्द्ध में प्रयोग पक्ष की यथाशक्ति चर्चा है हिंदी में 'व्यजना' के उक्त उभय-विध पक्षों पर साहित्य शास्त्र के क्षेत्र मे आचार्य शुक्ल, पं० रामदहिन मिश्र, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० नगेन्द्र एवं कन्हैयालाल पोद्दार आदि ने तथा भाषाविज्ञान के क्षेत्र में श्री कपिल देव द्विवेदी आदि ने कार्य अवश्य किया है, तथापि भारतीय शास्त्रों में 'व्यंजना' का जो विशाल कार्य निरूपण है, उसक एक कोना भी अभी प्रकट नहीं हो पाया है। शास्त्रों के कोने-कोने मे व्यंजना से संवद्ध जो विचारप्रस्तुत किए गए हैं (१) लेखक ने उन्हें यथाशिक्त संक्षेप में संकलित करने का प्रयत्न किया है। इस संकलन में जहां तक मौलिकता की वात है विभिन्न मतों के संग्रह के वाद (२) उनकी तारतमिक समीक्षा (३) तथा अन्यतम की संग्राह्यता पर भी क्षोद-क्षेम पूर्वक विचार किया गया है। शाब्दी' व्यजना पर काल-क्रम से जो धारा-प्रवाह विचार आजतक होता आया है, उसका उपस्थापन, समीक्षण एवं मौलिक समर्थन भी जोड़ा गया है। साहित्यशास्त्रमें व्यजना का विचार जिस अभिनिवेश के साथ 'निषेध मुखेन' किया गया, उतना विधिमुखेन नहीं। शायद इसका कारण उसकी अनिर्वचनीयता रही हो। अनिर्वचनीय का निरूपण नेति-नेति के ही द्वारा हो सकता है। लेखन ने निषेध मुखी विचार के साथ विधि-मुखी विचारों को भी इधर-उधर टटोला है और जो कुछ प्राप्त हुआ उसके आधार पर कुछ नवीन विचार भी प्रस्तुत किए।

सिद्धांत पक्ष में पौरस्त्य साहित्य शास्त्र के अतिरिक्त पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में भी जो व्यजना के समानांतर या संवद्ध विचार मिल सके 'हैं' या हो सकते हैं, उन्हें भी पूर्वतः नवीन ढंग पर समीक्षणपूर्वक निवद्ध किया गया है। डा० नगेन्द्र ने यद्यपि इस पक्ष पर कुछ विचार प्रस्तुत किए हैं, पर प्रस्तुत प्रयास उनसे भिन्न पद्धति पर अधिक व्यापकता, विस्तार एवं गहराई को ध्यान मे रखकर किया गया है। यत्र-यत्र प्रसंग वश बिम्बार्थ विचार, भावना-कल्पना-प्रतिभा तथा व्यंजना की एकता और अनेकता पर भी कुछ मौलिक चिंतन उपस्थित किए गए हैं।

निवंध का उत्तरार्द्ध है—प्रयोग पक्ष। इस प्रकरण में नवीन कविता के कुछ प्रतिष्टित कवियों की गिनी-चुनी रचनाओं में उक्त सैद्धांतिक

प्रक्रिया का संगमन किया गया है। 'व्यंजना' अपनी प्राचीन पद्धति तथा नवीन पद्धति से किस प्रकार बढ़ती जा रही है—इसका दिग्दर्शन कराया गया है। उदाहरणों के प्रसंग में कहीं-कहीं अन्यदीय उदाहरणों का खंडन भी किया गया है। जोर इस बात पर दिया गया है कि 'व्यंजना' आज किस प्रकार अपने पुराने ढांचे को न छोड़ती हुई नवीन व्यंजना प्रयोगों तथा 'वादों' के माध्यम से उत्तरोत्तर अपनी कुक्षि विस्तृत करती चली जा रही है। यद्यपि इस पक्ष का और भी विस्तार-पूर्वक विवरण उपस्थित करना अभीप्सित था, तथापि प्रबंध-कलेवर के वृद्धि-भय ने वैसा करने से हमें रोक दिया।

प्रस्तुत प्रबंध गुरुवर्य आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में सम्पन्न हो पाया है। दुरत कातार जैसे संस्कृत वाङ्मय की जटिल भाषा मे निबद्ध जटिल विचार कभी भी इतना सुलझ कर न आ पाते, यदि आचार्य जी ने प्रस्तुत प्रबंध को पुनः पुनः सुनकर, स्वयं देखकर एवं संशोधन तथा समीक्षण कर मुझे बार बार भाषा और विचार को समुचित सतुलन तथा सहज गति देने की ओर प्रेरित न किया होता। प्रस्तुत शोधकार्य में सफल होना स्वप्न की ही बात होती, यदि प्राचीन ज्ञान को नई पद्धति से उतारने का ज्ञानालोक आपने विकीर्ण न किया होता। मान्यवर्य के इस असामान्य निर्देशन का चिरकृतज्ञ हूं

अब, श्रद्धेयवर्य कवितार्किक चक्रवर्ती पं० महादेव शास्त्री जी का मैं सादर स्मरण करता हू, जिन्होंने मेरे लिए संस्कृत वाङ्मय के द्वार का अनावरण किया, जिनके विचार-शाण पर सतत संघृष्ट होकर हमारी बुद्धि में वह आलोक उत्पन्न हो सका, जिसके फलस्वरूप मैं संस्कृत-रत्नाकर के बहुमूल्य रत्नों का साक्षात्कारपूर्वक उपयोग कर सका।

पश्चिमी साहित्य शास्त्र के मर्मज्ञ डा० रामअवध द्विवेदी की अतुलनीय सहायता स्मृति मे चिरकाल तक सुरक्षित रहने वाली वस्तु है। 'पश्चिमी साहित्य शास्त्र एव व्यंजना' शीर्षक प्रबंध गत वह अध्याय, जिसका सूत्रपात करना मेरे लिए कठिन था, आपकी ही सहायता से परिपूर्ण हो पाया। इस प्रकार की निःस्पृह सहायता और कृपा आज के युग मे आदर्श की वस्तु है।

श्रद्धेय प० विश्वनाथप्रसाद मिश्रजी की प्रस्तुत कृति मे अत्यत अपेक्षित पुस्तक, तर्कपूर्ण परामर्श एव सुझाव संबंधी सहायता सदैव स्मरणीय

रहेगी। मान्यवर्य डा० जगन्नाथप्रसाद् शर्मा का आवश्यक परामर्श प्रोत्साहन तथा पुस्तक संबंधी उपकार चेतन मस्तिष्क पर इस प्रकार सदैव छाए रहने की वस्तु है कि जीवन की विभिन्न चिंताओं के उमड़ जाने पर भी अचेतन मस्तिष्क मे वह नहीं फेंकी जा सकती। माननीय डा० श्रीकृष्णलाल जी ने ग्रीष्म कालीन विभिन्न व्यस्तताओं के बावजूद भी जो पाण्डु लिपि के सुनने एवं सुधारने में हस्तावलंब प्रदान किया है, वह एक श्लाघ्य वस्तु है। अंत में भाई रामनरेश वर्मा जी के प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने पाण्डुलिपि को प्रायः आद्योपांत देखकर कुछ ग्राह्य सत्परामर्श दिये हैं।

———

तृतीय परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद

पंचम परिच्छेद

षष्ठ परिच्छेद

लक्षणामूल व्यञ्जना—

सप्तम परिच्छेद

(ख) पाश्चात्य साहित्य शास्त्र एवं व्यञ्जना—

इसी तत्व पर ध्यान न देने का परिणाम है कि अन्य लोगों को प्रमेय तत्वों में एक अतिरिक्त पदार्थ (शक्ति) भी जोड़ना पड़ता है। जिस स्थल को लक्ष्य बनाकर मीमासक शक्ति की कल्पना में तत्पर होते हैं, उसी स्थल की व्याख्या ये दूसरे ढग से करते हैं इनका कहना यह है कि दाह के लिये अग्नि मात्र ही नहीं कारण है, बल्कि अग्नि के कार्य (दाह) में जो प्रतिबधक-मन्त्र या मणि इत्यादि हैं, उनका अभाव भी। अग्नि अपना कार्य करे, इसके पूर्व यह अपेक्षित है कि उसके पथ के रोड़े उठाये जायँ। अतः जहाँ इनका योग है, वहाँ शक्ति का नाश कार्य के न होने में कारण बताना उचित नहीं किंतु कारण-कलाप की अपूर्णता (प्रतिबंधकाभावरूप कारण का न होना) ही कारण है। इस प्रकार एक नवीन पदार्थ की अनावश्यक कल्पना के बिना भी जब सासारिक व्यवहारों की साधार प्रतिष्ठा हो जाती है तो निरर्थक ही एक अतिरिक्त पदार्थ की कल्पना कर शास्त्र को बृहद् आकार क्यों दिया जाय ? न्याय कुसुमाजलि में इस विषय की पर्याप्त चर्चा मिलती है।

सम्प्रति इस सबध में आलकारिकों का भी विचार देखना उचित है। यद्यपि इस विपय में इन लोगों ने स्पष्टत तो कहीं विचार नहीं किया है परतु रसगगाधर[1] में एक स्थान पर पडितराज की धारणा का इगित मिलता है। पतिराज आलकारिकों के एकमान्य प्रतिनिधि हैं उस इंगित से यह स्पष्ट होता है कि इन्हे शक्ति की कल्पना स्वीकृत है

(क) व्यवहार एव शास्त्र में शक्ति शब्द का प्रयोग नाना अर्थों में देखा जाता है। विश्वकोपकार[2] ने लिखा है कि "यह एक संस्कृत का शब्द

१—रसगगाधर में एक स्थान पर लिखा है—"एवमपीश्वरज्ञानादिना-विनिगमनाविरह. स्यात्, अतः प्रथममतमेव ज्यायः "इत्यपि वदन्ति"। यहाँ प्रथम मत को "ज्याय." अर्थात् श्रेष्ठ कहा गया है। प्रथम मत है—"सा च पदार्थान्तरामिति केचित्"—

शक्ति भी एक अतिरिक्त पदार्थ है। पडितराज ने इसे अपना मत तो नहीं कहा है, पर 'वदन्ति' इस बहुवचन क्रिया से मत के प्रति समादर का भाव स्पष्ट व्यक्त किया गया है। नागेश ने "केचित्" से वैयाकरणों को पकड़ा है, पर यह ठीक नहीं।

२—विश्वकोश

है, जो (शक + क्तिन्) "शक" धातु एवं क्तिन् प्रत्यय के योग से बना है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर इसका अर्थ किया गया है—सामर्थ्य, बल और ताकत।

(ख) जटाधर ने इसका दूसरा अर्थ किया है। कार्य जनन सामर्थ्य।

(ग) नागो जी भट्ट ने 'शक्तिरूपेण संस्थिता' की व्याख्या करते हुए कहा है—'शक्यते जेतुमनया सा शक्ति' अर्थात शक्ति वह धर्मविशेष है जिसके द्वारा शत्रु को पराजित किया जा सके। इस प्रकार स्त्री देवता (दुर्गा) के अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग है। इस दैवी शक्ति की विभिन्न स्थलों में बड़ी चर्चा है।

(घ) शक्ति शब्द का प्रयोग राजशक्तियों—प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति तथा उत्साह शक्ति—के लिए भी किया गया है।

(ङ) प्रधान या प्रकृति के अर्थ में भी शक्ति शब्द का प्रयोग है। 'भावप्रकाश' में कहा गया है कि यह त्रिगुणात्मिका शक्ति पुरुष का आश्रय लेकर जगत् का कारण बनती है।

(च) कुछ लोगों ने द्रव्य, गुण एवं क्रिया में रहने वाले धर्म विशेष को 'शक्ति' कहा है। प्रस्तुत प्रसंग में अपेक्षित एवं उपयुक्त अर्थ है—शब्दशक्ति। इसका स्वरूप है—'अर्थबोधानुकूल-पदपदार्थ[१]-संबंध-रूप वृत्ति विशेष।'

प्रयोग की प्राचीनता की दृष्टि से ऋक्-मंत्रों में ही शक्ति शब्द का उल्लेख मिलता है—'स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनच्छक्तिभि रोदसि प्राग्' इस प्रकार उपर्युक्त अंतिम अर्थ में प्रयुक्त 'शक्ति' से ही मेरा संबंध है। उक्त स्वरूप का विश्लेषण करें, तो यह कह सकते हैं कि शक्ति शब्द का एक व्यापार है जिसका फल है अर्थबोध। विचार करने पर इस व्यापार का स्वरूप पद से पदार्थ का संबंध रूप ही है। ध्यान रखना चाहिये कि यह स्वरूप किसी विशेष मत के ही अनुकूल पड़ता है।

यदि शक्ति एक प्रकार का संबंध है, तो उसकी स्थिति के लिए दो संबंधियों की अपेक्षा है, क्योंकि संबंध बिना दो के नहीं बन सकता। यहाँ संबंध रूप शक्ति के दो आश्रय हैं—शब्द एवं अर्थ। शब्द के स्वरूप एवं आश्रय के संबंध में दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद है। जहाँ तक स्वरूप की

१—"तस्मात्पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरमेव शक्तिः" —लघुमञ्जूषा

बात है, मुख्यत: तीन प्रकार के मत प्रतिष्ठित है (क) नैयायिक विद्वान् उसका स्वरूप अनित्य ध्वनि एव वर्ण बताते हैं। (ख) मीमांसक उसे नित्य वर्ण रूप मानते हैं और (ग) वैयाकरण उसका स्वरूप स्फोट बतलाते है।

नैयायिक एव शब्द—

नैयायिकों की दृष्टि से शब्द एक गुण है और वह अनित्य है—वह उत्पाद-विनाश-शील है। ये लोग उसके दो रूप बताते हैं— ध्वनि एव वर्ण। मृदग आदि से निकले हुए शब्द को ध्वनि तथा कण्ठ एव मुखगत विभिन्न स्थानों की टकराहट से वायु जो शब्द प्रकट करता है, उसे वर्ण कहते हैं। इस शब्द का आश्रय आकाश है। इन शब्दों के ग्रहण की प्रक्रिया के विषय में ये लोग दो न्यायों की चर्चा करते हैं—(क) बीची तरग न्याय एव (ख) कदम्ब गोलक न्याय (शब्द इसी न्याय से स्वय श्रोत्र देश में आते हैं और तब उनका साक्षात्कार होता है। 'बीची[1] तरग न्याय' का अभिप्राय यह है कि शब्द जिस देश में उत्पन्न होते हैं, वहाँ से उनकी वह वायुलहरी क्षुब्ध बीचि की भाति स्वय नष्ट होती हुई दूसरी को जन्म देती क्रमशः श्रोत्र देश को पहुँचती है और तब श्रोत्रेन्द्रिय उसका साक्षात्कार करती है पर कुछ लोगों की इस न्याय में आस्था नहीं है। उनका कहना यह है कि एक बीचि सुंक्षुब्ध होकर दूसरी तरग को उत्पन्न करती है, पर समतल पर ही उत्पन्न करती है, ऊपर अथवा नीचे की ओर नहीं, जबकि उच्चरित शब्द चारों ओर फैलता है। यही कारण है कि उसका श्रवण ऊपर, नीचे, अगल, बगल चारों ओर होता है। अतः 'बीची-तरगन्याय' का दृष्टान्त ठीक नहीं है। शब्दग्रहण प्रक्रिया के लिये कदब गोलक न्याय' का दृष्टांत ही उपयुक्त है। जिस प्रकार कदब पुष्प में पराग का प्रस्फुटन चतुर्दिक् होता है उसी प्रकार उच्चारित शब्द चतुर्दिक् ध्वनिलहरियों का प्रसव करता है।

जहाँ तक शब्द की अनित्यता का प्रश्न है ये लोग अनुभव को ही प्रमाण मानते हैं। इन लोगों का कहना है कि यह स्पष्ट ही अनुभवपथ में आता है

१—बीची तरग न्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता।
कदम्बगोलक न्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन्मते॥ १६६॥

मुक्तावली, शब्दखंड

कि अमुक[1] वर्ण उत्पन्न हुआ या अमुक वर्ण नष्ट हुआ। यह उत्पाद एवं विनाश अनित्य वस्तुओं का ही धर्म है, अत वर्ण अनित्य है। यद्यपि वर्णों की प्रत्यभिज्ञा उनकी एकता का ही समर्थन करती है और एकता नित्यता की, तथापि यह कोई नियम नहीं है कि प्रत्यभिज्ञा पहले से अनुभूत उसी एक ही वस्तु की होती है, वह सजातीय की भी होती है और यह सजातीयता एकता के बदले भिन्नता को भी आश्रय देती है, साथ ही नित्यता साधक एकता का विनाश हो जाने से अनित्यता ज्यों की त्यों स्थिर रह जाती है। यह सूत्र अपनी स्पष्टता के लिये उदाहरण चाहता है। 'प्रत्यभिज्ञा' हिंदी में 'पहचान' के अर्थ में ख्याल है। यह इस प्रकार का ज्ञान है जिसमें दो प्रकार के ज्ञानों का मिश्रण रहता है और वे दो हैं—प्रत्यक्ष एवं स्मृति। प्रत्यभिज्ञा उसी वस्तु की होती है जो पहले से अनुभूत होती है। जब इस अनुभूत अर्थ का पुन साक्षात्कार होता है, तब इस ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। इस प्रकार वर्णों की प्रत्यभिज्ञा का अर्थ यह हुआ कि किसी व्यक्ति ने जिस वर्ण को पहले से सुना है—श्रावण प्रत्यक्ष किया है, उसी व्यक्ति को उस वर्ण का संस्कार अंत -करण में बना रहता है और जब उसी व्यक्ति को उसी वर्ण का पुन श्रवण प्रत्यक्ष होता है, तो उसका पुराना सस्कार जगकर स्मृति तो करता ही है, उस स्मृति के साथ तात्कालिक प्रत्यक्ष भी मिल जाता है, और वह वर्ण तब इन दो प्रकार के ज्ञानों अर्थात् प्रत्यभिज्ञा का विषय कहा जाता है। इस स्थल में शब्द-नित्यतावादी का यह कहना है कि यदि पूर्वानुभूत कोई शब्द या वर्ण अनित्य हो तो वह तो पूर्वानुभवकाल में ही दो क्षण के बाद विनष्ट हो जायगा, फिर दो दिन या चार दिन के बाद जिस वर्ण का श्रवण होगा, वह वर्ण विनष्ट वर्ण से आकार और उच्चारण में एक होने पर भी निश्चयही वह भिन्न है और ऐसी स्थिति में जबकि प्रत्यक्ष का विषय भिन्न हो और स्मृति का भिन्न तो ऐसे अवसर का जो ज्ञान है, वह निश्चय ही प्रत्यभिज्ञानात्मक नहीं है, प्रत्यभिज्ञान के लिये यह आवश्यक है कि स्मृति एवं प्रत्यक्ष का विषय एक ही हो। अत' यदि वर्ण की प्रत्यभिज्ञा बनानी है, तो यह वर्णों को नित्य मानने पर ही सिद्ध हो सकता है। तभी कहा जा सकेगा कि जिस वर्ण को मैंने पहले सुना था, उसे ही आज भी सुन रहा हूँ। इस प्रश्न

१—उत्पन्नः को विनष्टः क इति बुद्धेरनित्यता।
सोऽयं क इति बुद्धिस्तु साजात्यमवलम्बते॥

मुक्तावली, १६७ वीं कारिका।

के समाधान में नैयायिकों का यह तर्क है कि जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञा का विषय एक ही अर्थ होता है, उसी प्रकार सजातीय या सदृश भिन्न भिन्न अर्थ भी। उदाहरणार्थ हम प्राय रोगियों के मुँह से सुनते हैं कि यह[1] वही दवा है जिसे वैद्य जी ने मुझे तब दी थी। इस कथन में 'यह' दवा का प्रत्यक्ष ज्ञान सिद्ध करता है और 'वही' स्मृति रूप ज्ञान। दोनों के मिलित रूप से 'दवा' की प्रत्यभिज्ञा सिद्ध होती है। यहाँ निश्चय ही वर्तमान काल में जिस दवा का ज्ञान हो रहा है, स्मृति काल में उतरने वाली दवा उससे भिन्न है, फिर भी 'वही दवा यह है' प्रयोग होता ही है। जिस प्रकार यहाँ प्रत्यभिज्ञा में भिन्न भिन्न किंतु सदृश दवाएँ हैं और वे अनित्य हैं वही स्थिति वर्णों की भी है। अत वर्णों की अनित्यता का पक्ष उचित ही है।

मीमांसक —

मीमासक शब्द को गुण नहीं, द्रव्य मानते हैं। ये शब्द को वर्णात्मा मानते हैं और वे वर्ण नित्य एवं विभु हैं। व्यापक होने के कारण सभी मूर्त द्रव्यों का सयोग संभव है और इसी सयोग आदि गुणों का आश्रय होने से वह द्रव्य है। द्रव्य कहते ही हैं उनको, जो गुणों का आश्रय हो। इस प्रकार शब्द के सबध में इन लोगों की धारणा नैयायिकों या वैशेपिकों से विलक्षण है।

ऊपर कहा जा चुका है कि ये लोग शब्द को नित्य मानते हैं इस सबंध में मीमासकों के कई तर्क हैं। प्रथम तर्क तो पूर्व चर्चित प्रत्यभिज्ञा सबधी ही है। द्वितीय तर्क उन लोगों का है–'लाघव'। वर्णों को अनित्य मानने से उन्हे अनत पडेगा, इससे गौरव होगा। तृतीय तर्क यह हे कि वर्णों की सत्ता आपामर अनुभूत है। प्रश्न यह है कि इसकी प्रतीत सत्ता का विनाशक कौन ? जिस प्रकार घड़े, कपड़े आदि द्रव्यों के विनाशक दड इत्यादि निमित्त कारणों की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार इसका यदि कोई विनाशक है, तो वह है कौन ? चूंकि उस विनाशक की उपलब्धि नहीं, अत. उसकी सत्ता भी नहीं और जब विनाशक की सत्ता ही नहीं तो एक बार प्रतीत वर्ण का विनाश हो ही कैसे सकेगा ? और जब विनाशक नहीं, तो वह नित्य है। इन लोगों की

१—तदेवौषधमित्यादौ सजातीयेऽपि दर्शनात्।
तस्मादनित्या एवैते वर्णाः सर्वे मत हिनः ॥ १६८ ॥

२—मुक्तावली गुणखड

यह धारणा है कि वर्ण यद्यपि नित्य है, तथापि उसका प्रकाशन उच्चरित ध्वनि के आधीन है। जब ध्वनि का उच्चारण होता है, तब वर्ण का प्रकाश हो जाता है और जब ध्वनि विनष्ट हो जाती है, तब उसका साक्षात्कार भी स्थगित हो जाता है। इन लोगों का यह भी कहना है कि व्यापक[1] एवं नित्य वर्णों के प्रत्यक्ष में स्तिमित वायु प्रतिबंधक है, पर जब मुख से वायु निकलती है, तो उसके धक्के से वह प्रतिबंधक विनष्ट हो जाता है और फिर प्रत्यक्ष होता है। इस रीति से नैयायिकों का अनित्यपक्ष में जो यह तर्क है कि 'बालक शब्द करता है' इस व्यवहार से यह सिद्ध होता है कि शब्द एक ऐसा तत्व है जो 'किया जाता है उत्पन्न किया जाता है और किया वह जाता है' जो अनित्य होता है—वह भी कट जाता है। क्योंकि मीमांसकों की दृष्टि से शब्द करने का तात्पर्य शब्द के प्रकाशन से है, कुछ उत्पादन से नहीं। अथवा व्यंजक ध्वनि की 'उत्पत्ति' का व्यंग्य वर्ण में औपचारिक प्रयोग है। नित्यपक्ष के अनुकूल इन लोगों का एक तर्क और भी है कि प्राय. लोग यही कहते हुए सुने जाते हैं कि 'मैंने[2] दस बार गौ शब्द का उच्चारण किया, दस गौ शब्द का उच्चारण किया, सो नहीं इस व्यवहार से यह स्पष्ट ही सिद्ध होता है कि गौ शब्द एक ही है, उसकी उच्चारण द्वारा अभिव्यक्ति दस बार हुई है।

शब्द के साक्षात्कार की प्रक्रिया के संबंध में इन लोगों का रास्ता दूसरा है। श्रोत्रेन्द्रिय प्राप्यकारी इन्द्रिय है। प्राप्यकारी इन्द्रिय का तात्पर्य यह है कि वह इन्द्रिय विषय देश में जाकर विषय से संबद्ध होकर उसका प्रकाश करे। उदाहरणार्थ जब चक्षु इन्द्रिय विषय से संबद्ध नहीं होती, तो वह उसका प्रकाश किसी प्रकार नहीं कर सकती। यह सिद्धांत वेदान्तियों एवं वैयाकरणों का है (इन लोगों के यहाँ श्रोत्रेन्द्रिय ही विषय देश को गमन करती है) पर मीमांसकों के यहाँ नैयायिकों की भांति श्रोत कहीं जाता नहीं और जाने का कोई कारण भी नहीं, क्योंकि शब्द तो व्यापक अर्थात् सर्वत्र है, अत

१—"मुखोद्भूत वायु संयोग विभागाः शब्दप्रत्यक्षप्रतिबंधकीभूत स्तिमितवायु दूरी कुर्वन्तीति ततः प्रत्यक्षम्"—'सनातन धर्मोद्धार' प्र० ख० पृ० १३२।

२—दशकृत्वः गो शब्दोच्चारे दशवारमुच्चारितो गो शब्दः इत्येव वदति, न च दश गो शब्दा उच्चारिता इति। अतोऽपि शब्द नित्यः वही, पृ० १३४

इनके मत में किसी के यहाँ किसी के जाने की आवश्यकता ही नहीं है। केवल दोनो के व्यवधायक तत्व के हट जाने से ही सारी प्रक्रिया बन जाती है।

वैयाकरणों के विचार—

वैयाकरण शब्द को स्फोटात्मा मानते हैं। यह 'स्फोट' इन लोगों के यहाँ शब्द ब्रह्म के रूप में कल्पित हैं। इसे नित्य और व्यापक कहा गया है। इस तत्व के उपपादन में इन लोगों का कहना है कि वाणी चार प्रकार की होती है—परा, पश्यती, मध्यमा और वैखरी। ये वागिन्द्रिय के चार रूप हैं। परा का परिचय होते हुए नागेश[1] जी ने कहा है कि इसका स्थान मूलाधार है। यह वाणी ब्रह्म रूप ही है, यह स्पद शून्य एवं विंदु रूप है। कहा गया है कि आत्मा बुद्धि में कुछ अर्थों के उपारूढ़ होने पर उसे व्यक्त करने की इच्छा से मन को प्रेरित करती है। मन उससे प्रेरणा पाकर कायाग्नि को उकसाता है और इस प्रकार उकसाई हुई कायाग्नि मारुत को सक्षुब्ध करती है और तब प्राणतत्व एव अग्नि तत्व दोनों के मेल से परावाणी संस्कृत होकर नाद को प्रकाशित करती है, यह नाद व्यापक स्फोट रूप शब्द में प्रतिबिम्बित होता है। यह प्रतिबिम्ब इतना सूक्ष्म होता है कि इसका योगियों को भी सविकल्पक ज्ञान नहीं हो पाता। नाभिदेश में वाणी का जो रूप स्थित है, उसे 'पश्यन्ती' कहते हैं। इस पश्यन्ती द्वारा व्यक्तनाद के प्रतिबिम्ब को योगी लोग ही विशेष रूप में ग्रहण कर पाते हैं, साधारणजन फिर भी नहीं। हृदय देश में वाणी का जो रूप है, उसे मध्यमा[2] कहा जाता है। इस मध्यमा वाणी द्वारा नाद का जो प्रतिबिम्ब व्यापक स्फोट में पडता है, उसका मानस प्रत्यक्ष सासारिक मनुष्यों को भी होता है। यहीं जिस स्फोट का सखण्ड रूप में ग्रहण होता है, उसी में अर्थ दान की शक्ति है। इस 'स्फोट' शब्द का अर्थ ही है 'स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोट'—जिससे अर्थ स्फुटित होता है, उसे स्फोट कहते है। शब्द के इस व्यग्यात्मा स्फोट रूप का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय से नहीं होता,

---

१—आत्माबुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥ ६ पाणिनीयाशिक्षा ॥

२—परावाङ् मूल चक्रस्था पश्यन्ती नाभि सस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कठदेशगा ॥
वैखर्या हि कृतो नादः पर श्रवण गोचर.।
मध्यमया हि कृतो नादः स्फोटव्यञ्जक उच्यते। परमलघुमञ्जूषा।

बल्कि यह शब्द का वह रूप है, जिसे उपांशुजप में मानवीय बुद्धि ग्रहण करती है। कंठदेश में रहने वाली या वागिन्द्रिय का नाम वैखरी है। मूलाधार से आता हुआ पवन जैसे वाणी के अन्य रूपों का संस्कार करता है, वैसे ही वैखरी का भी संस्कार करता है। वाणी के इस रूप से जो नाद व्यक्त होता है, वह श्रोत्रेन्द्रिय का गोचर होता है।

उक्त स्फोट रूप शब्द को भर्तृहरि ने भी ब्रह्म रूप कहा है। अर्थजात उसी के विवर्त[1] हैं, वे शब्द के ही अधीन हैं। यह स्फोट रूप शब्द ब्रह्म यद्यपि नित्य, एकरस तथा अखंड है तथापि जिस तरह जपाकुसुम की अरुणिमा के प्रतिबिम्ब से शुद्ध स्वच्छ स्फटिक भी अरुण जान पड़ता है, उसी प्रकार वर्ण, पद या वाक्यात्मक ध्वनि के प्रतिबिम्ब से अखंड स्फोट भी उन रूपों का ही जान पड़ता है। स्फोट रूप शब्द में जो कत्व, खत्व, गत्व आदि भिन्न-भिन्न एवं खंडात्मक धर्मों की प्रतीति होती है, ये धर्म वस्तुतः स्फोट के नहीं हैं, किन्तु स्फोट में प्रतिबिम्बित सखंड नाद के धर्म हैं। स्वयं तो वह एक और एकरस है। इस अखंड पक्ष को ही ध्यान में रखकर कहा गया है कि न तो पदों[2] में वर्णों का पृथक् उनसे स्वत्व है और न वाक्यों में पदों का ही पृथक् स्वत्व है। जिस प्रकार एक ही आकाश विभिन्न उपाधियों के भेद से घटाकाश, जलाकाश, मेघाकाश इत्यादि नामों से व्यवहृत होकर भिन्न भिन्न रूप में प्रतीत होता है, अथवा जिस प्रकार एक ही चैतन्य अंतःकरण रूप उपाधि से नाना जीवों के रूप में लक्षित होता है, वही स्थिति ध्वनि रूप उपाधियों से स्फोट की भी होती है। यह विचार स्फोट के अखंड पक्ष से किया गया है। इसी प्रकार कुछ विचार व्यावहारिक दृष्टि से सखंड पक्ष का भी है।

जहा तक शब्द के ग्रहण का प्रसंग है, इन लोगों का विचार है कि श्रोत्र स्वयं शब्द (ध्वनि) देश अर्थात् जहा शब्द उत्पन्न होते हैं, वहा जाता है और तब उनका ग्रहण होता है। यदि श्रोत्र शब्द देश में न जाते होते, तो यह ज्ञान न हो पाता कि शब्द अमुक देश या स्थान में उत्पन्न हुआ। पर श्रोता को स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह शब्द इस स्थान पर हो रहा है। ज्ञात देश

१—अनादि निधनं ब्रह्म शब्द तत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ वाक्य पदीय, मंगलाचरण

२ पदे न वर्णा विद्यन्ते वाक्येऽवयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥

निश्चय है कि चक्षुरिन्द्रिय से गृहीत नहीं है और श्रावण प्रत्यक्ष में अपेक्षित सामग्री से अतिरिक्त प्रमाण की सामग्री सन्निहित नहीं, अतः निश्चित है कि स्थान का ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय के ही गमन से हो सका है।

वेदान्त परिभाषा में वेदान्तियों का भी विचार है कि जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय विषय देश में जाकर उसका प्रकाश करती है, उसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय भी विषय देश में जाकर ही विषय तथा उस स्थान का ग्रहण करती है।

शब्द के आश्रय—

जिस प्रकार शक्ति के आधार शब्द के स्वरूप में दार्शनिक परस्पर विसवाद रखते हैं, उसी प्रकार स्वय शब्द के आश्रय में भी पर्याप्त मतभेद है। नैयायिक एव वैशेषिक शब्द का आश्रय आकाश को, वेदाती पाचों महाभूतों को, सांख्य अहकार को तथा (प्रपञ्चसार में) तान्त्रिकों ने शक्ति को माना है।

अर्थ का विचार—

इस प्रकार संवधात्मा शक्ति के एक सबधी का अर्थात् शब्द का विचार समाप्त होने पर उसके दूसरे सबंधी 'अर्थ' का विचार अवशिष्ट है, जो, सप्रति, विचारणीय है। अर्थ के विभिन्न दृष्टियों से भेद किए गए हैं। उनमें से एक विभाग है—(१) वास्तविक एव (२) काल्पनिक (माध्यमिक, योगाचार एव वेदान्तियों की दृष्टि से तो क्रमशः शून्य, विज्ञान एव ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त अर्थ काल्पनिक ही हैं। पर व्यवहार की दृष्टि से इस काल्पनिक के भी दो भेद हो जाते हैं—(।) व्यावहारिक एव प्रातीतिक। व्यावहारिक वे हैं, जो व्यवहार काल में भ्रम वश नहीं, प्रत्युत वस्तुतः सत्तावान है और प्रातीतिक उन्हें कहते हैं, जिनकी सत्ता इस ससार में प्रतीतिकाल मात्र ही में होती है। प्राय ऐसे पदार्थ भ्रम या किसी न किसी दोष वश उत्पन्न होते हैं और उन दोषों या भ्रम की निवृत्ति हो जाने से इन प्रातीतिक पदार्थों की भी निवृत्ति हो जाती है। वैयाकरणों ने एक 'बौद्ध-पदार्थ' की भी कल्पना की है। इन पदार्थों की सत्ता तो भ्रम वश भी वाह्य जगत् में नहीं है। वे केवल बुद्धि मात्र में ही स्थित रहते हैं, अत उन्हें 'बौद्ध' कहते भी हैं। उदाहरणार्थ— 'वध्या का पुत्र'। 'वध्या का पुत्र' न तो पारमार्थिक है, न व्यावहारिक और न प्रातीतिक की ही तरह जान पड़ते हैं। फिर भी वे शब्द अर्थवान् हैं (अर्थात् उनका कुछ अर्थ है)। यदि ये शब्द अर्थवान् न होते, तो व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से इनकी प्रातिपदिक संज्ञा ही नहीं हो पाती और प्रातिपदिक संज्ञा न

होने का अर्थ यह होता कि उनने रूप साधक विभक्तियों का योग ही न हो सकेगा, जिसके विना शब्द 'पद' बन ही नहीं सकेंगे और विना 'पद' बने वाक्य में उनका प्रयोग ही नहीं हो सकेगा। विपरीत इसके 'एप वंध्यासुतो याति'—यह वध्या पुत्र जाता है—में 'वंध्यासुत' शब्द को सार्थक माना गया है और उसे 'पद' रूप में लाने के सब प्रयास किए गए हैं। अतः निश्चित है कि इन शब्दों का भी कोई अर्थ है। ऐसे अर्थों को 'बौद्ध' अर्थ कहा गया है। पातञ्जल शास्त्र की दृष्टि से ऐसे शब्दो को विकल्पवृत्ति का विषय कहा गया है।

इस प्रकार संबंधियों (शब्द एव अर्थ) के स्वरूप का सांगोपांग विवेचन हो चुकने पर अब संबधात्मा शक्ति का विचार प्रस्तुत है। प्रश्न है इस विचार का प्रयोजन क्या? प्रयोजन का विचार करते हुए शब्द एवं अर्थ के संबंध में अधोलिखित तीन तथ्य सामने आते हैं।

(१) शब्द एव अर्थ दोनों परस्पर सबद्ध है।

(२) नियत शब्द से ही नियत अर्थ प्रतीत होते हैं, सब शब्दों से सब अर्थ मनचाहा नहीं निकला करते।

(३) इसी प्रकार यह भी देखने में आता है कि नियत व्यक्ति को ही नियत शब्द से नियत अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार यदि इन उक्त तथ्यों का विचार किया जाय, तो यह प्रश्न होता है कि शब्द से नित्य सबद्ध अर्थ की प्रतीति में जो नियत रूपता लक्षित की गई है, उसका कारण क्या है? यह कौन सा तत्व है, जो इस नियम का मूल है? विचार करने पर यह कारण 'पद का पदार्थ से सबध विशेष' ही जान पड़ता है। यह संबंध नियत शब्दों का नियत अर्थों से ही होता है, सभी पदों का सभी अर्थों से संबंध नहीं होता और यह नियत शब्द का नियत सबध जिस किसी नियत व्यक्ति को गृहीत होगा, वही व्यक्ति उसी शब्द से उसी अर्थ का ग्रहण कर पाता है। जो कोई खास व्यक्ति किसी भाषा के खास शब्द का किसी खास अर्थ से सबध-ग्रह कर चुका होगा, वही व्यक्ति नियत शब्द से नियत अर्थ का ज्ञान कर सकता है। यही पद का पदार्थ से सबध 'शक्ति' या 'वृत्ति' के नाम से अभिहित किया जाता है। इसी शक्ति का अर्थज्ञान में उपयोग है। इस शक्ति-ज्ञान के अभाव में लौकिक व्यावहार ही नहीं चल सकते, अतः इस शक्ति का सांगोपांग विवेचन आवश्यक है। अग्रिम अध्याय में इसी शब्द-शक्ति के स्वरूप एव प्रभेदों पर विचार किया जायगा।

———

द्वितीय परिच्छेद

शब्द शक्ति के प्रभेद एवं उनका परिचय और व्यंजना के निरूपण में इनका उपयोग

विचारकों ने अब तक शब्द शक्ति के कुल सात प्रभेदों की स्थापना की है और वे हैं—(१) अभिधा (२) लक्षणा (३) व्यंजना (४) तात्पर्य (५) रसना (६) भावना तथा (७) भोग।

अभिधा—

प्रमाणों में जो स्थिति प्रत्यक्ष की है, शक्तियों में वही अभिधा की। शब्द शक्ति के संबंध में विचार करने वाला कदाचित् ही कोई ऐसा विचारक हो, जिसने इसको अस्वीकार किया हो अथवा प्राथम्य न दिया हो। तात्पर्य यह कि अभिधा की स्थिति सभी लोगों ने मानी है। व्यक्ति-विवेककार महिमभट्ट ने तो शब्द की एक ही शक्ति मानी है और उसका नाम 'अभिधा' दिया है—"शब्दस्यैकाभिधा शक्तिः[१]"। इसी प्रकार प्राचीन वैयाकरण कौण्डभट्ट ने भी एक ही अभिधा शक्ति मानी है। यह दूसरी बात है कि उसके प्रसिद्ध (अभिधा) एवं अप्रसिद्ध (अभिधा) ये दो भेद हैं।

इस अभिधा के स्वरूप के संबंध में कई मत हैं। नैयायिकों की धारणा वैयाकरणों से पृथक् है और मीमांसकों की इन दोनों से भी पृथक्। नैयायिकों में भी दो मत हैं। एक का संबंध प्राचीन नैयायिकों से है और दूसरे का नवीन नैयायिकों से। प्राचीन एवं नवीन से आधुनिक एवं पुरातन अर्थ को न लेकर आपेक्षिक प्राचीनता और नवीनता समझनी चाहिए। नैयायिकों की भांति वैयाकरणों में भी प्राचीन एवं नव्य के नाम से दो दल हैं—इनके मत क्रमशः नीचे दिए जा रहे हैं।

(क) प्राचीन नैयायिकों का कहना है कि सृष्टिकाल में विभिन्न पदार्थों का निर्माण करने के बाद ईश्वर की इच्छा हुई कि "अमुक पद अमुक अर्थ

१—व्यक्ति विवेक, प्र० वि०, पृ० सं० १०८

का बोध हो।" ईश्वर की यही इच्छा शब्द की अभिधा शक्ति कही जाती है। ईश्वर की यही इच्छा परपरा से ससार में चलती चली आ रही है। इस परपरा के प्रवर्तक भी ईश्वर ही थे। ईश्वर की इस परम्परागत इच्छा का ही जिसे परिज्ञान है, उसे पद का ज्ञान होते ही अर्थस्मरण हो आता है।

यहीं यह प्रश्न होता है कि ईश्वर ने सृष्टि के आरंभ में ही निर्मित पदार्थों का उनके वाचक शब्दों से सबंध ग्रहण कराया होगा। ससार में तब से न जाने कितने पदार्थ बने, बनते जा रहे हैं और बनते जायगे। इन नूतन पदार्थों की सज्ञा से ईश्वर का कोई सरोकार नहीं जान पड़ता, इनकी सज्ञा का निर्धारण तो मनुष्यों की इच्छा से ही हुआ होगा। फिर इस मानवीय इच्छा को सकेत या अभिधा कहें या नहीं[1] प्राचीन नैयायिक इसे शक्ति मानने के पक्ष में नहीं हैं और न ऐसी नवाविष्कृत सज्ञाओं को 'सज्ञा' ही। वे इन्हें परिभाषा[2] या पारिभाषिक पद कहना चाहते हैं और इच्छा को एक मानवीय संकेत मात्र।

नव्य नैयायिक का विचार यह है कि शक्ति इच्छा सामान्य को मानना चाहिए, चाहे वह इच्छा ईश्वर की हो या मनुष्य की, वह नित्य हो या अनित्य। शर्त यह है कि वह इच्छा हो और उसका उक्त नियत रूप हो। मीमासकों से अतिरिक्त अनीश्वरवादी इस मत के अनुकूल ही होंगे।

(ख) दूसरे प्रकार के विचारकों के दल में वेदान्ती, मीमासक एवं आलकारिक आते हैं। ये लोग शक्ति के उपर्युक्त रूप में अरुचि रखते हैं। अरुचि का कारण बताते हुए इन लोगों ने कहा है कि जिस प्रकार ईश्वर की इच्छा ज्ञात होने से मनुष्य पद-ज्ञान से पदार्थ प्रतीति कर लेता है, उसी प्रकार 'अमुक शब्द से अमुक अर्थ जाना जाता है' यह ईश्वरीय ज्ञान अथवा 'इस शब्द से इस अर्थ के बोध का प्रयत्न करता है'—यह ईश्वरीय प्रयत्न भी ज्ञात होकर पद से पदार्थ की स्मृति करा सकता है। ऐसी स्थिति में उक्त ज्ञान या उक्त प्रयत्न को भी अभिधा क्यों न कहा जाय ? 'इच्छा' के पक्ष में

१—मु० श० ख० पृ० "सा चा स्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्यः इतीश्व-रेच्छारूपा।

२—शक्तिवाद, पृ० ५

तत्राधुनिकः सङ्केत. परिभाषा······ ··ईश्वरसङ्केतःशक्तिः।

कोई पुष्ट तर्क न होने से इन लोगों को तीनों तत्वों में से प्रत्येक को शक्ति मानना ही पड़ेगा। इस प्रकार नैयायिकों को शक्ति से तीन रूप मानने पड़ते हैं। मीमांसक आदि इस गौरव से बचने के लिए शक्ति को एक पृथक् पदार्थ ही मान लेते हैं। इस गौरव एवं लाघव का विचार वहीं किया जाता है, जहा प्रत्यक्ष की गम नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण से यदि कोई वस्तु अनेक सख्या में सिद्ध हो जाय तो उसे लाघवार्थ एक ही नहीं माना जा सकता। अस्तु। तो कह यह रहे थे कि शक्ति एक पृथक् पदार्थ है। मीमांसक शक्ति को किस प्रकार एक पृथक् पदार्थ मानते हैं, इसे प्रथम परिच्छेद में ही दिखाया जा चुका है[२]। सभी प्रकार के कारणों में कार्यों की उत्पत्ति में अनुकूल सामर्थ्य को शक्ति कहते हैं। इसी प्रकार विभिन्न अभिधेयार्थों की प्रतीति में अपेक्षित शब्द सामर्थ्य ही शक्ति है—वही अभिधा है। सारांश यह कि अभिधा एक स्वतत्र पदार्थ है, वह इच्छा, ज्ञान या यत्न रूप नहीं है।

(ग) तीसरा दल है वैयाकरणों का। इन लोगों में भी नैयायिकों की भांति प्राचीन एव नवीन ये दो दल हैं—ऐसा ऊपर निवेदन किया जा चुका है। भूषणकार कोण्ड आदि प्राचीन वैयाकरणों का मत यह है कि शक्ति के उपर्युक्त दोनों रूप ठीक नहीं हैं किन्तु विचार करने से ऐसा जान पड़ता है, कि जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों में अपने अपने विषयों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध, के प्रति अनादिकालीन बोधकता सिद्ध ही है। उसी प्रकार शब्दों की भी। शब्दों की यही अर्थ 'बोधकता' 'अभिधा' है।

नव्य वैयाकरणों में मजूषाकार नागेश भट्ट का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। इनका यह कहना है कि किसी शब्द में किसी अर्थ की 'बोधकता' तभी संभव है, जब उस शब्द का उस अर्थ से कोई संबंध निश्चय हो। तात्पर्य यह कि 'बोधकता' अपनी सिद्धि के लिए जिस 'सबंध' की कल्पना की अपेक्षा करती है, उसी 'संबध' को ही क्यों न 'अभिधा' मान लें। यह सबध वाच्यवाचक भाव सबध स्वरूप पड़ेगा। यही शक्ति का स्वरूप है। यह सबध अनादि एव सादि दोनों प्रकार का है।

१—'इन्द्रियाणा स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।
अनादिरयं शब्दाना सबधो योग्यता तथा ॥३६॥
वै० भूषण सार।

२—नागेश कृत लघुमजूषा,

नागेश भट्ट का यह भी विचार है कि अन्य लोग प्रायः 'शक्ति' 'संकेत' एव 'संबध' को प्राय पर्याय मानते हैं पर यह समझ भ्रान्त है। वस्तुत' शक्ति कहते हैं 'वाच्यवाचक भाव सबध' को। शब्द एव अर्थ के 'संबध' से वस्तुत शब्दार्थ का तादात्म्य या भेदाभेद संबध समझा जाना चाहिए। तुलसी दास जी ने भी शब्द एव अर्थ के संबध के विषय में कहा है—'कहियत भिन्न, न भिन्न।' 'सकेत' इन दोनों पारिभाषिक पदों से सर्वथा भिन्न है। 'सकेत' का तात्पर्य है वृद्धों का 'यह गो पद का वाच्य है' अथवा 'इसका वाचक गो पद है'—इत्यादि शब्द प्रयोग।

(घ) भूषण में एक 'कुब्जशक्तिवाद'[1] का भी उल्लेख है। कुछ लोगों का कहना है कि वाक्यार्थ अभिधेय है। हाँ, जिस प्रकार कुब्ज व्यक्ति अपने कुछ अवयवों से कार्य करता है और कुछ पगु अवयवों से कार्य करने में असमर्थ रहता है, ठीक उसी प्रकार वाक्य की अभिधानशक्ति पदार्थांश में ज्ञात होने के कारण कार्य करती है, पर वाक्यार्थ के अवशिष्ट अन्वयाश में वह पगु होने के कारण असमर्थ है। इस प्रकार समस्त वाक्यार्थ अभिधा का ही विषय है। पर शक्ति की इस कुब्जरूपता पर बहुतों को विश्वास नहीं है। उसका कारण है कुब्ज शक्तिवादियों की परस्पर विरोधी उक्ति या युक्ति। कुब्ज शक्तिवादी कहते हैं—'अन्वयाश में शक्ति अज्ञात रहकर उपयोगिनी होती है' स्पष्ट ही इस तर्क में वदतोव्याघात है। भला जो वस्तु अज्ञात है, वह उपयोगिनी क्यों कर हो सकेगी ? यद्यपि यह चर्चा शक्ति के स्वरूप पर प्रकाश नहीं डालती, पर एक विलक्षण वाद होने के कारण इसका उल्लेख कर दिया जाता है।

इस शक्ति के स्वरूप की भाँति इसके आश्रय के सबध में भी काफी मतभेद है। (क) नैयायिकों का विचार है कि श्रूयमाण सार्थक शब्द जो अनित्य कहे जाते हैं—वे ही शक्ति के आश्रय हैं। (ख) मीमासक नित्यवर्ण समुदाय रूप पद को ही शक्ति का आश्रय मानते हैं। (ग) जब कि वैयाकरण स्फोटात्मा शब्द को शक्ति का आश्रय मानते हैं।

नैयायिकों का यह भी विचार है कि शक्ति वस्तुतः सस्कृत के पदों में है,

---

[1]—यदि च पदशक्ति, पदार्थांशे ज्ञाताऽन्वयांशे वाऽज्ञातोपयुज्यते इति कुब्जशक्तिवादः—वैयाकरण भूषण सार।

अपभ्रंश शब्दों में नहीं । इसका कारण यह है कि एक ही संस्कृत शब्द के देशभेद से अनेकानेक अपभ्रंश शब्द हो सकते हैं, जैसा कि भगवान भाष्यकार ने कहा है कि 'एकस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोपोत्तालिका इत्येवमादयोऽपभ्रंशा.।' इस प्रकार यदि अपभ्रंश शब्दों में भी शक्ति मानी जाय, तो एक ही अर्थ को अनेकानेक शब्दों में अनेक शक्तियाँ माननी पड़ेंगी। प्रश्न यह है कि यदि अपभ्रंश शब्दों में शक्ति नहीं है तो इसका तात्पर्य यह कि वे शब्द अशक्त हैं और क्या अशक्त शब्दों से कभी अर्थ-बोध हुआ है ? नहीं । परंतु व्यवहार प्राय. अपभ्रंश शब्दों से ही चलता है. अत यदि उक्त युक्ति पूर्णतः स्वीकार कर ली जाय, तो मानना होगा कि वे शब्द अर्थबोध में अशक्त हैं और ऐसी स्थिति में व्यवहार का एक क्षण भी चल पाना दुष्कर है। पर व्यवहार इन्हीं शब्दों से निरंतर चलता है, यदि अर्थबोध न होता, तो यह कब संभव था ? इस प्रकार व्यवहार एवं शास्त्र की यह विसंगति एक समस्या है। प्रश्न इसके परिहार का है ।

नैयायिक इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं कि किसी शब्द से अर्थबोध के लिए यह आवश्यक ही नहीं है कि वह उस अर्थ में शक्त हो ही, कभी कभी यह भी देखा जाता है कि भ्रांत पुरुष किसी अन्य अर्थ में अशक्त शब्द से भी वांछित अर्थ का बोध कर लेता है । हाँ यह अवश्य है कि अशक्त शब्द से जो अर्थ बोध होता है, वह प्रामाणिक नहीं होता, पर शब्द से अर्थबोध होता ही नहीं, यह बात माननीय नहीं है । बालक जिन शब्दों का उच्चारण करते हैं, वे टूटे फूटे अधूरे शब्द ही क्या अभिमत अर्थ के बोधन में शक्त होते हैं ? कदापि नहीं, फिर भी उनसे अर्थबोध होता ही है । इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अर्थबोध में पद चाहे अशक्त हों, पर शक्ति ज्ञान यदि है, तो अर्थ बोध में कोई अड़चन नहीं आ सकती। अर्थबोध की वेला में पद चाहे अशक्त हों, पर शक्ति ज्ञान अपेक्षित है । उस अशक्त पद को सुनकर जो शक्तिज्ञान कार्य करता है, वह प्रामाणिक न हो, पर उसी अपभ्रंश के श्रवण से स्मृत मूल संस्कृत पद में अपेक्षित अर्थ की जो शक्ति है और उस शक्ति का ज्ञान है, वह सर्वथा प्रामाणिक है। अर्थबोध अपभ्रंश एवं संस्कृत दोनों प्रकार के शब्दों से होता है। प्रामाणिकता, अप्रामाणिकता तथा साक्षात् और परंपरा की बात अलग है ।

इस पक्ष के विपरीत नागेश इत्यादि वैयाकरणों का विचार है कि जिस

नागेश भट्ट का यह भी विचार है कि अन्य लोग प्राय' 'शक्ति' 'सकेत' एव 'संबध' को प्राय पर्याय मानते हैं पर यह समझ भ्रान्त है। वस्तुत' शक्ति कहते हैं 'वाच्यवाचक भाव सबंध' को। शब्द एवं अर्थ के 'सबध' से वस्तुत शब्दार्थ का तादात्म्य या भेदाभेद सबध समझा जाना चाहिए। तुलसी दास जी ने भी शब्द एव अर्थ के सबध के विषय में कहा है—'कहियत भिन्न, न भिन्न।' 'सकेत' इन दोनों पारिभाषिक पदों से सर्वथा भिन्न है। 'सकेत' का तात्पर्य है वृद्धों का 'यह गौ पद का वाच्य है' अथवा 'इसका वाचक गौ पद है'—इत्यादि शब्द प्रयोग।

(घ) भूषण में एक 'कुब्जशक्तिवाद'[1] का भी उल्लेख है। कुछ लोगों का कहना है कि वाक्यार्थ अभिधेय है। हाँ, जिस प्रकार कुब्ज व्यक्ति अपने कुछ अवयवों से कार्य करता है और कुछ पगु अवयवों से कार्य करने में असमर्थ रहता है, ठीक उसी प्रकार वाक्य की अभिधानशक्ति पदार्थांश में ज्ञात होने के कारण कार्य करती है, पर वाक्यार्थ के अवशिष्ट अन्वयाश में वह पगु होने के कारण असमर्थ है। इस प्रकार समस्त वाक्यार्थ अभिधा का ही विषय है। पर शक्ति की इस कुब्जरूपता पर बहुतों को विश्वास नहीं है। उसका कारण है कुब्ज शक्तिवादियों की परस्पर विरोधी उक्ति या युक्ति। कुब्ज शक्तिवादी कहते हैं—'अन्वयाश में शक्ति अज्ञात रहकर उपयोगिनी होती है' स्पष्ट ही इस तर्क में वदतोव्याघात है। भला जो वस्तु अज्ञात है, वह उपयोगिनी क्यों कर हो सकेगी? यद्यपि यह चर्चा शक्ति के स्वरूप पर प्रकाश नहीं डालती, पर एक विलक्षण वाद होने के कारण इसका उल्लेख कर दिया जाता है।

इस शक्ति के स्वरूप की भाँति इसके आश्रय के सबध में भी काफी मतभेद है। (क) नैयायिकों का विचार है कि श्रूयमाण सार्थक शब्द जो अनित्य कहे जाते हैं—वे ही शक्ति के आश्रय हैं। (ख) मीमासक नित्यवर्ण समुदाय रूप पद को ही शक्ति का आश्रय मानते हैं। (ग) जब कि वैयाकरण स्फोटात्मा शब्द को शक्ति का आश्रय मानते हैं।

नैयायिकों का यह भी विचार है कि शक्ति वस्तुतः सस्कृत के पदों में है,

---

[1]—यदि च पदशक्तिः पदार्थांशे ज्ञाताऽन्वयांशे वाऽज्ञातोपयुज्यते इति कुब्जशक्तिवादः—वैयाकरण भूषण सार।

अपभ्रंश शब्दों में नहीं। इसका कारण यह है कि एक ही संस्कृत शब्द के देशभेद से अनेकानेक अपभ्रंश शब्द हो सकते हैं, जैसा कि भगवान भाष्यकार ने कहा है कि 'एकस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोपोत्तालिका इत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।' इस प्रकार यदि अपभ्रंश शब्दों में भी शक्ति मानी जाय, तो एक ही अर्थ को अनेकानेक शब्दों में अनेक शक्तियाँ माननी पड़ेंगी। प्रश्न यह है कि यदि अपभ्रंश शब्दों में शक्ति नहीं है तो इसका तात्पर्य यह कि वे शब्द अशक्त हैं और क्या अशक्त शब्दों से कभी अर्थ-बोध हुआ है ? नहीं। परंतु व्यवहार प्राय अपभ्रंश शब्दों से ही चलता है, अत. यदि उक्त युक्ति पूर्णतः स्वीकार कर ली जाय, तो मानना होगा कि वे शब्द अर्थबोध में अशक्त हैं और ऐसी स्थिति में व्यवहार का एक क्षण भी चल पाना दुष्कर है। पर व्यवहार उन्हीं शब्दों से निरंतर चलता है, यदि अर्थबोध न होता, तो यह कब संभव था ? इस प्रकार व्यवहार एवं शास्त्र की यह विसंगति एक समस्या है। प्रश्न इसके परिहार का है।

नैयायिक इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं कि किसी शब्द से अर्थबोध के लिए यह आवश्यक ही नहीं है कि वह उस अर्थ में शक्त हो ही, कभी कभी यह भी देखा जाता है कि भ्रांत पुरुष किसी अन्य अर्थ में अशक्त शब्द से भी वाछित अर्थ का बोध कर लेता है। हाँ यह अवश्य है कि अशक्त शब्द से जो अर्थ बोध होता है, वह प्रामाणिक नहीं होता, पर शब्द से अर्थ-बोध होता ही नहीं, यह बात माननीय नहीं है। बालक जिन शब्दों का उच्चारण करते हैं, वे टूटे फूटे अधूरे शब्द ही क्या अभिमत अर्थ के बोधन में शक्त होते है ? कदापि नहीं, फिर भी उनसे अर्थबोध होता ही है। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अर्थबोध में पद चाहे अशक्त हों, पर शक्ति ज्ञान यदि है, तो अर्थ बोध में कोई अड़चन नहीं आ सकती। अर्थबोध की वेला में पद चाहे अशक्त हों, पर शक्ति ज्ञान अपेक्षित है। उस अशक्त पद को सुनकर जो शक्तिज्ञान कार्य करता है, वह प्रामाणिक न हो, पर उसी अपभ्रंश के श्रवण से स्मृत मूल संस्कृत पद में अपेक्षित अर्थ की जो शक्ति है और उस शक्ति का ज्ञान है, वह सर्वथा प्रामाणिक है। अर्थबोध अपभ्रंश एवं संस्कृत दोनों प्रकार के शब्दों से होता है। प्रामाणिकता, अप्रामाणिकता तथा साधान् और परंपरा की बात अलग है।

इस पक्ष के विपरीत नागेश इत्यादि वैयाकरणों का विचार है कि जिस

२

प्रकार सस्कृत शब्दों में प्रामाणिक शक्ति होती है उसी प्रकार[1] अपभ्रंश शब्दों में भी अभिमत अर्थ की प्रामाणिक शक्ति रहती है, भ्रामक नहीं। जहाँ तक अर्थबोध का प्रश्न है समान रूप से संस्कृत एव अपभ्र श शब्दों के शक्त रहते हुए भी यदि एक ही शक्ति को प्रामाणिक और दूसरी को अप्रामाणिक कहा जाय, तो इसमें कोई निर्णायक हेतु दिखाई पड़ता नहीं। अतः शक्ति दोनों प्रकार के शब्दों में रहती है और वह भी प्रामाणिक होती है। हाँ, अपने विश्वास के अनुसार इन भारतीय दार्शनिकों ने, दोनों प्रकार के शब्दों में अतर यह माना है कि सस्कृत[2] के साधुशब्दों के उच्चारण से धर्म उत्पन्न होता है, पर अपभ्रश शब्दों के उच्चारण से अधर्म होता है। इन साधु शब्दों का ही प्रयोग यज्ञ याग आदि में होना चाहिए, असाधु शब्दों का नहीं। यज्ञ के प्रसग में शास्त्रकारों ने जो यह कहा है—'नानृतं वदेत्'—अर्थात् झूठ नहीं बोलना चाहिए, सो यहाँ झूठ से तात्पर्य असाधु शब्दों का ही है।

सम्प्रति, यह देखना चाहिए कि भिन्न भिन्न शास्त्रकारों के मत से अभिधा की स्थिति क्या है ? तार्किक आलकारिक महिमभट्ट ने शब्द की शक्ति एक मात्र अभिधा को ही माना है। साथ ही उनका कहना यह भी है, कि प्रत्येक शब्द का एक ही अर्थ होता है। भाषा वैज्ञानिकों का भी यही मत है प्रत्येक शब्द एकार्थक ही हैं। जो शब्द नानार्थक जान पड़ते हैं, वस्तुत वे भिन्न भिन्न स्रोतों से आए हुए एक आकार के विभिन्नार्थक शब्द होते हैं, वे दोनों शब्द एक ही भाषा में जब आ जाते हैं, तो उन दोनों शब्दों को एक ही मान लिया जाता है और उन्हें अनेकार्थक कह दिया जाता है। महिम भट्ट का तर्क दूसरा है। उनका कहना है कि जहाँ एक शब्द से एक अर्थ के अतिरिक्त और अर्थ भी होते हों, वहाँ यह समझना चाहिए कि उन अन्य अर्थ या अर्थों की प्रत्यायक सामग्री उस शब्द के अतिरिक्त कुछ और है। यों तो सामग्री की अपेक्षा उस एक अभिधेयार्थ के लिये भी है अन्यथा क्या कारण है कि गंगा में घर है—ऐसे औपचारिक वाक्यों में गगा शब्द भी अपने एक मात्र एक अभिधेय अर्थ को समर्पित नहीं कर पाता ? निश्चय है कि वहाँ

१—सा च शक्तिः साधुष्विवाऽपभ्र शेष्वपि शक्तिग्राहकशिरोमणेर्व्यवहारस्य च तुल्यत्वात्—लघुमञ्जूषा।

२—वाचकत्वाऽविशेषेऽपि नियमः पापपुण्ययोः—लघुमञ्जूषा

अनुकूल सामग्री नहीं है। एक शब्द का एक ही अर्थ होता है—इस पक्ष में कई तर्क हैं—(१) पहली बात तो यह है कि शब्द से अर्थ का तादात्म्य संबंध होता है और तादात्म्य दो में ही होता है, अतः एक शब्द से एक ही अर्थ का संबंध हो सकता है। दूसरा तर्क महाभाष्यकार का है—'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति'—अर्थात् शब्द एक बार उच्चारित होकर एक ही अर्थ प्रदान कर सकता है। तीसरा तर्क यह है—अर्थभेदेन शब्द भेद अर्थात् जितने अर्थ प्रतीत होते हैं, निश्चय है, कि वे विभिन्न विभिन्न शब्दों के हैं। अर्थ अर्थ का भेद होने से शब्द का भी भेद होता है। अतः जिन स्थलों पर नाना अर्थों की प्रतीति होती है, वहाँ प्रत्येक अर्थ की प्रतीति करानेवाले भिन्न भिन्न शब्द होते हैं। अन्य विचारक शब्द की जिन अतिरिक्त शक्तियों की चर्चा करते हैं, महिम उन सबका खण्डन करते हैं। इनका कहना यह है शब्द से साक्षात संबंध है अभिधेयार्थ का, शेष सभी प्रकार के अन्य अर्थ वाच्यार्थ से संबद्ध होकर ही प्रतीत होते हैं अर्थात् वाच्यार्थ उनका किसी न किसी निमित्त से ज्ञापन करता है और ज्ञापन में वाच्यार्थ साधन है। साधन से अमिक रूप में—नियत रूप में—प्रकाशित होने वाले अर्थ मात्र अनुमेय होते हैं। इस प्रकार इनके यहाँ शब्द प्रयोग के अनंतर जितने प्रकार के अर्थ प्रतीत होते हैं, वे सभी दो प्रकार के हैं—(क) वाच्य (ख) एवं अनुमेय[१]। शब्द का व्यापार एक मात्र अभिधेय अर्थ के प्रति ही है और वह है अभिधा।

प्राचीन वैयाकरण कौण्ड भी शब्द की 'बोधकता' रूप एक ही अभिधा शक्ति मानते हैं, वह प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध दो प्रकार की होती है। इनकी प्रसिद्ध शक्ति ही और लोगों की अभिधा है और अप्रसिद्ध लक्षणा।

आलंकारिकों एवं नव्य वैयाकरणों के अतिरिक्त प्रायः अन्य लोग शब्द की दो शक्तियाँ ही मानते हैं और वे हैं—अभिधा एवं लक्षणा।

इस अभिधा शक्ति के कहीं कहीं तीन और कहीं कहीं चार भेद किए गये हैं—योग, रूढि, योगरूढि एवं यौगिक रूढि। (क) योग शक्ति उन अभिधायक शब्दों में रहती है, जो प्रकृति एवं प्रत्यय के योग से बने होते हैं और उनमें से प्रत्येक की शक्ति प्राप्त अर्थ ही उक्त पद का अर्थ हो। उदाहरणार्थ-पाचक शब्द है। यह शब्द 'पच्' धातु एवं 'ण्वुल्' प्रत्यय के योग से बना है। यहाँ प्रकृत्यंश का अर्थ है—पाक और प्रत्ययांश का अर्थ है कर्ता

१—"अर्थोऽपि द्विविधः—वाच्योऽनुमेयश्च।"—व्यक्ति विवेक।

सब मिलाकर युक्त पद का अर्थ हुआ 'पाककर्ता'। यह अर्थ इस शब्द के प्रत्येक अवयव से निकला है। यद्यपि योगरूढ़ि शक्ति जिन शब्दों में रहती है, उनमें भी प्रकृति एवं प्रत्यय का स्पष्ट ही योग रहता है और अवयव शक्ति अर्थात् योग शक्ति का उपयोग यहाँ भी होता है, तथापि उक्त स्थल से यहाँ यह अतर होता है कि यौगिक पदों की योग शक्ति रूढ़ि शक्ति से नियन्त्रित होती है। यौगिक पदों की योग शक्ति अनियन्त्रित होकर फैलती है, योगरूढ़ शब्दों की योग शक्ति रूढ से प्राप्त अर्थ की सीमा में ही घूमती रहती है, उसको लांघने की शक्ति उसमें नहीं होती। उदाहरण है पकज शब्द। यहाँ पकज शब्द की निष्पत्ति पक + जनि + ड के योग से है। अवयव शक्तियों की सहायता से जो मिलित अर्थ आया, वह यों होगा—'पंक से उत्पत्ति प्राप्त करनेवाला'। उक्त रीति से यद्यपि पकज शब्द का अर्थ पक से उत्पन्न होनेवाले सभी पदार्थों के हो सकते हैं, तथापि जल से उत्पन्न होनेवाले सभी अर्थों में यह शब्द शक्त नहीं हैं, बल्कि इस शब्द की सामुदायिक या रूढ़ि शक्ति जितने अर्थ में है, उतनी ही दूर तक इसका संचरण होता है। रूढ़ि केवल 'कमल' रूप अर्थ में ही है। अत. अवयव शक्ति वहीं तक जायगी। जिन शब्दों में यौगिक रूढ़ि शक्ति होती है, वे भी प्रकृति एव प्रत्यय के ही योग से बनते हैं। फिर भी उक्त दोनों शक्तियों के कार्य से इस शक्ति का कार्य सर्वथा भिन्न है। भिन्नता इस माने में है कि यहाँ योग एव रूढ़ि दोनों शक्तियाँ पृथक् पृथक् कार्य करती हैं। यह स्थिति न तो यौगिक पदों में है और न रूढ़ पदों में ही। उदाहरणार्थ एक शब्द है—'उद्भिद्'। यहाँ उद्भिद् शब्द की रूढ़ि शक्ति उद्भिद नामक याग विशेष रूप अर्थ देती है (उद्भिदा यजेत्)। इस शब्द की योग शक्ति से जो अर्थ निकलता है, वह है वनस्पति (उत् ऊर्ध्वं भिनत्तीति उद्भिद्) जो पदार्थ जमीन फोड़कर बाहर निकले, वह उद्भिद् है। यहाँ रूढ़ि शक्ति से जो अर्थ निकलता है, उसका योगशक्ति के अर्थ से कोई संबध नहीं है। इन तीनों प्रकार के शब्दों को 'व्युत्पन्न' कहते हैं। इन शब्दों के अतिरिक्त कुछ शब्द ऐसे होते है, जो अव्युत्पन्न कहे जाते हैं, ऐसे ही शब्दों में सामुदायिक या रूढ़ि शक्ति होती है। उदाहरण के लिये डित्थ, कपित्थ आदि शब्द लिए जा सकते है, जहाँ प्रकृति एव प्रत्यय के योग का कुछ आभास ही नहीं मिलता। ये शब्द किसी व्यक्ति या पदार्थविशेष में रूढ़ हैं।

रूढ़ शब्दों के सबंध में शास्त्रकार एकमत नहीं हैं। आचार्य पाणिनि तो इस पक्ष में है कि प्रातिपदिक अव्युत्पन्न भी होते है—'उणादयोऽव्युत्पन्नानि

प्रातिपदिकानि[1]।' अर्थात् उणादि में जिन प्रातिपदिकों की चर्चा है, वे अव्युत्पन्न है, परन्तु निरुक्तकार यास्क ने सभी शब्दों को धातुज माना है, अर्थात् सभी शब्द यौगिक ही होते हैं। इनका कहना है कि 'सर्वे[2] शब्दा यौगिका.।' उणादि-सूत्रों के प्रणेता शाकटायन का मत है कि सभी शब्द यौगिक हैं। इसी प्रकार भाष्यकार ने भी कहा है—'अथवा यदृच्छा शब्दा अपियौगिका।' परंतु फिर भी कुछ शब्द ऐसे अवश्य जान पड़ते हैं, जिनके अवयवों का कुछ पता नहीं चलता। चार्वाकों ने इसी कारण वेद में प्रयुक्त जर्भरी, तुर्फरी जैसे न जाने कितने शब्दों को निरर्थक माना है, पर सायण ने इन सभी को धातुओं से निष्पन्न करने का प्रयत्न किया है। कुमारिल ने भी वैदिक शब्दों पर विचार करते हुए 'तामास' शब्द को पकड़ा है और उस पर विचार करते हुए उसे योगशक्ति से रहित माना है और उसे भिन्न स्रोत से आया हुआ माना है। आधुनिक भाषाविज्ञान के पंडितों ने तो भाषाओं के पारस्परिक लेन देन पर विचार करके ऐसी न जाने कितनी कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न किया है।

इस संबंध में दो विचार और शेष हैं—अभिधा का ग्रहण होता कैसे है? और उसके विषय कौन कौन से होते हैं। प्रथम के संबंध में एक कारिका है।

> शक्ति[3] ग्रह व्याकरणोपमान कोशाप्त वाक्याद्‌व्यवहारतश्च।
> वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धा' ॥

अर्थात् शक्ति ग्रह के आठ साधन हैं—व्याकरण, कोश, उपमान, आप्त वाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति और सिद्धपदों का सान्निध्य। इन सब साधनों में मूर्द्धन्य है—व्यवहार। बालक सबसे पहले लोक व्यवहार से यह सीखता है कि अमुक पद की अभिधा अमुक अर्थ में है। शास्त्रों में इस विषय का बहुत ही विचार किया गया है।

अत्यधिक संक्षेप रूप में प्रथम प्रश्न का विचार करने पर द्वितीय प्रश्न यह रह जाता है कि शब्द की अभिधा होती किन अर्थों में है? इस प्रश्न पर भी

१—परिभाषेन्दुशेखर, इन्दी परिभाषा।

२—निरुक्त—"सर्वं शब्द धातुजमाह।"

३—मुक्तावली

विचारकों में ऐकमत्य नहीं है। (क) वैयाकरणों का विचार है कि यद्यपि शक्तिग्रह प्रवर्तक और निवर्तक वाक्यों से ही होता है और प्रवृत्ति या निवृत्ति का सबध होता है व्यक्ति विशेप से, अतः व्यवहार द्वारा व्यक्ति में ही सकेत होना चाहिये, तथापि व्यक्ति में सकेत मानने से आनन्त्य एव व्यभिचार दोपों की प्रसक्ति हो जायगी, अत संकेत व्यक्ति में न मानकर उसकी उपाधियों[१] में मानना चाहिए। उपाधि भी दो प्रकार की होती हैं-स्वाभाविक एवं आरोपित। स्वाभाविक के भी दो भेद हैं—प्राणप्रद एवं विशेषाधानहेतु। प्रथम को जाति कहते हैं और द्वितीय के दो भेद हैं—सिद्ध और साध्य। सिद्ध को गुण एवं साध्य को क्रिया कहते हैं। आरोपित धर्म ही को सज्ञा कहते हैं। इस प्रकार उपाधि ४ प्रकार की हुई जाति, गुण, क्रिया एव यदृच्छा, अभिधा के ये ही चारो विषय हैं। ससार में पदार्थों के जो चार प्रकार लक्षित होते हैं, वे इसी प्रकार उपपन्न हो सकते हैं। अन्यथा यदि केवल व्यक्ति में शक्ति मानी जाय, तो सभी शब्द व्यक्तिवाचक ही हो जायँगे, और ऐसी स्थिति में 'डित्थ गौ शुक्ल एवं चल है।' इस वाक्य के सभी पदार्थ व्यक्ति वाचक होने से और प्रस्तुत प्रसग में व्यक्ति एक गौ के ही होने से चारों पदार्थ पर्यायवाची हो जायँगे, जो अनुभवसिद्ध नहीं हैं। अत. व्यक्ति में सकेत न मानकर उपाधि में ही शक्ति मानना उचित है। इसी को भाष्यकार ने कहा है—'चतुष्टयी शब्दाना प्रवृत्तिरति महाभाष्यकारा। आलकारिक वैयाकरणों के ही अनुयायी हैं।

नैयायिकों का कहना है कि केवल जाति में शक्ति मानने से व्यक्ति की प्रतीति शाब्द न होगी और केवल व्यक्ति में शक्ति मानने से आनत्य एव व्यभिचार होगा, अत 'विशिष्ट' (जातिविशिष्ट व्यक्ति) में ही शक्ति माननी चाहिए।

मीमासक उक्त चारों प्रकारो के पदार्थों को जातिवाचक ही कहते हैं, अतः वे केवल 'जाति' में ही अभिधा मानते हैं।

बौद्धों के यहाँ सत् (भावात्मक पदार्थ) मात्रक्षणिक होते हैं, अत असत्—अभाव-भेद में ही शक्तिमानते है। इसे वे 'अपोह' या 'अतद्व्यावृत्ति' के नाम से पुकारते हैं। किसी भी शब्द के प्रयोग से व्यक्ति जैसे क्षणिक

---

[१] काव्यप्रकाश, द्वि० उ०।

पदार्थ के अतिरिक्त जो सर्वत्र स्थिर पदार्थ प्रतीत होता है, वह है 'अन्य से भेद' अतद्व्यावृत्ति। अतः यही वह स्थिर अंश है, जो स्थायी रूप से अनुगत होने के कारण अभिधा का विषय बन सकता है।

इस प्रकार अत्यंत संक्षेप में अभिधा के विषय में प्रायः सभी अपेक्षणीय बातें कह दी गई हैं। यद्यपि यहां व्यंजना का विचार ही प्रस्तुत है तथापि अभिधा के इस चतुरस्र निरूपण का प्रयोजन यह है कि इसी की पीठिका पर सभी शक्तियों का विचार किया जा सकता है, अतः इसपर थोड़ा अधिक विचार करना अच्छा है।

लक्षणा —

व्यवहार द्वारा जिन साक्षात् संकेतित अर्थों का अभी अभी विचार हुआ है, वे ही शब्दों के मुख्य अर्थ कहे जाते हैं। प्रायः लोकव्यवहार ऐसे ही शब्दों से चलता है, जिनका लक्ष्य मुख्यार्थ द्वारा ही पूरा होता है। इस अर्थ के लिये शब्द का जो व्यापार है, वही अभिधा कहा जाता है। व्यवहार में कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि बड़े से बड़े सतर्क व्यक्ति भी कभी कभी इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग कर देते हैं, कि या तो उसका प्रयोग ही असंगत जान पड़ता है या संगति हो भी तो विशेष उपयोग नहीं जान पड़ता। और ध्यान से देखा जाय तो व्यवहार में कुछ ऐसे शब्द भी मिलेंगे, जो न जाने कब से मुख्यार्थ से हट चुके हैं और कुछ अन्य ही अर्थ में प्रयुक्त होने चले आ रहे हैं। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित तीन वाक्य हैं, जिनमें उक्त तीनों स्थितियाँ स्पष्ट हो जाएँगी।

(१) असंगत वाक्य—'अभाव की चपल बालिके'—अभाव की और बालिका ? कितनी असंगति है ? भला कहीं जड़ वो और जड़ भी अभाव, उसके और बालिका से क्या संबंध ?

(२) अनुपयोगी शब्द —'मैं कह रहा हूँ'—यहां जो क्रिया है, उसी से पता लग जाता है कि वक्ता उत्तम पुरुष में है, फिर उत्तमार्थ की प्रतीति कराने वाले 'मैं' पद की विशेष उपयोगिता क्या है ?

(३) परंपरागत मुख्यार्थ से बिछुड़े हुए शब्द—'बनारस शहर धार्मिक है' अब आप ही बतायें, बनारस शहर जैसे जड़ पदार्थ में धार्मिकता क्या कभी संभव है ? धार्मिकता एक वृत्ति है, जो अन्तःकरण में रहती है

और अंतःकरण क्या कहीं जड़ में सुना गया है ? इसी प्रकार एक दूसरा उदाहरण है 'यह कुशल है'। यहाँ 'कुशल' शब्द का मुख्यार्थ है 'कुश ग्रहण करने वाला'। आप सोचें, इस मुख्यार्थ की दृष्टि से कुशल शब्द का यहाँ क्या उपयोग है ? निश्चय ही यहाँ अपने मुख्यार्थ से हटकर 'चतुर' रूप अन्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यही हाल ऊपर के 'बनारस' का भी है। ऐसे वाक्यों में लोकरूढ़ि निरन्तर बनारस शब्द को बनारसवासियों के अर्थ में प्रयुक्त करती है।

ऐसे स्थलों में प्रश्न यह है कि ये असगत या अनुपयोगी शब्द मुख्यार्थ से विरत होकर भी कुछ करते हैं या विरत ही रहते हैं ? यदि यह मान लिया जाय कि वे कुछ अर्थ नहीं देते, तो इससे सतर्क प्रयोक्ता की सतर्कता जाती रहेगी और सिद्ध होगी उसकी उन्मत्तता। क्योंकि उन्मत्त व्यक्ति ही निरर्थक शब्दों का प्रयोग करता है। अप्रमत्त एव सतर्क व्यक्ति शब्द प्रयोग करे, और उसका कुछ अर्थ ही न हो, यह कभी सभव नहीं। दूसरी बात यह है कि श्रोता को स्वय वक्ता के ऐसे शब्द अनुपयोगी या असगत नहीं जान पड़ते, हैं ऐसे शब्दों के प्रयोग से उलटे और सतुष्ट एव चमत्कृत ही होते हैं। फिर आखिर रहस्य क्या है ? उक्त वाक्यों में 'अभाव की बालिके' 'में' 'बनारस' और 'कुशल' ऐसे ही शब्द हैं, जिनका उस प्रकरण में अपने वाच्यार्थ की दृष्टि से कोई उपयोग ही नहीं है, पर प्रयोग में ऐसे पद बराबर आते हैं और जहाँ आते हैं, वहाँ इन्हें असगत या अनुपयोगी न कहकर अत्यत उपादेय कहा जाता है। काव्य-जगत् के तो ऐसे ही पद सर्वस्व हैं। काव्य की ऐसे पदों पर बडी ममता होती है। पर यह सारा ममत्व उन शब्दों की उपादेयता पर ही निर्भर है। उपादेयता ऐसे शब्दों की तभी मानी जा सकती है, जब वे कुछ अर्थ देते हों, अर्थ तभी देंगे, जब उनमें उस अर्थ को देने की शक्ति होगी। उन शब्दों को उपादेय बनाने वाले ये अर्थ निश्चय ही वाच्यार्थ मे पृथक् होते हैं। क्योंकि वाच्यार्थ की दृष्टि से उनकी असगति या अनुपयोगिता तो पहले ही सिद्ध हो चुकी है।

इतने विचार से कोई भी यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि ऐसे शब्द भी उपादेय हैं और उपादेय हैं इसलिये सार्थक हैं। क्योंकि अर्थदान पर ही उनकी उपादेयता निर्भर है और यह अर्थ वाच्यार्थ से भिन्न कोई अमूल्य अर्थ है, साथ ही यह भी निश्चित है कि इस अर्थदान में वह शब्द शक्तिमान् है।

अस्तु । यह सब मान लेने पर भी प्रश्न यह उठता है कि ऐसे शब्दों से जो अर्थ निकलते हैं, उन अर्थों के वाचक शब्द जब उपस्थित हैं, तो उस वाचक शब्दों की अवहेलना क्यों की जाती है ? प्रयोक्ता मुख्य शब्द का प्रयोग न कर अमुख्य[1] शब्द का प्रयोग करते ही क्यों हैं ? क्या ईप्सित अर्थ के वाचक शब्द का परिज्ञान उसे नहीं है, कि अमुख्य शब्द द्वारा वांछित अर्थ का बोध कराता है ? निश्चय है कि मुख्य शब्द से परिचित रहकर भी प्रयोक्ता अमुख्य शब्द का प्रयोग करता है ? ऐसा करने में उसकी अवहेलना कारण नहीं है, कुछ न कुछ विशेष प्रयोजनवश वह ऐसा करता है । यह प्रयोजन मुख्य शब्द के प्रयोग द्वारा प्राप्त नहीं हो पाता । अथवा कभी कभी परंपरागत प्रयोग से बाध्य होकर भी उसे ऐसा करना पड़ता है । सारांश यह कि जिस प्रकार इस अमुख्यार्थ की प्राप्ति में वाच्यार्थ का अनुपयोगी या बाधित होना अपेक्षित है, इसी प्रकार रूढ़ि (परंपरा) या प्रयोजन भी ।

इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि यह अमुख्य अर्थ मनमाना अर्थात् वाच्यार्थ से बिल्कुल संबंध रखने वाला नहीं होता है, या वाच्यार्थ संबद्ध होता है । प्रथम पक्ष अव्यवस्था का जनक है, अतः द्वितीय पक्ष ही युक्तियुक्त जान पड़ता है । आधुनिक कविता में मनमानी उड़ान होने से आज का पाठक काफी अव्यवस्था का अनुभव करता है । अतः व्यवस्था स्थापित करने के लिये यह अपेक्षित है कि यह अमुख्यार्थ कुछ नियमों से बद्ध हो । इस अवसर पर विद्वानों का विचार है कि अमुख्यार्थ से मुख्यार्थ का संबंध होना नितांत अपेक्षित है । यह संबंध भी चाहे जैसा हो, सो नहीं, बल्कि सहृदय समाज में वह स्वीकृत होना चाहिए । आचार्यों ने दो, चार संबंधों[2] का निर्देश किया भी है ।

ध्वनिविचार के नेतागण इस अमुख्यार्थ को लक्ष्यार्थ की संज्ञा देते हैं और इस अर्थ प्राप्ति में शब्द की जो शक्ति है, उसे लक्षणा और जिस शब्द में यह शक्ति होती है; उस शब्द को लक्षक शब्द कहते हैं ।

१—ननु च शब्दप्रयोगे किमित्यवाचकं पदं प्रयुज्यते ?

२—अभिधेयेन सम्बंधात्सादृश्यात्समवायत. ।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता ॥

—ध्वन्यालोक की लोचन टीका से ।

लक्षणा का स्वरूप और प्राचीन तथा नव्य आचार्य—

(क) लक्षणा के स्वरूप के सबंध में यों तो कई मत हैं, पर मोटे-तौर पर प्राचीनों एव नवीनों के दो प्रकार के विचार हैं। प्राचीन मीमासक लक्षणा को 'ज्ञान' स्वरूप मानते हैं और इसमें तीन बातों को कारण मानते हैं (१) मुख्यार्थ बाध (२) मुख्यार्थ सबध एव (३) रूढ़ि अथवा प्रयोजन। प्रकाशकार मम्मट इन्हीं प्राचीन मीमासकों के मत को मानते हैं और उन्हीं के अनुसार लक्षणा[1] के स्वरूप का परिचय देते हैं।

(ख) नव्य विचारकों ने लक्षणा को 'शक्य संबंध'[2] रूप बताया है। अर्थात् शक्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ जो सबध है, वही लक्षणा कही जा सकती है। प्रथम मत में यह सबध भी ज्ञानात्मा लक्षणा के निमित्तों में से ही एक माना गया है। इस मत में प्रथम मत के तीन निमित्तों में से दो को ही वाध एव सवध निमित्त माना गया है, अवशिष्ट एक को तो स्वय लक्षणा ही मान लिया गया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रसगगाधर' में इसी नव्य मत को ही स्वीकार किया है।

सच पूछा जाय, तो दूसरा अर्थात् नव्यों का मत ही ग्राह्य है। कारण यह है कि शक्ति का सामान्य रूप 'सबध' ही निश्चय किया गया है। वह 'सबध' सबधियों के भेद से भिन्न भिन्न होता जायगा ? उदाहरणार्थ, जब अभिधा रूप 'सबध विशेष के सबधी हैं—शब्द एव अर्थ, तब लक्षणा रूप 'सबध विशेष' के सबधी होंगे—वाच्यार्थ एव लक्ष्यार्थ। यहाँ लक्षणा, शक्यार्थ (या वाच्यार्थ) का लक्ष्यार्थ के साथ जो सबध है, वही है। उदाहरण के लिये 'गगा में घर है—यह एक वाक्य है और गगा पद का 'प्रवाह' मुख्यार्थ है तथा 'तीर' अमुख्यार्थ। यहाँ प्रवाह एव तीर का जो 'सामीप्य' सबध है, वही लक्षणा है। इस प्रकार परिनिष्ठित मत 'सबध' वाला ही है। इस उदाहरण में 'सबध' रूप लक्षणा का सबध शक्य या वाक्य अर्थ से है, अत वस्तुत' लक्षणा अर्थनिष्ठ ही है, शब्द से इसका सबध तो औपचारिक है।

ऊपर लक्षणा को शक्यार्थ का सबध कहा गया है। और शक्यार्थ पद की अभिधा से प्राप्त अर्थ है। सस्कृत साहित्य में पद शब्द का कई अर्थों में

१—अभिधेयाविनाभूत प्रतीतिर्लक्षणोच्यते।—का० प्रकाश में उद्धृत

२ - मुक्तावली—"लक्षणाशक्यसम्बन्ध"।

प्रयोग किया गया है। व्याकरण शास्त्र के मनीषियों का विचार है कि पद वाक्य में प्रयोगार्ह शब्दों को ही कहना चाहिये। वाक्य में प्रयोगार्ह शब्द दो प्रकार के होते हैं—सुबन्त और तिङन्त। पाणिनीय का सूत्र ही है—'सुप्तिङन्तं[1] पदम्' अर्थात् 'सुबन्त' और तिङन्त ही पद हों। हिंदी की दृष्टि से इन्हें कारक एवं समापिका क्रिया कह सकते हैं। नैयायिकों की धारणा पद के संबंध में कुछ और ही है। उनकी दृष्टि से शब्द से पद बनाने में वैयाकरणों की भाँति विभक्ति के योग की अपेक्षा नहीं है। ये लोग किसी भी शब्द को पद कह सकते हैं। शर्त यह है कि वह शब्द किसी अर्थ में शक्त हो। मुक्तावलीकार ने कहा है—'शक्त[2] पदम्। 'उदाहरणार्थ वैयाकरणों के यहाँ पदनिर्माण में प्रकृति एवं प्रत्यय (सुप्) दोनों का योग अपेक्षित है अर्थात् दोनों को मिलाकर पदसंज्ञा प्रदान की जाती है। जबकि इनके यहाँ दोनों में से प्रत्येक को किसी न किसी अर्थ में शक्त होने के कारण पद कहा जाता है। इन्हीं पदों से प्राप्त शक्यार्थ का संबंध लक्षणा कहा जाता है।

(ग) मीमांसक पद के साथ साथ वाक्य की भी लक्षणा मानते हैं। पर वाक्यार्थ शक्यार्थ नहीं है, शक्यार्थ तो पद का अर्थ है, अतः उससे (वाक्यार्थ) लक्षणा होगी कैसे ? इसी आपत्ति से बचने के लिये मीमांसकों ने लक्षणा का स्वरूप कुछ और ही निश्चित किया है। वे 'बोध्यार्थ[3] सम्बन्ध' को लक्षणा कहते हैं। इस बोध्यार्थ के परिवेश में शक्यार्थ एवं वाक्यार्थ दोनों का समावेश हो सकता है। क्योंकि पदार्थ या वाक्यार्थ दोनों ही पद या वाक्य के बोध्य अर्थ हैं।

लक्षणा के स्वरूप निरूपण के अनन्तर अब उसके प्रभेदों पर आइये। यद्यपि इसके प्रभेदों पर भी शास्त्रकार एकमत नहीं हैं तथापि सर्व सम्मत एवं संक्षिप्त प्रभेद इस प्रकार है। पहले पहल इसके दो प्रभेद किये जाते हैं—निरूढा एवं प्रयोजनवती। प्रयोजनवती के भी दो प्रभेद किये जाते हैं। इस प्रभेद के मूल में संबंध की विभिन्नरूपता काम करती है अर्थात् जहाँ शक्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ में सादृश्य से अन्य संबंध होते हैं वहाँ शुद्धा लक्षणा

१—सिद्धान्त कौमुदी

२—सिद्धान्त मुक्तावली

३—मीमांसकैस्तु शक्य संबंधो न लक्षणा × × × किंतु बोध्य संबंध एव—मुक्तावली की प्रभा टीका

का प्रयोग होता है। शुद्धा के चार भेद होते हैं—उपादानलक्षणा, लक्षण-लक्षणा, सारोपालक्षणा और साध्यवसानालक्षणा। इस प्रकार सब मिलकर प्रकाशकार के मत से प्रयोजनवती के छः एवं निरूढ़ा को मिलाकर सात प्रभेद हो जाते हैं। इन प्रभेदों के स्वरूप एवं पारस्परिक पार्थक्य के निरूपण का विचार आगे यथास्थान किया जायगा।

तात्पर्यशक्ति—

लोकव्यवहार में आज्ञापरक वाक्यों का प्रयोक्ता (उत्तम वृद्ध या प्रयोजक वृद्ध) जब कभी प्रवर्तक ('आओ' आदि) या निवर्तक ('मत जाओ' आदि) वाक्यों का प्रयोग करता है तब उसे कार्यरूप में परिणत करने वाला व्यक्ति (मध्यमवृद्ध या प्रयोज्यवृद्ध) उक्त वाक्य के अर्थ का सपादन करता है। इस प्रकार के लोकव्यवहार का तटस्थ दर्शक एवं पद तथा पदार्थ के संबध की व्युत्पत्ति को चाहनेवाला बालक उस वाक्य को भी सुनता है और उसके अर्थ का भी प्रत्यक्ष करता है। बालक जब उस मध्यम वृद्ध की अभिज्ञता पर विश्वास कर लेता है तब वह यह सोचता है कि उस वाक्य का मध्यमवृद्ध के द्वारा किये गये अर्थ से कोई न कोई सबध अवश्य है। तभी तो वाक्य के उच्चारण के अनतर उस प्रकार के अर्थ का सपादन किया गया। इस प्रकार पहले पहल उसे सपूर्ण वाक्य का पूरे वाक्यार्थ से सबंध गृहीत होता है। पीछे वही बालक जब उस वाक्य में से किसी पद के हटाने से वाक्यार्थ में से भी किसी पदार्थ को हटा हुआ देखता है अथवा वाक्य में किसी नवागत पद के कारण वाक्यार्थ में भी किसी नवागत पदार्थ का दर्शन करता है तो पृथक् पृथक् पदों का भी उन उन पदार्थों से जो सबध है उसका भी ग्रहण करने लगता है। इसी संबंध को 'वाच्यवाचकभाव सबध' कहते हैं। यही अभिधा का स्वरूप है। इसी के ज्ञान से हम किसी पद के वाच्यार्थ तक पहुँच पाते है।

उक्त रीति से जो संकेतग्रह होता है उस वेला में पदार्थ जिस रूप से रहेंगे उसी रूप से और उतने ही में सकेत मानना पडेगा। इतना तो निश्चित ही है कि व्यक्ति विशेष ही सामने उपस्थित होगा और वाक्यार्थ के सदर्भ में होने के कारण स्वतत्र नहीं किंतु अन्वितरूप में अर्थात् अन्य पदार्थों से संबद्ध रूप में ही होगा। साराश यह है कि 'यही सबद्ध व्यक्ति' पद का सकेतित होगा अर्थात् इसी रूप में संकेतग्रह होगा। इस प्रकार मीमासकों का एक दल पद की शक्ति 'अन्वित पदार्थ में

मानता है और दूसरा दल इसका विरोध करता है। प्रथम का आग्रह यह है कि पदार्थ अन्वय के साथ संकेतित होते हैं अतः पद की अभिधा अपूर्व अन्वित पदार्थ ही में रहती है। जबकि दूसरे का विचार है कि अन्वयांश सदैव अपूर्व अर्थात् नवीन होता है और इसीलिये अस्थिर भी। अतः उसमें शक्ति स्वीकार करना उचित नहीं। दूसरी आपत्ति यह है कि अनन्तानन्त शक्तियाँ कल्पित करनी पड़ेंगी। अतः अन्वयरहित अर्थ ही संकेतित अर्थात् पदार्थ होगा। प्रथम मत वाले 'अन्वित' में अभिधा मानते हैं इसलिये उन्हें अन्विताभिधानवादी कहते हैं जब कि दूसरे मतवाले अन्वयरहित पदार्थ में ही अभिधा मानते हैं और अन्वयांश की प्रतीति बाद में आकांक्षा, योग्यता, संनिधि एवं तात्पर्य के बल से प्राप्त करते हैं। ये लोग अभिहित का अन्वय मानते हैं इसीलिये अभिहितान्वयवादी कहे जाते हैं।

अभिहितान्वयवादियों के यहाँ वाक्य से वाक्यार्थ बोध या शाब्द-बोध करने में एक प्रश्न पैदा होता है और वह यों है—वाक्यार्थ के दो टुकड़े होते हैं पदार्थ और अन्वय। वाक्य सुनने के अनन्तर वाक्यगत विभिन्न पदों से पदार्थमात्र की स्मृति तो अभिधावृत्ति से हो जायगी पर अन्वयांश के लिये कोई वृत्ति स्वीकार न करने से उसकी उपस्थिति नहीं हो सकती। और जिस किसी प्रकार से उसकी उपस्थिति हो भी जाय तो वाक्यार्थ बोध या शाब्द-बोध में उसका प्रवेश नहीं हो सकता। क्योंकि नियम यह है कि वाक्यार्थ में या शाब्दबोध में उतनी ही सामग्री का प्रवेश हो पाता है जितनी कि शब्द की शक्ति या वृत्ति से लाई गई[1] हो। अतः यदि अन्वयांश का शाब्दबोध में प्रवेश कराना है तो इसके लिये अवश्य किसी न किसी वृत्ति की कल्पना करनी ही पड़ेगी। शब्द व्यापार की अपेक्षा न रखने वाले पदार्थों को भी यदि वाक्यार्थ में प्रवेश की छूट दे दी जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि चाहे कोई भी अर्थ हो किसी भी तरह से आया हो नियत वाक्य की परिधि में घुस सकता है। इससे अव्यवस्था होगी। अतः अभिमत पदार्थों के निवेश और अनभिमत के अप्रवेश के लिये किसी न किसी वृत्ति को मानना आवश्यक है। अभिहितान्वयवादियों ने अन्वयांश की प्राप्ति के लिये 'तात्पर्य' नाम की वृत्ति मानी है। साहित्यदर्पणकार ने इस बात को स्पष्ट किया है—'तात्प-

---

१. [illegible]

पर एक समय वह आता है, जब अन्तःकरण में रजोगुण एव तमोगुण को दवाकर सत्वगुण प्रबल हो जाता है और इसके उद्रेक (प्रावल्य) का फल यह होता है कि मन के सारे विक्षेप शात हो जाते हैं तथा चित्तवृत्ति आनद-मयी हो जाती है। ज्ञानस्वरूप चित्तवृत्ति आनद के साथ साथ विभाव आदि सामग्री को भी विषय किये रहती है। इस प्रकार रसोपयोगी विषयों से संवलित आनदमयी सवित्ति ही भोग का तत्त्व है।

आलंकारिक उपर्युक्त छ शब्द शक्तियों से अतिरिक्त एक व्यजना नाम की शक्ति भी मानते हैं। ये लोग उक्त कुछ शक्तियों से व्यजना' को सर्वथा पृथक् मानते हैं और इनमें से कुछ को व्यजना के स्वरूप से पृथक् नहीं मानते। इसकी विशेष चर्चा अगले अध्याय में की जायगी।

— —

तृतीय परिच्छेद

व्यंजनाशक्ति का सामान्य स्वरूप

व्यजना शक्ति का सामान्यत. अर्थ होता है प्रकाशनशक्ति[1] । यह प्रकाशनशक्ति प्रकाशक के अनुरूप भिन्न भिन्न होती है । दीप तो प्रकाशन करता ही है, किसी न किसी अर्थ का प्रकाशन करती है चेष्टा भी । इतना ही नहीं राग (संगीत के) भी विभिन्न रसों का प्रकाशन ही करते हैं । तमाम ज्योतिष्पिंड प्रकाशक ही तो हैं । प्रकाशक मात्र प्रकाशन कालमें प्रकाश्यवस्तु से सर्वथा पृथक् अपनी सत्ता रखते हैं । ऐसे प्रकाशक की दूसरी संज्ञा ज्ञापक भी है । कारण के जो दो वर्ग हैं, वे हैं ज्ञापक और कारक । ज्ञापक या प्रकाशक का कारक (जनक) कारण से यही अंतर है कि कारक या जनक (मिट्टी आदि) कारण जव किसी पदार्थ (घड़े आदि) को प्रकट करते हैं, तो उस समय वे कारक-कारण कार्य से अपनी सत्ता पृथक् नहीं रख पाते, वे कार्य के रूप में परिणत होकर वही हो जाते हैं, उनकी उपलब्धि कार्य से पृथक् होकर नहीं होती । प्रकाशक कारणों में यह वात नहीं है, वे जिस पदार्थ को प्रकट करते हैं, उनसे पृथक् अपनी सत्ता रखते हैं । इस प्रकार कारक कारणों से भिन्न इन प्रकाशकों का व्यापार ही व्यंजनव्यापार या प्रकाशन व्यापार है ।

यहाँ पर हमें जिस व्यंजन या प्रकाशनशक्ति का विचार करना है उसका संवंध शव्द से है अर्थात् उसकी चर्चा हमें एक शव्द-शक्ति के रूप में करनी है । प्रश्न है क्या शव्द भी प्रकाशक है ? उसके द्वारा भी कुछ अर्थ प्रकाश में आते हैं ? हाँ ! प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण जिस प्रकार किसी अर्थ का ज्ञान कराते हैं, वैसे ही शव्द भी । तमाम अन्य प्रमाणों में शव्द भी एक प्रमाण है और उससे भी अर्थों का प्रकाशन होता है । ध्यान रखने की वात है कि शव्द-प्रयोग के अनतर प्रतीत होने वाले सभी अर्थ शव्दप्रमाण के ही विषय नहीं होते । कुछ प्रमाण ऐसे भी हैं, जिनमें शव्द-प्रयोग होता है, शव्द की सहायता

१—The word व्यजन literally means "Making menifest" —रस मीमासा ।

ली जाती है और उसके अनतर अर्थ प्रतीत होते हैं, फिर भी वे शब्द प्रमाण से प्राप्त नहीं कहे जाते। शब्द प्रमाण से उपलब्ध अर्थ तो वही कहा जा सकता है, जिसमें किसी अन्य प्रमाण[1] की गम न हो। शब्द का अर्थ होने के लिए, केवल इतना ही आवश्यक नहीं है कि अन्य प्रमाण से न प्राप्त हो, बल्कि साथ ही यह भी अपेक्षित है कि वह अर्थ शब्द के ही किसी न किसी व्यापार से प्राप्त हो। ऐसा ही अर्थ शब्द का अर्थ है। फिर भी स्मरणीय है कि इन सभी अर्थों की दृष्टि से शब्द को हम उनका प्रकाशक नहीं कह सकते। और इसीलिये शब्द के प्रत्येक अर्थ में शब्द के व्यापार को प्रकाशनव्यापार नहीं कह सकते। समस्या यह खड़ी होती है कि किस अर्थ को लेकर उसके प्रति हम शब्द को प्रकाशक कहें और क्या कारण है कि अन्य अर्थों के प्रति हम शब्द को प्रकाशक न कहें ?

पहले यह देखा जाय, कि किस अर्थ को लेकर शब्द को प्रकाशक और उसके व्यापार को प्रकाशन व्यापार कहा जाय ? यह फिर बाद में विचार करेंगे कि क्यों उसी अर्थ के प्रति शब्द को हम प्रकाशक कहें ?

विचारकों ने यह तय किया है कि शब्दप्रयोग के अनतर शब्द की वृत्तियों से जो अर्थ मिलते हैं या मिल सकते हैं, वे दो प्रकार के होते हैं—(१) निर्बाध प्रतीत होने वाले एव (२) सबाध प्रतीत होने वाले। 'लक्षणा' के अवसर पर बताया गया है कि लक्षणा मुख्यार्थ के बाध होने पर ही अर्थदान के लिये प्रवृत्त होती है, अत. शब्द की लक्षणा शक्ति से प्राप्त होनेवाला अर्थ सबाध प्रतीत होनेवाला अर्थ है। निर्बाध प्रतीत होनेवाले अर्थों के कई प्रकार एव स्तर हैं। अथवा सक्षेप में यह कह सकते हैं कि लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त शब्द की वृत्तियों से मिलनेवाले सभी अर्थ निर्बाध प्रतीत होनेवाले हैं। अर्थात् लक्षणा वृत्ति के अतिरिक्त पूर्व परिच्छेद में चर्चित (व्यजना के अतिरिक्त) पाँच शब्दवृत्तिया तात्पर्य, अभिधा, भावना, भोग एवं रसना हैं। इनमें से प्रत्येक द्वारा प्राप्त अर्थ निर्बाध प्रतीत होनेवाला अर्थ है। इन पाँचों में से भी अभिधा एव तात्पर्य वृत्ति से प्राप्त होनेवाले वाच्यार्थ या अन्वयार्थ (तात्पर्यार्थ) को लेकर शब्द को प्रकाशक नहीं कहा जा सकता। व्यजनावादियों ने अवशिष्ट शक्तियों—भावना, भोग, एव रसना—से निर्बाध प्रतीत होनेवाले अर्थों को लेकर शब्द को प्रकाशक कहा है। इन्हीं वृत्तियों से प्राप्त होनेवाले

१—अनन्य लभ्यो हि शब्दार्थः

अर्थों के प्रति शब्द का जो व्यापार है, उसे प्रकाशन व्यापार कहा जाता है और यही व्यंजन व्यापार है। आगे अवसर आने पर यह सिद्ध किया जायगा, कि भावना, भोग एवं रसना व्यंजना ही हैं, व्यंजना के ही विभिन्न रूप हैं, उनकी व्यंजना के अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है पर व्यंजना इन तीनों से अतिरिक्त कार्य भी करती है। उसकी प्रसारभूमि और भी है केवल उन तीनों के कार्य तक ही सीमित नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट किया गया कि किन अर्थों की दृष्टि से शब्द को प्रकाशक एवं उसके व्यापार को प्रकाशन या व्यंजना कहा जाना चाहिए।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्यों इन्हीं तीन शक्तियों (भावना, भोग, रसना) से प्राप्त अर्थ को 'प्रकाश्य' या 'व्यंग्य' कहना चाहिए और अन्य शक्तियों से प्राप्त अर्थ को नहीं? वस्तुत यह बात सकारण है। उक्त तीनों शक्तियों [भावना, भोग, रसना] तथा व्यंजन के द्वारा अतिरिक्त रूप से प्रकाश में आने वाले अर्थ शब्द के अपने अर्थ (वाच्यार्थ) नहीं होते, बल्कि वे अर्थान्तर होते हैं अर्थात् दूसरे शब्दों के वाच्यार्थ होते हैं अथवा सर्वथा वाच्यार्थ होते ही नहीं। इन स्थलों में शब्द का अर्थांतर की प्रतीति कराने में जो व्यापार है, उसे प्रकाशन ही कहना युक्तियुक्त है।

इस विश्लेषण के आधार पर 'व्यंजना' का स्वरूप स्थिर करना चाहें, उसकी परिभाषा बताना चाहें तो यों कह सकते हैं—

'प्रमाणांतर से अप्राप्त, किंतु शब्दप्रमाण से प्राप्त उस अर्थ के प्रति किया गया व्यापार व्यंजना है जो शब्द की अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य वृत्ति से उपलब्ध न हुआ हो।'

उक्त विश्लेषण के अतिरिक्त इस परिभाषा को समझने में इसकी सोदाहरण व्याख्या की आवश्यकता है। पहले एक उदाहरण देकर वहाँ किसी परिनिष्ठित व्यंग्यार्थ को स्थिर कर लें, फिर उसमें परिभाषागत सारी शर्तों को घटायें तो अच्छा होगा।

किसी मजदूर का वाक्य है—'बाबू जी। अब तो शाम हो गई'। विचार किया जाय कि मजदूर इन शब्दों को खर्च करके किस मनोगत भाव का प्रकाशन करना चाहता है? स्पष्ट है कि मजदूर का अभिप्रेत यहाँ समय बताना नहीं है, किंतु यह कि—'अब हमें छुट्टी होनी चाहिए।' यही अर्थ शब्द का प्रकाश्य है और इसी में शब्द का प्रकाशन व्यापार है।

उक्त परिभाषा के तीन अवयव हैं—(१) व्यंजना एक विशेष अर्थ की प्राप्ति में शब्द का व्यापार है (२) दूसरा यह कि वह अर्थ प्रमाणांतर से अप्राप्त हो। (३) तीसरा यह कि वह अर्थ शब्द की अभिधा लक्षणा, एवं तात्पर्यवृत्ति से न आया हो ।

जहाँ तक प्रथम अवयव की बात है, 'अब हमें छुट्टी होनी चाहिए' यह एक विशेष अर्थ है और इस अर्थ की प्राप्ति में शब्द का जो व्यापार है, वह व्यंजना है। दूसरी शर्त है कि वह अर्थ ऐसा हो, जो प्रमाणांतर से अप्राप्त हो। प्रमाणांतर से तात्पर्य है—शब्दप्रमाण से अतिरिक्त प्रमाण। 'शब्द प्रमाण से अतिरिक्त सब ७ प्रमाण हैं, जो किसी प्रकार के अर्थ की प्रमा (ज्ञान) में कारण (उपाय) हैं। वे सात हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, ऐतिह्य एवं संभव। उक्त व्यंगार्थ में सातों प्रमाणों में से किसी की गति नहीं है। उक्त व्यंग्यार्थ किसी ज्ञानेन्द्रिय से प्रतीत नहीं हुआ है, अतः प्रत्यक्ष की तो संभावना ही नहीं है। अनुमान प्रमाण का विषय यह अर्थ क्यों नहीं है ? इस प्रश्न का विस्तृत विचार 'आर्थी-व्यंजना' के निरूपण के अवसर पर किया जायगा। उपमान प्रमाण की सहायता वहाँ ली जाती है, जहाँ एक सदृश पदार्थ से दूसरे सदृश पदार्थ का ज्ञान कराना अभीष्ट हो जैसे.—'गौ' की उपमा से नीलगाय का स्वरूप पहचनवाना हो। यहाँ ऐसी कोई बात नहीं है। 'अर्थापत्ति' को तो वैशेषिक विद्वान् अनुमान के भीतर ही समेट लेते है, अत. उसकी चर्चा अनुमान के साथ ही लगी है। अनुपलब्धि वह प्रमाण है जो किसी पदार्थ के अभाव का ज्ञान कराता है। यहाँ जो व्यंग्यार्थ है, वह अभाव रूप नहीं है। 'ऐतिह्य' प्रमाण को शब्द प्रमाण के भीतर ही आचार्य लोग रख लेते हैं और 'संभव' को अनुमान में। सारांश यह कि उक्त व्यंग्यार्थ शब्द प्रमाण से ही लभ्य है, प्रमाणांतर से नहीं। तीसरी शर्त यह कि वह व्यंग्यार्थ शब्द की अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य शक्ति से लभ्य न हो। प्रयोक्ता के वाक्यों में जितने पद हैं उनकी अभिधा उक्त अभिप्रेत अर्थ में नहीं है, अतः इस उक्त वाक्यार्थ के कोई भी (पदार्थ रूप) अवयव अभिधा से लब्ध नहीं है। तात्पर्य वृत्ति वाच्य पदार्थों के अन्वयांश के लिये होती है, यहाँ के पदार्थ ही जब वाच्य नहीं, तो उनके संबंध की बात ही करनी निरर्थक है। इस प्रकार उक्त वाक्यार्थ के दोनों अवयव—पदार्थ एवं अन्वय में—न तो अभिधा ही कार्य करती है और न तात्पर्य ही। लक्षणा का प्रसंग यहाँ इसलिये नहीं उठ सकता है कि उसके उठने का कारण ही नहीं है। लक्षणा तब होती है,

जब वाक्य का वाच्यार्थ बाधित असंगत या अनुपयोगी होता है, यहाँ न तो वाक्यार्थ बाधित ही है, न असंगत और न अनुपयोगी ही।

इस प्रकार परिभाषा की तीनों शर्तें यहाँ ठीक उतर गई और एक ढंग से व्यंजना का स्वरूप स्थिर हो गया।

व्यंजना के स्वरूप के संबंध में शास्त्रकारों ने दो ढग से विचार किए हैं—(१) निषेधमुखीन तथा (२) विधिमुखीन। 'निषेधमुखीन' से तात्पर्य यह कि व्यंजना का अपना भावात्मक रूप क्या है ? यह न बताकर उसका परिचय 'नेति' 'नेति' के माध्यम से दिया जाय। अर्थात् व्यजना अभिधा नहीं, लक्षणा नहीं, तात्पर्य नही बल्कि इनसे भिन्न जो कुछ शब्दशक्ति है, वही व्यंजना है। उक्त परिभाषा इसी 'निषेधमुख' वाली पद्धति से ही व्यंजना के स्वरूप का परिचय देती है। वस्तुत' साहित्यशास्त्र के उच्चतम ग्रंथों में व्यजना के स्वरूपनिरूपण का प्रयास अधिकतर ही क्या, प्राय. पूर्णतः इसी पद्धति से किया गया है। 'विधिमुख' से कहीं विचार है भी तो वह इतना क्षीणकाय है कि निषेधमुखी पद्धति की बीहड़ झाड़ी में विचारा तिरोहित हो गया है।

विधिमुखी विचारकों में पडितराज जगन्नाथ, प्रसिद्ध वैयाकरण नागो जी भट्ट तथा कुछ अन्य मनीषी हैं।

(१) पडितराज का मत है कि व्यजना या व्यक्ति 'चित्' ही है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक रसगगाधर में रस निरूपण के अवसर पर एक जगह कहा है कि 'व्यक्तिश्च भग्नावरणाचित्''—अर्थात् भग्नावरण चित् ही व्यक्ति या व्यजना है। प्राचीन विचारकों ने भी व्यंजना को 'ज्ञानस्वरूप' ही स्वीकार किया है। उक्त चित् सर्वदा 'व्यक्ति' या व्यजना की स्थिति में नहीं है, बल्कि जब विभाव, अनुभाव एव सचारी के समिलित व्यापार के फलस्वरूप इन विषयों के प्रति आत्मा के चिदंश पर पड़ा हुआ आवरण भग हो जाता है, तभी वह उन विभावादिकों का प्रकाशक होने के कारण औपचारिक रूप से 'व्यक्ति' कहा जाता है।

परतु व्यजना या प्रकाशन का एक यही रूप नहीं है, हाँ व्यंजना के प्रकाशक भेद मे जितने भिन्न भिन्न रूप होते हैं, उनमें से एक यह भी है।

(२) दूसरा विचार नागेश जी का है। इन्होंने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक लघुमंजूषा में व्यजना के स्वरूप पर कुछ विचार किया है और बताया है कि

१—प्र० आ० पृ० २६, १९४७। रस गगाधर।

व्यंजना 'संस्कार' विशेष है और वस्तुत' वह व्यंजना तब है, जब ग्राहक व्यजक वाक्य के प्रयोक्ता एव प्रसंग आदि के विशेषताओं के ज्ञान मे तथा अपनी प्रतिभा के वल से उसे उद्बोधावस्था में या जागरावस्था में ले आता है। साराश यह कि वक्ता आदि के वैशिष्ट्य तथा ग्राहक की प्रतिभा के वल से जगाया हुआ सस्कार[१] ही व्यजना है।

यह मत वडा सुविचारित है। अनुभव भी कहता है कि ग्राहक व्यजक वाक्यों के श्रवण के अनतर वाच्यार्थ से सतुष्ट नहीं होता, अत' वक्ता, देश एवं काल आदि के सदर्भ में उस वाच्यार्थ से सवद्ध उसके अनेक संस्कार जगने लग जाते हैं—अनुसधान आरभ हो जाता है और उन्हीं से किसी अभिप्रेत अर्थ का जगा हुआ सस्कार व्यग्यार्थ का स्मरण कराकर वहाँ तक हमें पहुँचा देता है। मनुष्य के अतःकरण में विविध प्रकार के संस्कार पडे हुए हैं, वे अपने सबंधी के ज्ञान से उभड़ते चले जाते हैं। इस प्रकार के उभाड़ का वेग सब में नहीं होता, वल्कि जो प्रतिभाशील लोग होते हैं उन्हीं में होता है।

(३) कुछ लोगों का विचार है कि व्यंग्यार्थ शव्द का एक अर्थ है और शव्दों के जितने अर्थ होते हैं, वे सब शब्द की शक्ति द्वारा ही प्राप्त होते हैं। शक्ति चाहे कोई हो, उनका एक सामान्य रूप तो होना ही चाहिए फिर कुछ अन्य विशेषताओं के कारण वह शक्ति मात्र का सामान्य रूप अवातर प्रभेदों में विभक्त हो प्रथम अध्याय में शक्ति का सामान्य रूप 'सवध' (पद का पदार्थ से) ही बताया गया है और उसके अनुसार अभिधा तथा लक्षणा 'सबध' विशेष रूप ही निश्चित भी की गई हैं। इस रीति से 'व्यंजना' को भी 'सवध' रूप ही होना चाहिए। सवध रूप होने पर भी अभिधा और लक्षणा जैसे एक ही नहीं हैं, वल्कि सवधियों के भेद के कारण भिन्न भिन्न है, वैसे ही व्यजना भी सवधरूपा होती, फिर भी किसी भेदक के कारण भिन्न हो जाती तो एक मान्य विचारपद्धति होती।

(४) व्यजना के स्वरूप का परिचय देते हुए डा० नगेंद्र[२] ने कहा है— 'व्यंजना शब्द की वह शक्ति है, जो कल्पना (चित्र विधायिनी शक्ति) को

१—वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद् बुद्धसस्कारविशेषो व्यञ्जना'

—लघुमञ्जूषा।

२—ध्व० आ० [हिंदी] प्रथम सस्करण।

टकराए।' उन्होंने लिखा है कि 'अपनी कल्पनाशक्ति का नियोजन करके कवि भाषाशब्दों को एक ऐसा शक्ति प्रदान करता है कि उन्हें सुनकर सहृदय को केवल अर्थबोध ही नहीं होता, वरन् उसके मन में एक अतिरिक्त कल्पना भी जग जाती है जो परिणति की अवस्था में पहुँचकर रस संवेदन में विशेषतया सहायक होती है। शब्द की इस अतिरिक्त कल्पना जगाने वाली शक्ति को ही ध्वनिकार ने व्यंजना और रस के इस सबध रूप को ही 'रसध्वनि' कहा है।'

अब इन चारों मतों की युक्तियुक्तता पर विचार करना चाहिए। सबसे पहले हम अतिम मत को ही लेते हैं। यह मत काफी सुविचारित न होने के कारण ग्राह्य नहीं है। पहला दोष इस पक्ष में तो यही दिया जा सकता है कि व्यजना यदि एक शब्दशक्ति है (इसी रूप में डा० साहब विचार कर रहे हैं) तो उसका कार्य होगा—'अर्थ प्रकाशन' न कि 'कल्पना का जागरण।'

इस मत में व्यंजना को शब्द की एक शक्ति के रूप में निर्देश करते हुए भी उसका कार्य बताया गया है—कल्पना का जागरण। नगेन्द्र जी ने इस कल्पना शब्द का प्रयोग 'चित्रविधायिनी शक्ति' के रूप में किया है। इस मत की परीक्षा करने के लिये आवश्यक यह है कि हम पहले कल्पना का स्वरूप निश्चय कर लें। हिंदी साहित्य के क्षेत्र में 'कल्पना' शब्द कहाँ से आया ? इस प्रश्न में जो सभावनायें की जा सकती हैं, वे यही हैं कि वा तो यह (i) भारतीय सस्कृत साहित्य से आया होगा अथवा (ii) या स्वयं उद्भावित होगा या (iii) दूसरे साहित्य से अनूदित होकर आया होगा। जहाँ तक प्रथम सभावना है, वह ठीक नहीं। सस्कृत साहित्य के लक्षणग्रथों में 'काव्य-हेतु' के प्रसंग में कल्पना की चर्चा सर्वथा नहीं है। वहाँ तो शक्ति, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास की ही चर्चा है। कहीं कही 'समाधि' तथा 'प्रतिभा' की भी चर्चा है। हाँ, साहित्य शास्त्र के लक्षण ग्रथों के अतिरिक्त अन्य वेदातपरक शास्त्रों में 'कल्पित'—(कल्पना की गई) आदि शब्दों की चर्चा अवश्य आई है। यहाँ 'कल्पना' शब्द मिथ्याज्ञान या मिथ्यारचना के लिए अनेकश: प्रयुक्त हुआ है। अमरकोशकार[1] ने भी 'प्रबंध[2] कल्पना कथा' तथा 'कल्पना सज्जना समे'—इन दो स्थानों पर इसकी चर्चा की है। यहाँ पर 'रचना' के

१—अ० को० (नि० सा०) का पञ्च स०, पृ० २७९, का० ४२।
२—वही, पृ० ६५ श्लो० ६।

अर्थ में कल्पना शब्द का प्रयोग है। व्युत्पत्ति (Derivation) की दृष्टि से विचार करें, तो यह शब्द सामर्थ्यार्थक 'कृप' धातु से निष्पन्न हुआ है, अत इसका अर्थ हुआ—'सामर्थ्य'। श्री[1] हर्ष ने भी 'श्रद्धालुसंकल्पित कल्पनायाम्' में 'कल्पना' को 'सिद्धि' के अर्थ में प्रयुक्त किया है। 'हाथी को सजाने' के अर्थ में भी 'कल्पना' शब्द का प्रयोग है। अमरकोष के टीकाकार ने प्रसिद्ध टीका 'रामाश्रमी' में 'कल्पना' का अर्थ 'रचना' करते हुए उसका पर्याय 'स्तोकसत्या' (कम सच्ची) भी दिया है। इस तरह विविध अर्थों में प्रयुक्त होता हुआ भी 'कल्पना' शब्द हिंदी में अथवा हिंदी में क्यों, जिस अर्थ में नागेंद्र जी ने लिया है, उस अर्थ में 'कल्पना' शब्द का स्रोत संस्कृत साहित्य में भी नहीं है। हिंदी में भी आज यह शब्द प्राय उक्त अर्थ में ही चल रहा है। 'चित्रविधायिनी शक्ति' के अर्थ में 'कल्पना' शब्द अंग्रेजी (Imagination) इमेजिनेशन का अनुवाद है, हिंदी साहित्य की अपनी मौलिक उद्भावना नहीं। अत ऊपर की तीनों संभावनाओं में से अंतिम संभावना ही ग्राह्य है।

इमेजिनेशन (Imagination) शब्द का अर्थ है[2] (the Faculty of forming imagination) अर्थात् कल्पना वह शक्ति है, जिसके बल से अंत करण में नव-प्रतिमाओं का निर्माण होता है। भारतीय दृष्टि से विचार करें तो कल्पना का स्वरूप इस प्रकार समझाया जा सकता है—हमारी ज्ञानेंद्रियाँ वस्तुओं या भावों का जब उपेक्षात्मक नहीं, किंतु अपेक्षात्मक ढंग से अनुभव करती हैं तो उसका अंत करण में जो संस्कार उत्पन्न होता है, वह गाढ़ होता है। गाढ़ होने का तात्पर्य यह है कि थोड़ी सी उत्तेजना पाने पर वे शीघ्र ही उभड़ जाते हैं। ये संस्कार सूक्ष्म रूप से पूर्वानुभूत भावों के उनकी छोटी छोटी विशेषताओं के साथ संचित रूप हैं। जब कभी आंतर मनोराग अंत करण को विवश कर देता है कि वह उनके बाहर होने की व्यवस्था करे और वह व्यवस्था ऐसी हो, कि दूसरे उन मनोभावों को उसी रूप में ग्रहण कर सकें, तो स्थूल की सृष्टि शुरू हो जाती है ताकि इसीके माध्यम से मनोभाव हृदयांतर में संक्रमण कर सकें, तब कल्पनाशक्ति

१—नैषधीय चरित (१९१२ नि० सा०) १० सर्ग ६८ वीं श्लोक।

२—Chamber's Twentieth Ceutury Dictionary

जागरूक होकर सृष्टि व्यंजना में सलग्न हो जाती है। इस नवसर्जन में अत करण की सारी वृत्तियाँ कार्यप्रवण हो जाती है। चित्त अनुसधानपूर्वक संवद्ध सस्कारों को जगाता है, मन की संकल्पविकल्पात्मा क्रिया से बुद्धि एक निश्चित रूप खड़ा करती है। बुद्धि का यह रूप तर्कप्रधान नहीं होता, वल्कि ऊहापोह की विवेक शक्ति से भिन्न उसका सहज, अतर्क प्रतिष्ट रूप है। काण्ट का एस्थेटिक इमेजिनेशन यही है।

सस्कृत साहित्य में आधुनिक 'कल्पना' के मेल में कोई वस्तु है तो 'प्रतिभा' ही. इन दोनों के स्वरूप पर जितना ही विचार क्रिया जाय, दोनों की एकरूपता पुष्ट ही होती जायगी। सस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध आलंकारिक आचार्य अभिनव गुप्तपाद ने 'प्रतिभा' का स्वरूप कई स्थानों पर वताया है। एक जगह कहा है—'प्रतिभा[१]=अपूर्व वस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा अर्थात् अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ कवि की प्रज्ञा ही प्रतिभा है। कहीं कहीं प्रतिभा का पर्याय लोचनकार ने 'प्रख्या'[२] भी कहा है और उसका भी व्यापार है कारण कलाप के विना अपूर्व वस्तु का निर्माण करना (अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलाम्)। अभिनव ने इसे काव्यशक्ति के रूप में भी वताया है— 'शक्ति.[३] प्रतिभान वर्णनीयवस्तुविपयनूतनोल्लेख[३] शालित्वम्'। यहाँ काव्यशक्ति प्रतिभा के रूप में कही गई है। और उसका कार्य भी लगभग वही है अर्थात् यहाँ भी वर्णनीय वस्तु से सबद्ध नव नव पदार्थों का उल्लेख होता है।

प्रतिभा के इस विवेचन में स्पष्ट ही उसे अंत.करण का एक वह व्यापार कहा गया है, जो 'अपूर्व वस्तु का निर्माण करे'। कल्पना भी तो यही करती है। प्रतिभा के इस रूप की चर्चा और आचार्यों ने भी की है और प्रायः सबकी मिलती-जुलती ही उपस्थापना है। पडितराज जगन्नाथ ने कहा है काव्य घटना के अनुकूल[४] शब्द एव अर्थ की उपस्थिति प्रतिभा है। रुद्रट ने भी शक्ति का यही रूप वताया है। उन्होंने कहा है कि शक्ति[५] वही है, जिसके वल से सामाधिस्थ मन में नव नव पदार्थों तथा अक्लिष्ट

१—ध्व० आ० लो० पृ० ९२, १९४० का चौखभा सस्करण।

२—वही, पृ० १ लोचन का प्रथम मगलाचरण।

३—वही, लोचन, पृ० ३१७।

४—रसगगाधर, पृ० आ० पृ० सं०।

५—काव्यालकार।

अर्थात् सरस पदों का स्फुरण होता रहे। राजशेखर[1] ने भी बताया है कि प्रतिभा वही है जो विविध प्रकार के शब्द, अर्थ, उक्ति, अलंकार एवं इसी प्रकार अन्य उपयोगी तत्वों का प्रतिभास कराती हो। शिव में सतत विश्राम करने वाली (परा प्रतिभा) की भाँति कवि की प्रतिभा भी विलक्षण विश्व का उन्मीलन करती है[2]। शक्ति[3] एव प्रतिभा कही कहीं समान अर्थ में और कहीं कहीं असमान अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं।

इस प्रकार जैसे भारतीयों ने प्रतिभा को 'काव्य हेतु' के रूप में पकडा है और उसकी चर्चा की है, उसी प्रकार अंग्रेजी कवियों ने भी (इमैजिनेशन) को काव्य बीज के रूप में निर्दिष्ट किया है। शेली ने कहा है—(Poetry is the expression of imagination)

अर्थात् कविता कल्पना का बाह्य रूप है।

इस लंबी चर्चा का लक्ष्य यही सिद्ध करना है कि प्रतिभा और कल्पना कार्य की दृष्टि से एक ही तत्व हैं। आचार्य शुक्ल ने भी प्रतिभा[4] एव कल्पना को एक कहा है।

जैसे कर्ता की दृष्टि से कल्पना एव प्रतिभा एक है, वैसे ही ग्राहक की दृष्टि से काव्यार्थ के ग्रहण में भी कल्पना और प्रतिभा एक है। अब इस एकता के आलोक में डा० साहब के उक्त आलोच्य वाक्य को लेना चाहिए, जिसमें उन्होंने व्यजना का स्वरूप उपस्थित किया है। उन्होंने शब्द की व्यजना शक्ति का कार्य कल्पना का जागरण माना है। डा० साहब कल्पना के जागरण से पूर्व ही व्यजना व्यापार की क्रिया समाप्त करते हैं। कल्पना-जागरण के अनतर काव्य में रसावस्था तक पहुँचने में जो स्तर पार करने पड़ते हों, आपके मत से व्यजना की वहाँ कोई आवश्यकता ही नहीं है। (यहाँ कल्पना या व्यजना का विचार ग्राहक के ही पक्ष से है)। कल्पना के जग जाने पर काव्य में ग्राहक की दृष्टि से होता यह है कि ग्राहक उसी शक्ति के बल से कवि के विशेष शब्दों या चित्रमय शब्दों के अर्थों को चित्र रूप में ग्रहण करता है। कर्ता की कल्पनाशक्ति जिन चित्रों से समन्वित करके शब्द

१—काव्यमीमांसा।

२—अभिनव भारती।

३—काव्य प्रकाश में 'शक्ति' शब्द प्रतिभा से भिन्न अर्थ में गृहीत है।

४—चिंतामणि—'काव्य में अभिव्यजनावाद'।

योजना करती है, ग्राहक की कल्पनाशक्ति उन्हीं तारों को उघाड़ती है और उन विभावादि रूपचित्रों का साक्षात्कार करती है और ये ही कल्पित या भावित अर्थ रसानुभूति तक पहुँचाते हैं। इस भावित सामग्री एवं रसानुभूति के मध्य इतना सूक्ष्म व्यापार होता है, कि उसका पता तक नहीं चलता। इसलिये भारतीय आचार्य रस को असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य कहते हैं। यहाँ क्रम इस प्रकार हुआ—शब्द श्रवण—अभिधा—समर्पित वाच्यार्थ—भावित अर्थ—रसानुभूति। अर्थात् शब्द श्रवण के अनंतर प्रथम स्तर पर ग्राहक शब्दों की अभिधाशक्ति से पदार्थों को 'विशेष' रूपबोधित करता है द्वितीय स्तर में भावना या जागृत कल्पना से उस विशेष अर्थ को रसोपयोगी स्थिति में ले आता है फिर अंत में इन्हीं 'भावित अर्थों' की सहायता से रसानुभूति होती है। यह रसानुभूति उन भावित अर्थों से व्यंग्य होती है अर्थात् व्यंजना द्वारा आती है। स्पष्ट है कि इस भारतीय प्रक्रिया में भावित अर्थों एवं रसानुभूति के बीच भी व्यंजना कार्य करती है जबकि डा० साहब ने उसे प्रथम एवं द्वितीय स्तर के ही बीच समाप्त कर दिया है। प्रथम स्तर है शब्द श्रवण से अभिधेयार्थ तक पहुँचना और द्वितीय स्तर में हम अधिधेयार्थ से भावित या 'कल्पित अर्थ' वाले स्तर तक पहुँचते हैं। डा० साहब की व्यंजना इस स्तर को पार नहीं करती।

हाँ, 'वाच्यार्थ' एवं 'भावितार्थ' के बीच भी व्यंजना है, पर वह भी कल्पना-जागरण कर्त्री शक्ति के रूप में नहीं, बल्कि स्वयं 'कल्पना' के रूप में। क्योंकि कल्पना या भावना यदि एक मान ली जायँ, तो आचार्य अभिनव की दृष्टि से जब भावना और व्यंजना एक हैं तो कल्पना और व्यंजना भी एक हो सकती हैं। इस दृष्टि से भी उक्त परिभाषा ठीक नहीं है।

अब डा० साहब ने व्यंजना का जो रूप बताया है, देखना चाहिए कि यह बहुरूपिया व्यंजना क्या कभी वह रूप भी धारण करती है ? यह अवश्य एक विचारणीय बात है कि आखिर शब्द एवं वाच्यार्थ बोध के अनंतर जो कल्पना जगती है, उसका जगानेवाला कौन है ? संसार का कोई कार्य अकारण नहीं होता अतः कल्पना का जागरण भी अकारण नहीं है, अवश्य उसका कुछ कारण है। यहाँ जो कुछ दृष्टिगोचर है, वह शब्द ही है या बहुत हुआ तो शब्द का वाच्यार्थ है। इन्हीं में कुछ ऐसी शक्ति, है जो कल्पना को उकसाती है। शब्द एवं वाच्यार्थ की वह उत्तेजक शक्ति अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य नहीं है, फिर भी है, उसकी कोई शक्ति है, उसका क्या नाम दें ? इस कल्पना के उभाड़

में शब्द या वाच्यार्थ की महिमा न मानकर सहृदय (ग्राहक) की ही व्यक्तिगत विशेषता मानें, तब भी यह प्रश्न बना ही रह जाता है, उसकी यह व्यक्तिगत विशेषता जो कल्पना को सजग करती है, क्यों अचानक कार्यशील हो गई ? यहाँ तो शब्दार्थ की सामर्थ्य मानना होगा।

अब, इसपर से यह कहा जा सकता है कि शब्द की यह सामर्थ्य व्यजना शक्ति इसलिये नहीं है कि वह किसी प्रकार के शब्दार्थ को देने में उपयोगी नहीं है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। भावना के रूप में व्यजना 'साधारणीकृत रूप में अर्थ ही देती है, तृतीय स्तर की व्यजा रस रूप अर्थ ही देती है, अतः इन दोनों रूपों में व्यंजना शब्द की शक्ति है, पर तृतीय रूप जो डा० साहब को अभिमत है, वह कोई शब्दार्थ नहीं देता, अतः व्यंजना नहीं है। यह तर्क बहुत कुछ ठीक जान पड़ता है। वस्तुत शब्दार्थ के तथाकथित सामर्थ्य को व्यजना नहीं, बल्कि भावना—कल्पना—व्यजना की उत्पादक सहकारी सामग्रियों में से एक मानना चाहिए। शब्दार्थ की यह सामर्थ्य अपनी नहीं है, बल्कि वह प्रकरण, वक्ता, बोद्धव्य आदि के वैशिष्ट्य से उसमें आती है। आग्रह की बात अलग है।

फिर भी हम यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि कल्पना, प्रतिभा, भावना से व्यजना एक होती हुई भी व्यंजना उन सबका पर्याय नहीं है। व्यजना का उनसे और अतिरिक्त रूप भी है। व्यंजना शब्दाश्रित, अशब्दाश्रित, चेष्टाश्रित, जगत् के नाना प्रकार के प्रकाशकों तक में फैली है, भावना, कल्पना, प्रतिभा ऐसी नहीं हैं।

उपर्युक्त अन्य तीन मतों में भी, जहा कल्पना का 'विधिमुखी' विचार है, व्यजना के जो रूप प्रदर्शित किए गए है, वे 'व्यजना' के विशेष, विशेष रूप ही हैं, सपूर्ण व्यजना का आभास उनसे नहीं मिल सकता। पूर्वत 'प्रकाशन' ही व्यजना है।

व्यजना की इसी अनियतरूपता को लक्षित कर तार्किकों ने इसे नहीं माना है। चाहे व्यजना के अनियत रूप होने से, हम उसको एक लक्षण में बाँधकर न कह सकें, लेकिन इतना मानना ही पड़ेगा कि जब व्यजना का कार्य हमें प्रत्यक्ष अनुभूत हो रहा है, तो व्यजना है अवश्य और हमें बाध्य होकर उसकी सत्ता माननी पड़ेगी।

प्रदीपकार ने इस व्यंजनाव्यापार को दो भागों में विभक्त किया है— शब्दनिष्ठा एव अर्थनिष्ठा। शब्दनिष्ठा के भी दो भेद हैं—अभिधामूला एवं लक्षणामूला। शब्दनिष्ठा अभिधामूला व्यजना का ही दूसरा नाम शाब्दी व्यजना है। इस प्रकार व्यजना के सब तीन भेद हैं—शाब्दी व्यजना (शब्दनिष्ठ अभिधामूल) लक्षणामूल व्यजना एव आर्थी व्यंजना (अर्थनिष्ठ अभिधामूल व्यजन)। आगे के तीन परिच्छेदों में क्रमशः व्यजना के इन प्रकारों का परिचय दिया जायगा।

१—का० प्र० की, 'प्रदीप' टीका पृ० ३६।

"व्यजना च द्वेधा। शब्दनिष्ठाऽर्थनिष्ठा चेति। तत्राद्या द्विविधाऽभिधा मूला लक्षणामूला चेति"।

चतुर्थ परिच्छेद

शाब्दी-व्यंजना

'व्यंजना को जब हम 'शाब्दी' कहते हैं तो स्पष्ट है कि उसका सबंध हम शब्द से जोड़ना चाहते हैं। शब्द से व्यजना का सबंध दो रूपों में हो सकता है—(1) प्रथम यह कि व्यजना का आधार शब्द है। (11) दूसरा यह कि व्यजना का अन्वयव्यतिरेक शब्द से है। व्यंजना का आधार शब्द है इसलिए उसे शब्द का अर्थात् 'शाब्दी' तो कह ही सकते है उसे शाब्दी इसलिये भी कह सकते हैं कि शब्द से उसका अन्वय व्यतिरेक है। व्यंजना को शाब्दी कहने में उक्त दोनों कारणों में से परंपरा 'अन्वय-व्यतिरेक' वाले पक्ष का ही समर्थन करती चली आ रही है। व्यंजना का आश्रय या आधार शब्द है, इसलिये व्यंजना को शाब्दी कहा जाता है ऐसा उल्लेख, जहाँ तक अपने अनुसधान की बात है, किसी आचार्य ने नहीं किया है।

व्यंजना को शाब्दी कहने में उक्त दोनों पक्षों के अभिप्राय एवं तर्क क्या हैं ? इसे सोदाहरण समझ लेना चाहिए। व्यजना की यह स्थिति अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग में देखी जाती है। यद्यपि अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग श्लेपालकार में भी होता है, पर वहाँ के सभी अर्थ वाच्य ही होते हैं, अत' व्यजना की कोई चर्चा ही नहीं संभव है। व्यजना की प्राप्ति वहाँ है, जहाँ अनेकार्थक शब्दों से प्राप्त अनेक स्तर के अर्थों में एक स्तर व्यग्य का भी हो। उस व्यग्यार्थ की प्राप्ति में व्यंजना की अपेक्षा होगी। यहाँ सहज ही शंका हो सकती है कि जब श्लेप स्थल की भाँति शाब्दी व्यजना के स्थल में भी नानार्थक शब्द होते है, तो क्या कारण है कि श्लेप स्थल में उन्हीं अनेकार्थक शब्दों से प्राप्त सभी अर्थ वाच्य होते हैं और व्यंजना स्थल में उन्ही अनेकार्थक शब्दों से प्राप्त कुछ अर्थ वाच्य होते हैं और कुछ व्यग्य ? दोनों स्थलो में शब्दों की एकरूपता होने पर अर्थ में विविध रूपता क्यों आती है ? संक्षेप में आचार्य लोग इस शका के समाधान में कहते यह हैं कि श्लेप स्थल के जितने अर्थ होते है, वे या तो प्राकणिक ही होते हैं अथवा अप्राकणिक ही, पर व्यजना के प्रसंग में इन नानार्थक शब्दों से उपलब्ध होने वाले जितने अर्थ होते हैं,

उनमें से कुछ प्राकरणिक होते हैं और कुछ अप्राकरणिक। श्लेष स्थल के अनेकार्थक शब्द अभिधाशक्ति [चाहे वह अनेक अर्थों के लिये एक ही हो या प्रत्यर्थ भिन्न भिन्न हो]। से ही अपने सभी ईप्सित अर्थों को उपस्थापित कर देते हैं, उसकी नानार्थविषयिणी अभिधा शक्ति के रास्ते में कोई रोड़ा नहीं है, पर शाब्दी व्यंजना की स्थिति भिन्न है, वहाँ अनेकार्थक शब्दों की वह अभिधा शक्ति जो नाना अर्थों की उपस्थिति कराने में समर्थ है—उन्मुख तो अवश्य होती है सभी अर्थों के देने के लिये, पर जो अर्थ प्राकरणिक या प्रसंगोपयोगी होता है, उसकी प्रतीति पहले कराने के लिये प्रकरण ज्ञान अप्राकरणिक अर्थों की उपस्थापक शक्ति को अपना कार्य करने से रोक देता है और यह नियम है कि शब्द-व्यापार बुद्धिव्यापार एवं कार्य एक बार यदि रोक दिए जाते हैं, तो उनसे कार्य कराने के लिये उन्हें फिर नए सिरे से उत्पन्न करना पड़ता है, क्योंकि पूर्व का प्रतिबद्ध व्यापार निरर्थक चला जाता है। इस प्रकार प्रथम कक्षा में जब प्राकरणिक अर्थ वाच्यार्थ के रूप में प्रतीति हो लेता है, तो उसके अनंतर पुनः प्रतीत होने वाला अप्राकरणिक अर्थ व्यंजना से ही प्रतीत हो सकता है। उसका कारण यह है कि प्रथम उन्मुख अभिधा जब प्रकरण ज्ञान के कारण से प्रतिबद्ध हो गई, तो वह अब किसी काम की रही नहीं (अर्थात् अभिधा से इस अर्थ की प्रतीति हो यह संभव ही नहीं)। रही लक्षणा, सो मुख्यार्थ बाध आदि कारणों के न रहने से प्राप्त ही नहीं है। ऐसी स्थिति में वह अर्थ जब मिलता है, तो शब्द की कोई न कोई शक्ति अवश्य है, वही शक्ति व्यंजना है। इसी व्यंजना को 'ध्वनि' के अनुयायी गण 'शाब्दी व्यंजना' की संज्ञा देते हैं।

उदाहरण के लिये एक पद्य लीजिए—

'भद्रात्म है अति विशाल सुवंश उच्च, हैं पास में बहु शिलीमुख भी सपक्ष।
जो हैं सदैव पर वारण शोभनीय, दानाम्बुसेचनमयी कर है तदीय॥'

इस पद्य में किसी राजा का वर्णन किया जा रहा है, पर इसमें कुछ ऐसे अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग है, जिनके बल पर एक अप्राकरणिक (प्रसंग में अनुपयोगी) अर्थ भी निकलता है और यह अर्थ उत्तम हाथी के वर्णन के रूप में मिलता है।

प्राकरणिक अर्थ—वह राजा (पर) शत्रु का (वारण) उच्छेद करने वाला है, उसका अंतःकरण या स्वरूप (आत्मा) अत्यंत उत्तम है। उसने विभिन्न प्रकार के बाणों का संग्रह किया है। दान के निमित्त गृहीत जल से उसके हाथ सदैव सुशोभित हैं।

अप्राकरणिक अर्थः—वह (पर) उत्कृष्ट (वारण) हाथी भद्र जाति का है। उस पर (मद सौरभ से आकृष्ट होकर) भ्रमर पुंजीभूत हो रहे हैं। इसका शुण्डादण्ड निरंतर मद जल से आर्द्र रहता है।

यहाँ राजा का वर्णन और उसमें उपयोगी अर्थ वाच्य हैं, पर हाथी का वर्णन और उसमें उपयोगी अर्थ व्यंग्य हैं। प्रथम अर्थ प्राकरणिक है और द्वितीय अप्राकरणिक।

यहां केवल यही अप्राकरणिक अर्थ ही व्यंग्य हो सो नहीं, बलिक दोनों अर्थों को सबद्ध करनेवाला 'उपमालंकार' भी व्यंग्य है। बात यह है कि प्रकरणोपयोगी वाक्य से श्लेष के बल पर जो दूसरा अर्थ मिलता है, यदि वह प्रकरणोपयोगी अर्थ से सर्वथा असबद्ध होता, तो कवि की प्रतिभा असम्बद्ध अर्थ कहने की ऐसी गलती क्यों करती? दूसरे यह कि दोनों वाक्यों के परस्पर असम्बद्ध होने से वाक्य भेद नामक दोष भी है, अतः इन दोनों वाक्यार्थों को परस्पर सम्बद्ध होना चाहिए। सम्बद्ध करने के लिए 'उपमा' का आक्षेप करना पड़ेगा। यही उपमा दोनों वाक्यार्थो में उपमानोपमेय भाव स्थापित करेगी और दोनों अर्थ सुसम्बद्ध हो जायँगे। फिर तो न पारस्परिक असम्बद्धता रह जाती है और न वाक्य भेद नामक दोष ही।

इस प्रकार यहा अप्राकरणिक अर्थ एव उपमालकार दोनों व्यग्य हैं। यह उपस्थापना काव्यप्रकाशकार के मत के अनुकूल है। इन्हीं दोनों अर्थो की प्राप्ति में जो शब्द-शक्ति काम करती है, आलकारिकों की परम्परा उन्हे 'शाब्दी व्यजना' कहती है।

इस स्थिति में पहले हमें 'अन्वय-व्यतिरेक' वाले पक्ष की परीक्षा करनी चाहिए। प्रायः अलंकार शास्त्र के विद्वानों ने जहाँ कहीं भी काव्य के धर्मों - दोष, गुण एव अलकारों—का यह निर्णय करना चाहा है कि 'कौनसा धर्म शब्दगत है और कौनसा अर्थगत?' वहाँ 'अन्वय-व्यतिरेक' का ही सहारा लिया है। जिन धर्मों का होना (अन्वय) न होना (व्यतिरेक) शब्दों के होने न होने पर निर्भर है, वे धर्म शब्दगत और जिन धर्मों का होना न होना अर्थो के होने न होने पर निर्भर है, वे धर्म अर्थगत कहे गए हैं। इस प्रकार आचार्यों ने आधाराधेय भाव के निर्णय में अन्वय, व्यतिरेक को परंपरा

से उपाय माना है। इसी प्रतिष्ठित सिद्धांत को मानकर सभंग श्लेप एव अभग श्लेप को शब्द की सत्ता से अन्वय-व्यतिरेक होने के कारण शब्दगत और अभंग श्लेष के ही विशेष स्थल (अर्थ श्लेप) में अर्थ की सत्ता से अन्वय-व्यतिरेक होने के कारण उसे अर्थगत माना गया है। इसी प्रतिष्ठित सिद्धांत के आधार पर प्रथम पक्ष वाले उसी शब्द के रहने न रहने से अप्राकरणिक व्यंग्य अर्थ के रहने न रहने को देखकर उसे शब्द शक्ति मूल कहते हैं और उस व्यग्यार्थ में उपायभूत व्यंजना को भी शब्दगत या शाब्दी ही कहना उचित समझते है।[1] पतिराज ने तो और भी स्पष्ट कहा है कि नानार्थं स्थल में अनुरणनीय व्यजन को शब्द शक्ति मूल इसलिए कहना चाहिए, कि व्यजन को उस शब्द का परिवर्तन सह्य नहीं है, अर्थात् शब्द के साथ उसका अन्वय-व्यतिरेक है।

सम्प्रति, आधाराधेय भाव वाले उपर्युक्त द्वितीय पक्ष की समीक्षा करनी चाहिए और देखना चाहिए कि वह कहाँ तक युक्तियुक्त है ? इस पक्षवाले यह कहना चाहते हैं कि कौन काव्य-धर्म शब्दगत है और कौन अर्थगत ? इस बात का निर्णय करने के लिए यह देखना चाहिए कि उस काव्य धर्म का आधार क्या है ? अलकार सर्वस्वकार रुय्यक ने काव्यधर्मों की शब्दनिष्ठता एव अर्थनिष्ठता का निर्णय करने के लिए आश्रयाश्रयिभाव का ही सहारा लिया है और इस मत का सहारा लेकर हम यह कह सकते हैं कि इस स्थल की व्यजना का आधार शब्द है अत. उसे शाब्दी कहना उचित है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इस मत के अनुकूल सभग-श्लेप एव अभग-श्लेप की क्रमशः शब्दनिष्ठता एवं अर्थनिष्ठता पर रुय्यक के मत की विवेचना करते हुए एक नवीन तर्क उपस्थित किया है कि अन्वय व्यतिरेक का उपयोग कार्य कारण भाव के निश्चय में होता है, आधार के निर्णय में नहीं। पूर्व मत में अन्वय व्यतिरेक का उपयोग यही निश्चय करने के लिये किया गया है कि कौन से काव्य धर्म का, शब्द या अर्थ में से कौन आधार है। आधार के निर्णय में अन्वय-व्यतिरेक की सहायता का मूर्खतापूर्ण उदाहरण है—'घृताधार पात्र

१—तदित्थ नानार्थं स्थले ऽनुरणनीय व्यजन शब्दशक्तिमूलम्, शब्दस्य परिवृत्त्यसहत्त्वादिति ध्वनिकारानुयायिनो वर्णयति।

—रसगगाधर, १६४७ द्वि० आ० (नि० सा०) पृ० १३८।

वा पात्राधारं घृतम्'। कुछ अलौकिक नैयायिकों ने यह निश्चय करने के लिए कि पात्र का आधार घृत है कि घृत का आधार पात्र ? अन्वय-व्यतिरेक का सहारा लिया था और इसके माध्यम से आधाराधेय भाव का निर्णय करते हुए अन्त में घृत को भूमि पर उड़ेल दिया था। दूसरा तर्क पडित महादेव शास्त्री जी का यह भी है कि कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं, जिनके भिन्न भिन्न आधार संभव हैं, वहाँ अन्वय-व्यतिरेक कैसे निर्णायक हो सकता है ? घड़ा जल में भी रह सकता है, पृथ्वी पर भी रह सकता है, वृक्ष पर भी रह सकता है— अब इस स्थिति में अतिरिक्त लोक व्यवहार के आराधाधेय भाव का निर्णायक दूसरा कुछ हो नहीं सकता। अन्वय-व्यतिरेक तो सभव ही नहीं है। सारांश यह कि लोक व्यवहार से निश्चय होने वाले आधाराधेय भाव को देखकर ही किसी काव्य-धर्म को हम शब्दगत या अर्थगत कह सकते हैं।

इस प्रकार उक्त दोनों आधारों पर हम व्यंजना को शाब्दी कह सकते हैं, तथापि किसी आधुनिक विद्वान्[१] के मतानुसार व्यंजना को शाब्दी कहना ठीक नहीं है। जिस प्रकार आर्थी कहने का अभिप्राय है व्यजना को 'अर्थ का व्यापार' कहना, उसी प्रकार व्यजना को शाब्दी कहना तब उचित होता, जब वह शब्द का व्यापार होती, पर व्यंजना शब्द का व्यापार होती ही नहीं, अतः उसे शाब्दी कहना ठीक नहीं है।

इस शका का समाधान दो प्रकार से दिया जा सकता है। प्रथम तो यह कि व्यजना को आर्थी कहने का तात्पर्य केवल यही नहीं है कि वह अर्थ का व्यापार है इसलिए आर्थी कही जाती है, बल्कि उसे आर्थी इसलिए भी कहा जाता है, कि अर्थ के साथ उसका अन्वय-व्यतिरेक है। इसी प्रकार व्यजना को शाब्दी केवल इसलिए नहीं कहा जाता कि वह शब्द का आश्रित है, बल्कि इसलिए भी कि उसका शब्द से अन्वय-व्यतिरेक है। अत: जैसे अर्थ के साथ व्यजना का अन्वय-व्यतिरेक होने से आर्थी कहा जाता है, उसी प्रकार शब्द के साथ उसका अन्वय व्यतिरेक होने के कारण उसे शाब्दी व्यंजना कहना युक्तियुक्त ही है।

१—'अन्वय व्यतिरेकाभ्या हि हेतुत्वावगमो घटं प्रति दंडादेरिवास्तु, न त्वा श्रयत्वागमः।'

रसगंगाधर, पृ० ५२६ (नि० सा० १६४७)।

दूसरा तर्क यह है कि (अगर उपर्युक्त तर्क अंगीकार न हो) इन स्थलों में यदि व्यजना को शब्द का व्यापार माना ही जाय, तो हानि क्या है ? उक्त विद्वान् व्यजना को शब्द का व्यापार न मानने में यह कारण देते हैं कि शब्द का व्यग्यार्थ के साथ साक्षात् (प्रत्यक्ष) कार्य कारण भाव सबध नहीं हैं। अर्थात् शब्द श्रवण एव व्यग्यार्थ के बीच प्राकरणिक अर्थ व्यवधायक है। अतः व्यग्यार्थ से पूर्व क्षण में नियत रूप से प्राकरणिक वाच्यार्थ ही वर्तमान है, शब्द नहीं और जिससे नियत पूर्वक्षग में जो वस्तु विद्यमान होती है, वही उस वस्तु के प्रति कारण होती है।

इस तर्क का कई ढग से खडन किया जा सकता है। कार्य एवं कारण के बीच कारण का व्यापार सदा व्यवधायक होता है। क्या दड चक्र में भ्रमण व्यापार उत्पन्न किए बिना कारण हो सकता है ? कदापि नहीं। इसी प्रकार शब्द व्यापार रूप में ही वाच्यार्थ की स्थिति अगर मान ली जाय, और पडित राज ने ऐसा माना भी है तो शब्द की व्यग्यार्थ के प्रति जो कारणता है, वह किसी भी प्रकार से भग नहीं हो सकती। दूसरा तर्क यह है कि जो वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ से नियत पूर्वक्षण में वर्तमान रहने वाला है, उस वाच्यार्थ के विशेषण रूप में (वाच्यार्थ की कुक्षि में) जैसे जाति आदि धर्म पडे रहते हैं वैसे ही वाचक शब्द भी। भर्तृहरि का सिद्धात है 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य शब्दा-नुगमादृते' अथवा 'सर्व ज्ञान शब्दानुविद्धं भवति' सभी ज्ञान शब्द गर्भ होते हैं। फिर वाच्यार्थ के समय में शब्द भी वर्तमान ही है, अत आधुनिक का तर्क इस दृष्टि से भी ठीक नहीं है। तीसरा तर्क यह है कि यदि व्यापार के व्यवधायक होने से कार्यकारण भाव का विनाश मान लिया जाय तो व्याप्ति ज्ञान एव अनुमिति में, पद ज्ञान एवं शाब्दबोध में भी कार्यकारण भाव नही मानना चाहिये, क्योंकि इन दोनों स्थलों में भी क्रमश 'परामर्श एव' पदार्थ स्मृति 'व्यवधायक है। वस्तुत कार्य कारण भाव का सच्चा निर्णायक अन्वय-व्यतिरेक है, 'नियत पूर्व वृत्ति' भी है, पर यदि वह ठीक तरह से कही जाय। यहाँ पर ज्ञान एव व्यंग्यार्थ प्रतीति में अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर कार्य कारण भाव है ही।

शाब्दी व्यंजना के खडन में दूसरा सबसे प्रबल तर्क यह दिया जाता है कि नानार्थक शब्दों से चाहे जिस रूप से जो अर्थ प्रतीत होते-हों, सभी संकेतित होने के कारण वाच्यार्थ ही कहे जाने चाहिए, केवल किसी अर्थ को अप्राकरणिक हो जाने मात्र से व्यग्यार्थ कहना ठीक नहीं है। इस प्रकार जब

इन स्थलों में व्यंग्यार्थ की सत्ता ही नहीं है, तो व्यंजना की गुंजाइश कहाँ ? और जब इन स्थलों में व्यंजना ही नहीं तो शाब्दी या आर्थी कहने का विवाद ही क्यों उठाया जाय अब तो केवल एक ही प्रकार •व्यंजना है, अत. व्यावृत्य के अभाव में विशेषण निरर्थक ही हैं। अब केवल व्यंजना कही जाय ? शाब्दी व्यंजना कोई वस्तु नहीं।

उक्त प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व शाब्दी व्यंजना के ऐतिहासिक विकास पर कुछ दृष्टिपात करना अच्छा होगा। शाब्दी व्यंजना की चर्चा सबसे पहले ध्वनि-प्रस्थापन-कर्ता आनदवर्द्धन ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रथ ध्वन्यालोक में की। इन्होंने बताया कि 'शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि काव्य का वह भेद है, जहाँ अलंकार आक्षिप्त ही होकर शब्द के सामर्थ्य या शब्द की शक्ति से प्रकाशित होता हो, साथ ही यह भी आवश्यक है कि आक्षिप्त होता हुआ, वह अलंकार बाद में किसी उक्ति से स्फुटतर न कर दिया जाय[1]।' यहाँ बहुत विवेचन करने पर भी ध्वन्यालोक के शब्दों से यह निर्णय नहीं हो पाता, कि आलोककार 'वस्तु' अर्थात् उक्त ढग के अप्राकरणिक अर्थ को भी व्यग्य मानते हैं या नहीं ? ध्वन्यालोक से काव्य प्रकाश तक के बीच शाब्दी व्यजना की अथवा आलोक-कार की कारिका की जो व्याख्यायें हुईं लोचनकार ने 'लोचन' में उन्हे चार[2] मतों के रूप में चर्चित किया है।

आलोककार की इस कारिका के अनंतर शाब्दी व्यजना का निरूपण मम्मटाचार्य ने जिस कारिका[3] में किया, उसकी भी विभिन्न व्याख्यायें हुईं। एक तो कुवलयानदकार अप्पय दीक्षित ने अपने 'कुवलयानंद'[4] में की है। बाद में दो प्रकार की व्याख्यायें पडितराज जगन्नाथ ने उसी प्रकाश की कारिका की अपने ग्रथ[5] में भी की।

पडितराज ने बुद्धिमत्तापूर्वक प्रकाशकार की कारिका की द्विविध

१—'आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्त. शब्देन शब्दशक्त्युद्भवोहिसः॥
ध्व० आ० पृ० २३५, कारिका ३१ वीं।

२—ध्व० लो० पृ० २४१।

३—चतुर्थ सस्करण, वामनी टीका सहित का० प्र० पृ० ६३, का० १६।

४—कुवलयानद, पृ० ७५।

५—रसगगाधर पृ० १३५।

व्याख्याओं का खंडन किया और 'शाब्दी व्यजना' के स्वरूप को बताने वाली एक अन्य प्रकार की कारिका रची और शाब्दी व्यजना को प्रतिष्ठित किया।

श्री कान्तानाथ[1] तैलग ने पडितराज की उस कारिका का भी खंडन किया और अपना सिद्धात स्थिर किया कि 'व्यजना शब्द का व्यापार ही नहीं है। श्री तैलग जी ने रसगगाधरकार की अतिमकारिका की ही आलोचना की हो सो नहीं, बल्कि उक्त सभी मतो की समीक्षा की है और उन लोगो ने जिस अर्थ को शब्द शक्ति मूल व्यग्यार्थ कहा है, उन्हे वाच्यार्थ ही सिद्ध किया है। इस प्रकार अपने व्यग्यार्थ का खडन कर शाब्दी व्यंजना के उच्छेद में सराहणीय प्रयास किया है।

अब क्रमश. प्रत्येक मतों का परिचय और उनकी समीक्षा सक्षिप्त ढंग से सामने रखी जा रही है।

ध्वन्यालोक की मूल कारिका के व्याख्यानस्वरूप जिन चार मतों का उल्लेख किया गया है, उन चारों की अवतरणिका के रूप में यह कहा जा सकता है कि ध्वनिवादी नानार्थक स्थलों में पूर्वोक्त रीति से प्राप्त अर्थ को शब्दशक्ति मूल व्यग्यार्थ कहते हैं। इस पर कुछ विचारकों का आक्षेप है कि जिस अर्थ को शब्दशक्तिमूल (अभिधामूल) कहा गया है, उसे अभिधेय कहा जाना चाहिए, न कि व्यग्य। शब्द शक्तिमूलता और व्यग्यता ऐसे धर्म हैं, जो एक आश्रय में नहीं रह सकते। इसी आपाततः प्रतीत होनेवाले विरोध के खण्डन में जो चार प्रकार के उत्तर हैं, उन्हीं की चारों मतों में जोरदार चर्चा है।

प्रथम मतः—

इस प्रश्न पर प्रथम मत वालों का कहना यह है कि नानार्थक शब्दों से प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थो की प्रतीति उसे ही होती है, जिसे दोनों अर्थो में अभिधा गृहीत हो अथवा यों भी कह सकते हैं कि अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति उसे ही हो सकती है, जिसने अन्यत्र उसकी अभिधा देखी हो। इसी कारण उस अप्राकरणिक अर्थ को एक और अभिधामूल या शब्द

१ – ना० प्र० प० कान्तानाथ तैलग का 'व्यजना शब्द का व्यापार नहीं है'—शीर्षक लेख।

शक्तिमूल कहते हैं और दूसरी ओर पूर्वोक्त रीति का सहारा लेने पर व्यंजना-गम्य होने से व्यग्य। अर्थात् इस प्रकार के नानार्थक स्थलों में स्थान भेद से अभिधा एव व्यजना दोनों की आवश्यकता अप्राकरणिक अर्थ की प्राप्ति में अपेक्षित है।

खंडनः—

उक्त मत के अनुसार जिस ढग से व्यंग्यार्थ की स्थापना की गई है, आधुनिक पडित उसका खंडन करते हुए कहते हैं कि इस मत में मुख्य रूप से दो सिद्धांत बताए गए हैं। प्रथम यह कि जिसने ऐसे स्थलों में प्रतीत अप्राकरणिक अर्थ को अन्य स्थलों में अभिधा द्वारा प्राप्त किया हो अर्थात् जिसे इस अप्राकरणिक अर्थ में सकेतग्रह हो। दूसरी बात यह है कि जब प्रकरण आदि के द्वारा निर्णीत तात्पर्य से अभिधा का मुँह अप्राकरणिक अर्थ की ओर से मोड़ दिया जाता है, तब यह अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकती। अत. उसकी प्रतीति के लिये 'व्यजना' माननी चाहिए।

उक्त दोनों सिद्धातों से द्वितीय या अप्राकरणिक अर्थ शब्द शक्तिमूल व्यग्यार्थ कहा जाता है, पर विचार करने में दोनों तर्क व्यग्यार्थ साधक नहीं ठहर पाते। प्रथम तर्क के संबध में यह निवेदन किया जा सकता है कि जब अभिधा ही दोनो अर्थों के ज्ञान में कारण है, तो क्यों एक को अभिधेय कहें और दूसरे को व्यग्य ? और दूसरी बात यह भी है कि सकेतग्रह को अभिधेय की प्रतीति में ही कारण मानना उचित है, कुछ व्यग्यार्थ की प्रतीति में नहीं।

द्वितीय तर्क यह है कि यदि प्रकरण आदि का ज्ञान अभिधा का नियत्रण नहीं करता, तो अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति अभिधा से हो ही जाती। यह नियंत्रणवाली बात भी तर्कसहिष्णु नहीं है। अनुभव यह बताता है कि अनेकार्थक शब्दों के सुनने पर प्रकरण आदि का ज्ञान रहने पर भी सभी अर्थों की प्रतीति होती है। बात यह है कि अर्थ प्रतीति का अर्थ है अनुभूत अर्थ की स्मृति। यह अनुभूत अर्थ के संस्कारों के जगने से होती है। संस्कार जगते है या जगाये जाते हैं, किसी उद्‌बोधक से। उद्‌बोधक यहाँ शब्द श्रवण ही है। अत. शब्दश्रवण रूप उद्‌बोधक के रहने पर दुनिया की कोई ऐसी शक्ति नहीं है, जो सचेत एवं सतर्क व्यक्ति के संस्कारों को जगने से रोक दे, उसमें प्रतिबध डाल सके। और सबसे बड़ी बात यह है कि प्रकरणज्ञ व्यक्ति जब

दोनों अर्थों को समझता है, तभी तो वह एक प्रसंग या प्रकरण का ज्ञान न रखनेवाले व्यक्ति को समझा पाता है कि अमुक अर्थ ही प्रसंगोपयोगी है, अमुक अर्थ नहीं।

द्वितीय मतः —

शाब्दी व्यंजना के इन समर्थकों का यह कहना है कि एक ही वस्तु की शक्ति भिन्न भिन्न सहकारियों की प्राप्ति से विभिन्न होती जाती है घटती या बढ़ती है। तात्पर्य यह कि सहकारी के भेद से शक्तिभेद होता है। इस सिद्धात के अनुसार प्रथम अर्थ तो अभिधा से मिल ही जाता है, द्वितीय अर्थ को भी वही अभिधा बताती है। पर यह दूसरी अभिधा, जिससे अप्राकरणिक अर्थ प्रतीत होता है, अपना कार्य करने में स्वतत्र रूप में अर्थात् अपने आप में अकेले ही समर्थ नही है, बल्कि पूर्वोक्त उदाहरण[1] की पद्धति से प्राप्त सादृश्य या उपमा को सहकारी बनाकर अपना कार्य करने में समर्थ है। इस सहकारी के भेद से वही शक्ति भिन्न हो जाती है, अब यह अभिधा नहीं रह गई, उसी को अब व्यजना कहना चाहिए। कारण यह है कि 'अभिधा' शब्द की स्वाभाविक शक्ति है उसे सकेत-ग्रह मात्र की अपेक्षा है, अतिरिक्त निमित्त की अपेक्षा वह नहीं करती। अतिरिक्त निमित्त की अपेक्षा करने के कारण वह शक्ति स्वाभाविक न रहकर नैमित्तिक या औपाधिक हो जायगी और यह औपाधिक शक्तिव्यजना होती है।

खंडन :—

इस मत में जिस ढग से अप्राकरणिक अर्थ को व्यग्य बताया गया है, वह अत्यत त्रुटिपूर्ण है। इस पक्ष में द्वितीय अर्थ की प्राप्ति में अभिधा को कारण माना गया है और प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अर्थ से व्यग्य होने वाली उपमा को सहकारी कारण। इस कथन का विश्लेषण करने पर इसमें विरोध स्पष्ट लक्षित होगा। जो उपमा स्वय अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति के बाद आती है, वह अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति में (सहकारी) कारण कैसे बन सकती है? कारण वही हो सकता है, जिसकी सत्ता कार्य से पूर्व विद्यमान हो। दूसरे यह कि इस पक्ष में अप्राकरणिक अर्थ उपमा की प्रतीति में और उपमा अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति में कारण कही गई है, अत अन्योन्याश्रय

१—सहकारिभेदाच्छक्तिभेदः। लोचन, पृ०।

दोष भी है। अतः उक्त पद्धति से जो व्यंग्यार्थ की सिद्धि की जाती है, वह भी ठीक नहीं।

तृतीय मत :—

इस मत वालों का कहना कि है जिस प्रकार शब्द श्लेप में दो अर्थों को देखकर शक्तिभेद के आधार पर दो शब्दों की कल्पना की जाती है, उसी प्रकार अर्थ श्लेप में दो अर्थो के कारण दो शब्दों की कल्पना होती है। इस पक्ष में तर्क यह कि शब्द एक बार[1] उच्चरित होकर एक ही अर्थ देता है और प्रत्येक अर्थ के ज्ञान में भिन्न भिन्न शक्तियाँ काम करती हैं। इस कारण जब दोनों स्थलों में दो अर्थ हैं, तो उसके लिये दो शक्तियाँ आवश्यक हैं और दोनों शक्तियों के लिए भिन्न भिन्न दो शब्द अपेक्षित ही हैं। अतः दोनों जगह एक शब्द तो प्रत्यक्ष रहता ही है, पर दूसरा लाया जाता है। श्लेप स्थल में यह दूसरा शब्द अभिधा से लाया जाता है। शाब्दी व्यंजना की भी यही स्थिति है, वहाँ भी दो अर्थ होते हैं और उक्त पद्धति से यहाँ भी द्वितीय शब्द आनीत होता है, पर यहाँ अभिधा से नहीं लाया जाता, किंतु व्यंजना से लाया जाता है। यहाँ यह अप्राकरणिक अर्थ चूँकि प्रतीयमान शब्द का मूल है, अतः स्वयं भी प्रतीयमान या व्यंग्य कहा जाता है अन्यथा वस्तुतः तो वह अभिधेय ही है। इस प्रकार यह अप्राकरणिक अर्थ शब्द शक्ति मूल एवं व्यंग्य दोनों हो जाता है।

खंडन :—

इस मत में तो स्पष्ट ही द्वितीय अर्थ को अभिधा से प्राप्त माना गया है। ऐसा जान पड़ता है कि पूर्व प्रश्न (एक ही अर्थ शब्द शक्ति मूल एवं व्यंग्य कैसे ?) का इस मत में समर्थन करना लक्ष्य हो और जैसे भी हो, अप्राकरणिक अर्थ को व्यंग्य सिद्ध कर दिया जाय, सब मिलाकर यहाँ यही प्रयत्न है।

चतुर्थ मत —

इन लोगों का विचार यह है कि प्रकरण ज्ञान या तात्पर्य ज्ञान, द्वितीय अप्राकरणिक अर्थ की प्राप्ति में प्रतिबंधक है, पर 'तृतीय मत' का सहकारी कारण (अर्थ सामर्थ्य सादृश्य) उपमा उस प्रतिबंध का नाशक बन जाता है। इस प्रकार प्रतिबंधक का नाश हो जाने पर प्रतिबद्ध शक्ति जाग उठती है

१—'सकृदुच्चारितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति'।

अर्थात् वह निष्प्रतिबंध होने से अब अपना कार्य कर डालती है, उसका अपना कार्य है अप्राकरणिक अर्थ की स्मृति कर देना। इस प्रकार दोनों अर्थ प्रतीत हो जाते हैं। और इस मत में दोनों अर्थ अभिधेय ही हैं।

अब इन दोनों अर्थों की असम्बद्धता हटाने के लिये दोनों अर्थों का "अभेद" मान लिया जाता है। जैसे, समासोक्ति में प्रस्तुतार्थ के उपस्थापक वाक्यों में प्रयुक्त श्लिष्ट विशेषणों की महिमा से जब तब अप्रस्तुत अर्थ भी व्यक्त होता है, तब दोनों की असम्बद्धता दूर करने के लिये 'अभेद' की कल्पना कर ली जाती है, वही स्थिति यहाँ भी है। इस प्रकार यहाँ, वस्तु नहीं किन्तु 'रूपक' अलकार व्यग्य होता है। यही शब्द-शक्तिमूल व्यग्यार्थ है।

खण्डन:—

इस मत में जब दोनों अर्थवाच्य हैं, तब स्पष्ट ही यह श्लेष का स्थल है, क्योंकि श्लेष स्थल से शाब्दी व्यजना का यही अतर ही है कि श्लेष में दोनों अर्थ वाच्य होते हैं और यहाँ एक व्यग्य कहा जा सकता है। यह भेदक तत्व उन लोगों को मान्य है जो अप्राकरणिक अर्थ को व्यंग्य मानते हों, प्रस्तुत मत तो ऐसा मानता नहीं, अत उसकी दृष्टि से यह भेदक ठीक नहीं है। इनके मत से श्लेष एव शाब्दीव्यजना का अंतर यह होना चाहिए कि श्लेष में रूपक व्यग्य नहीं होता, क्योंकि वहाँ दोनों अर्थ प्राकरणिक या अप्राकरणिक ही होते हैं, पर शाब्दी व्यंजना में एक अर्थ प्राकरणिक और एक अर्थ अप्राकरणिक होता है, अत. यहाँ असंबद्धता को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि यहा 'अभेद' व्यंग्य माना जाय।

इतना होने पर भी खण्डन करने वालों का यह कहना है कि यह तो वस्तुत श्लेपालकार से अलकार व्यंग्य का उदाहरण है और यह भेद अर्थशक्ति-मूल ध्वनि में होता है, शब्दशक्तिमूल ध्वनि में नहीं। अत' यहाँ के व्यग्य को शब्द शक्तिमूल कहना ही उचित नहीं है।

इस प्रकार यहाँ तक 'आलोक' कार एव 'प्रकाश' कार के अन्तरालवर्ती मतों का साराश और उनसे स्थापित शब्द शक्तिमूल व्यग्य का मूलोच्छेद किया जा चुका। जब व्यग्य ही समाप्त हो गया, तो एक मात्र उसी के लिये मानी गई शाब्दी व्यजना स्वय उच्छिन्न हो चुकी।

अभिनव गुप्त के अनतर सुप्रसिद्ध आलकारिक मम्मट का स्थान है। उपर्युक्त चारों में से प्रथम मत मम्मट को स्वीकृत जान पड़ता है, क्योंकि जिस

प्रकार प्रथम मत वाले को अप्राकरणिक वस्तु एव (उपमा) अलकार दोनों व्यंग्य रूप से स्वीकृत है, उसी प्रकार मम्मट को भी वे दोनों स्वीकृत है। मम्मट की कारिका है—

'अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरंजनम् ॥ का० प्र० द्वि० उ०

अर्थात् जब अनेकार्थक शब्दों की (अप्राकरणिक अर्थदान में उन्मुख) अभिधा या वाचकता का सयोग आदि के द्वारा जहाँ नियंत्रण हो जाता है वहाँ अवाच्यार्थ के ज्ञान में शब्द के जिस व्यापारका उपयोग होता है, उसे व्यजना कहते हैं।

प्रकाशकार की इसी कारिका की दो व्याख्यायें पंडितराज जगन्नाथ ने बडे विस्तार से की हैं। इन्हीं दोनों व्याख्याओं को हम पंचम एव षष्ठ मत के नाम से उट्टंकित करेंगे।

पंचम मतः—

इस व्याख्यान में शब्दश्रवण तथा अप्राकरणिक या व्यंग्यार्थ की प्रतीति के बीच जो आतर प्रक्रिया होती है, उनका बडा ही क्रमिक उपस्थापन किया गया है। इन लोगों का विचार है कि ऐसे नानार्थक स्थलों में शब्द श्रवण होते ही श्रोता की बुद्धि में सभी अर्थों की उपस्थिति हो जाती और ऐसा होना उचित ही है। कारण यह है कि अर्थोपास्थिति में सकेतग्रह ही कारण है। श्रोता को जब इन सभी अर्थों में शक्ति गृहीत है, तो शब्दश्रवण के अनंतर सभी अर्थों की उपस्थिति अवश्यंभाव्य है। यह प्रथम क्रिया है।

इसके अनन्तर द्वितीय प्रक्रिया यहाँ यह होती है कि श्रोता इन नाना अर्थों की प्राप्ति के बाद सदेह में पड़ जाता है कि इनमें से किन अर्थों का प्रकरण में उपयोग है और किन अर्थों का उपयोग नहीं है?

इस संदेह के निवारण में संलग्न श्रोता प्रकरण का अनुसधान करता है और प्रकरण समझ लेने पर वक्ता का तात्पर्य किन अर्थों मे है, यह ज्ञात होता है तात्पर्य निर्णय के होते होते कई क्षण बीत जाते है, फल यह होता है, पहले पहल जो नाना अर्थों की उपस्थिति (स्मृतिज्ञान) होती है, वह विनष्ट हो जाती है, क्योंकि ज्ञानमात्र 'दो ही क्षणों तक स्थिर रहता है, तृतीय क्षण में विनष्ट हो जाता है। इस प्रकार तात्पर्य-निर्णय के समय तक अर्थस्मृति

समाप्त हो चुकी रहती है। (मध्यवर्ती प्रक्रिया) अब इसी निर्णीततात्पर्य से उन्हीं शब्दों द्वारा पुनः पदार्थों की उपस्थिति होती है। इस दूसरी उपस्थिति की विशेषता पहली उपस्थिति से यह है कि इसमें अप्राकरणिक अर्थों की उपस्थिति नहीं रहती। इस बार केवल प्रकरणोपयोगी अर्थों की ही स्मृति होती है और इन अर्थों से प्रकरण के उपयोगी शाब्दबोध निष्पन्न हो जाता है। इस बार की दूसरी उपस्थिति में जो अप्राकरणिक पदार्थों की उपस्थिति नहीं होती, उसका कारण है—प्रकरण ज्ञान या उससे निर्णीत तात्पर्यज्ञान। इन्हीं में से किसी के द्वारा वाचकता का नियंत्रण हो जाता है, फलत: वे अर्थ नहीं मिल पाते। प्रक्रिया की इस कक्षा में केवल प्राकरणिक अर्थबोध अकेले ही हो पाता है।

व्यंग्यार्थ की प्राप्ति ही अंतिम प्रक्रिया है। प्राकरणिक अर्थबोध हो जाने के अनंतर फिर जो अप्राकरणिक अर्थ की झलक मिलती है, निश्चय ही अभिधा से नहीं मिलती। इस अंतिम प्रक्रिया में अप्राकरणिक अर्थ मिलता है, उसके लिये उसी शब्द की अभिधा मध्यवर्ती प्रक्रिया में प्राकरणिक अर्थ में ही नियंत्रित कर दी गई थी अर्थात् उसे आप्रकरणिक अर्थ की ओर जाने से रोक दिया गया था और जब एक बार यह वेग रोक दिया गया, तो यह वेग निरर्थक गया ही। भाव यह कि शब्द में जब तक पुन. दूसरा व्यापार नहीं होगा, इस अप्राकरणिक अर्थ की तब तक उपलब्धि हो ही नहीं सकती। यह पूर्व नियंत्रित अभिधा से अतिरिक्त व्यापार व्यंजना ही है और इसके बल पर आया हुआ प्राकरणिक अर्थ व्यंग्य।

प्रस्तुत प्रसग में एक शास्त्रीय आपत्ति यह खड़ी की जाती है कि मध्यवर्ती प्रक्रिया में जो दूसरी बार अर्थोपस्थिति होती है, उसका उपाय क्या है? अर्थात् अर्थोपस्थिति होती है पद ज्ञान से और प्रथम अर्थोपस्थिति के समान प्रथम पदज्ञान भी तात्पर्य निर्णय की स्थिति तक विनष्ट हो चुका रहेगा, फिर पदज्ञान के अभाव में मध्यवर्ती या चरम प्रक्रिया में जो अर्थ स्मृत होते हैं, उनका साधन क्या है? अर्थात् उनका साधन पदज्ञान कहाँ है? और नहीं है तो कारण के अभाव में कार्य होता कैसे है?

इसके समाधान में आचार्यों का उत्तर यह है कि तथाकथित सदेह के अनतर जब तात्पर्य ज्ञान (इस पद का इस अर्थ में तात्पर्य है) होता है, तो उसी की कुक्षि में पदज्ञान भी पड़ा रहता है, अतः यही तात्पर्यात्मक पदज्ञान द्वितीय अर्थोपस्थिति में उपाय है।

प्रकाशकार की उक्त कारिका यह प्रथम व्याख्यान है, जो 'एक[1] शक्तिवाद' की दृष्टि से किया गया है। इस मत के अनुसार सयोग, साहचर्य आदि के द्वारा सब अर्थों को प्रदान करनेवाली एक ही अभिधा शक्ति का (मध्यवर्ती प्रक्रिया में) नियंत्रण हो जाता है, अत. (अंतिम प्रक्रिया में) अप्राकरणिक अर्थ के लिये शब्द की दूसरी शक्ति व्यजना का सहारा लेना पड़ता है।

कुछ 'नानाशक्तिवादियों का कहना है कि एक शब्द की उसके नाना अर्थों में नाना शक्तियाँ होती हैं। अत प्रकरण आदि से निर्णीत तात्पर्य ज्ञान प्रसगोपयोगी किसी एक अर्थ की एक ही शक्ति का नियंत्रण करेगा, शेप अर्थ की शेप शक्तियाँ तो नियन्त्रित होगी नहीं, अतः उन अवशिष्ट अभिधा या अभिधाओं द्वारा तो अन्य अप्राकरणिक अर्थ या अर्थों की उपस्थिति होती जायगी, व्यंजना जैसे दूसरे व्यापार की आवश्यकता ही क्या ?

ध्वनिवादी इस शंका का उत्तर यह देता है कि प्रतिबंधक तात्पर्यज्ञान अभिधा-मात्र का प्रतिबंध या नियन्त्रण करता है, न कि केवल प्रकरणोपयोगी एक शक्ति का ही। हां, केवल अभिधा-मात्र का ही नियन्त्रण करता है, शक्तिमात्र का नहीं। उसकी सामर्थ्य व्यंजना के प्रतिबंध में नहीं है। यदि यह प्रतिबधक शक्तिमात्र अर्थात् शब्द की सभी शक्तियों का नियंत्रण कर देता तब तो लाख मूड़ मारने पर भी अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति नहीं हो पाती। विपरीत इसके अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होती है और यह तभी संभव है जब शब्द की सभी शक्तियाँ नियन्त्रित न हों। और वह मान भी लिया जाय कि सभी शक्तियाँ, यहाँ तक कि व्यंजना का भी प्रतिबध हो जाता है, तो व्यजना के ज्ञान को उत्तेजक मान लेने से यह नियन्त्रण ढीला पड़ जायगा और

१—आचार्यों ने नानार्थक शब्दों की शक्ति के सबध में दो 'वाद' उपस्थित किए हैं 'एक शक्तिवाद' एवं 'नानाशक्तिवाद'। 'एक शक्तिवाद' का तात्पर्य यह होता है, कि प्रत्येक नानार्थक शब्द से जो अनेक अर्थ मिलते हैं, उन सब में शब्द की एक ही शक्ति होती है। शब्द की एक ही शक्ति से सब अर्थ मिल जाते हैं। इसके विपरीत 'नानाशक्तिवाद' माननेवालों का विचार यह है कि नानार्थक शब्दों से जो नाना अर्थ मिलते हैं, उनमें से प्रत्येक, शब्द की पृथक् पृथक् शक्ति से प्राप्त होते हैं अर्थात् यहाँ प्रत्येक अर्थ के प्रति शब्द की अलग अलग कई शक्तियाँ होती हैं।

अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति में कोई बाधा न हो सकेगी। इस प्रकार इस अर्थ में भी शब्दशक्तिमूल व्यंग्य की स्थापना है।

इस प्रकार उक्त कारिका के जितने अवयव हैं सबका सविस्तार व्याख्यान कर दिया गया है।

छठाँ मत (या द्वितीय व्याख्यान):—

व्याख्येय कारिका के अवयवों की जैसी ऋजु योजना प्रथम व्याख्यान में हुई है, वैसी द्वितीय व्याख्यान में नहीं हो पाई है। यहाँ पर्याप्त तोड़ मरोड़ किया गया है।

इन लोगों का यह विचार है कि वाक्यार्थ बोध में सर्वत्र चाहे तात्पर्य ज्ञान को कारण न माना जाय, पर जहाँ प्रसंग विशेष में नानार्थक शब्दों का प्रयोग होता है, वहाँ तो प्राकरणिक अर्थबोध के लिये तात्पर्य ज्ञान को अवश्य कारण मानना चाहिए।

प्रथम व्याख्यान से इस व्याख्यान का सबसे पहला अंतर यह है कि ये लोग मध्यवर्ती या द्वितीय अर्थोपस्थिति नहीं मानते। विपरीत इसके इन लोगों का कथन है कि शब्द श्रवण के अनंतर पहली बार जिन नाना अर्थों की प्रतीति होती है, उन्हीं में से जिन अर्थों में तात्पर्य निर्णय होता है, उनको लेकर प्राकरणिक वाक्यार्थ बोध हो जाता है। इस प्रकार पूर्व मत में जिस वाक्यार्थ बोध के लिये एक प्रक्रिया और बढ़ाई जाती थी, उसकी यहाँ आवश्यकता ही नहीं है। इतना ही नहीं, इस क्रिया के कारण पहले व्याख्यान से एक बात और कम हो जाती है। प्रथम व्याख्यान की मध्यवर्ती प्रक्रिया में केवल प्रकरणोपयोगी अर्थों की उपस्थिति के लिए अभिधा का नियंत्रण मानना पड़ता था, अब उसकी भी आवश्यकता नहीं। इन दो बातों के अतिरिक्त तीसरी बात जो ध्यान देने की है, वह यह कि यहाँ तात्पर्यज्ञान ही अभिधेय एव अनभिधेय (व्यंग्य) अर्थों का निर्णायक है, अर्थात् जिस अर्थ में तात्पर्य ज्ञान होता है, वह अभिधेय और जिस अर्थ में तात्पर्य ज्ञान नहीं होता, वह व्यंग्य है।

यहाँ यद्यपि प्राकरणिक अर्थ बोध के लिये पुनः पदार्थोपस्थिति की कल्पना नहीं करनी पड़ती, पर अप्राकरणिक अर्थ बोध के लिए द्वितीय बार अर्थोपस्थिति की कल्पना करनी पड़ती है। तात्पर्यज्ञान केवल प्रसंगोपयोगी अर्थ का बोध

होने पर प्रतिभा विशेष के बल पर कवि का वांछित चमत्कार वहन करनेवाला अप्राकरणिक अर्थ भी प्रतीत होता ही है, अतः इसके लिये दूसरी बार पदार्थोपस्थिति की कल्पना अवश्य करनी पड़ेगी।

अर्थोपस्थिति-मात्र पदज्ञान से होती है, पर कई क्षण बीत जाने के कारण पदज्ञान विनष्ट हो चुका रहता है और तात्पर्य का इस अर्थ में अभाव होने से पूर्वोक्त पद्धति[1] से तात्पर्यात्मक पदज्ञान भी कारण नहीं है। अतः प्रश्न है कि द्वितीय अर्थोपस्थिति में अपेक्षित पदज्ञान कैसे उपलब्ध हो?

इस प्रश्न के एक नहीं तीन उत्तर हो सकते हैं, जिनमें से (१) प्रथम यह है कि नियमानुसार कार्य होने से पूर्व चाहे कारण उपस्थित हो, या कारण का व्यापार दोनों में से कोई भी स्थिति हो, कार्य हो जाता है। इस नियम के अनुसार माना कि प्रस्तुत स्थल में अर्थ बोध रूप कार्य के लिए अपेक्षित पदज्ञान रूप कारण नहीं है, पर प्राथमिक अर्थ स्वरूप (पारिभाषिक) व्यापार तो नियमतः पुनः होने वाली अप्राकरणिक अर्थ बोध से पूर्व स्थित है ही। अतः कार्य के होने में कोई आपत्ति नहीं। (२) दूसरा उत्तर यह है कि वैयाकरण भर्तृहरि के अनुसार पद से जितने पदार्थों की उपस्थिति होती है, वे पदार्थ अपनी कुक्षि में अपने असाधारण धर्म (शक्यतावच्छेदक) को लिये रहते हैं, उसी अपने वाचक शब्द को भी। इस सिद्धांत के सहारे हम स्पष्ट कह सकते हैं कि अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति से जो नियत पूर्व प्राथमिक अर्थबोध रहता है, उसी के साथ पद भी अनुस्यूत रहते हैं, अतः उनका ज्ञान कारण के रूप में स्वयं ही उपस्थित हैं (३) तीसरा उत्तर यह है कि 'आवृत्ति' द्वारा वे ही शब्द पुनः ला दिये जायँ।

(ये दोनों व्याख्यान किस प्रकार 'अनेकार्थस्य' इत्यादि कारिका से संगत हैं, इसका विवेचन प्रकरण में अनपेक्षित होने से और विस्तार-साध्य होने के कारण छोड़ दिए जाते हैं। जिज्ञासा की शांति के लिए रसगंगाधर देखना आवश्यक है)।

उक्त दोनों मतों में जो व्यंग्यार्थ की स्थापना की गई है, स्वयं पंडितराज ने दोनों मतों का विरोध कर वहाँ अप्राकरणिक अर्थ को अभिधेय अर्थ ही सिद्ध करना चाहा और किया भी है। कहने का तात्पर्य यह कि इस रीति

१—देखिए पृ० ६८ पंक्ति ८।

होती ही है, तो इस तात्पर्य ज्ञान को बीच में लटकाने की कोई सार्थकता लक्षित नहीं होती।

इस पर कहा जा सकता है कि तात्पर्य ज्ञान को कारण मानने में व्यजनावादी का अभिप्राय किसी अर्थ को रोकने का नहीं है, वलिक दोनों प्रकार के अर्थों को अभिधेय एव व्यग्य इन दो कोटियों में विभक्त करने का है और वस्तुतः यही वात उक्त व्याख्यान में स्थिर भी की है। अर्थात् जिस अर्थ में तात्पर्य हो, उसे अभिधेय और जिसमें तात्पर्य न हो, उसे व्यग्य कहते हैं। इस स्थिति में यदि तात्पर्यज्ञान को हटा दिया जाय तो उक्त भेद किसी प्रकार स्थिर ही नहीं हो सकेगा।

इस पर भी यह आपत्ति की जा सकती है कि जब सर्वत्र दोनों अर्थों की प्रतीति होनी ही है तो दो कोटियाँ (अभिधेय एव व्यंग्य) ही क्यों बनाई जायँ ? दोनों को अभिधेय ही मान लें तो हानि क्या है ? व्यजनावादी इस अभिधेयार्थ एव व्यंग्यार्थ भेद के स्वीकार करने का प्रयोजन यह बताते हैं कि जो अभिधेय या प्राकरणिक होगा, उसकी प्रतीति पहले हो जायगी और व्यंग्यार्थ की बाद में। यदि दोनों अर्थों को अभिधेय ही मान लिया जाय, तो यह पहले और बाद का क्रम नहीं बन सकेगा। यदि दोनों की प्रतीति अभिधा से ही मान ली जाय तो कोई भी अर्थ पहले प्रतीत हो सकता है। श्लेप अलंकार में यही तो होता है, कि दोनों अर्थ वाच्य होने से जो जैसे चाहें—प्रतीत हो सकते हैं, उनके लिये कोई नियम नहीं है। शाब्दी व्यजना के स्थल में यह स्थिति नहीं है। श्लेष में दोनों या अनेक अर्थ या तो प्राकरणिक ही होंगे अथवा अप्राकरणिक ही, पर शाब्दी व्यजना में एक प्राकरणिक होगा और दूसरा अप्राकरणिक। अत यहाँ प्राकरणिक प्रथमत और अप्राकरणिक बाद में प्रतीत हो इसके लिये तात्पर्यज्ञान को अभिधेय एव व्यग्य के विभाजन में निमित्त मानना ही होगा।

इतने पर भी वावदूक खडनकर्ता शात नहीं होता, वह कहता है कि मत हों दोनों अर्थ क्रम से प्रतीत, दोनों व्युत्क्रम से या मनमाने ढग से ही श्लेष की भाँति प्रतीत हों, बिगड़ क्या जाता है ? प्रतीत हो जाने के अनतर तात्पर्यज्ञान स्वय निर्णय कर देगा कि किस अर्थ को प्रसग में प्रामाणिक मानें और किस अर्थ को प्रामाणिक न मानें ? तात्पर्य ज्ञान का कार्य वस्तुत

यही है कि प्राप्त अर्थों की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता बतायें, कुछ यह नहीं कि उससे अभिधेय एवं व्यग्य रूप अर्थ की दो कोटियाँ निर्धारित की जायँ ? साराश यह कि दोनों अर्थ अभिधेय ही माने जाँय, एक को अभिधेय और एक को व्यंग्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार उक्त दो विकल्पों में से प्रथम विकल्प की मान्यता व्यग्यार्थ की सिद्धि में अनुकूल नहीं है।

दूसरे विकल्प में यह कहा गया है कि व्यंजना का उल्लास कहीं कहीं ही होता है, सर्वत्र नहीं। इस पक्ष में यह जिज्ञासा सहज ही जगती है कि आखिर व्यंजना का उल्लास कहीं ही क्यों होता है ? इसका कारण क्या है ? इस प्रश्न के समाधान में यह कहना कि कवि का तात्पर्य अप्राकरणिक अर्थ में कभी कभी ही और कहीं-कहीं ही होता है, अत' जहाँ तात्पर्य होता है, वहीं व्यंजना का उल्लास होता है सर्वत्र नहीं—सर्वथा ठीक नहीं है। कारण यह है कि इस मत का प्रस्थापक तात्पर्य ज्ञान को अभिधा में सहायक मानता है, व्यंजना में नहीं। अत व्यजना के इस संकोचशील उल्लास में तात्पर्यज्ञान तो कारण नहीं हो सकता।

अत दूसरा कारण दिया जाता है—श्रोता की शक्ति विशेप। अर्थात् व्यजना का उल्लास ग्राहक की प्रतिभा विशेप पर निर्भर है, वह प्रतिभाशील है, तब तो व्यजना का उल्लास हो सकता है और यदि प्रतिभाशील नहीं है तो व्यजना का उल्लास कभी भी नहीं हो सकता। सारांश यह कि प्रतिभा विशेप ग्राहक या श्रोता मात्र में सभव नहीं, अत. व्यजना का उल्लास भी सर्वत्र सभव नहीं। यह प्रतिभा विशेप भी सर्वथा एवं सर्वदा नानार्थ स्थलों में नहीं जगती, बल्कि वहीं जगती है, जहाँ कुछ चमत्कार हो। यह चमत्कार कहीं कहीं ही सभव है, अतः प्रतिभा भी कहीं कहीं ही कार्यशील होती है, फलत व्यजना का भी कहीं कहीं ही उल्लास होता है, सर्वत्र नहीं। खडनकर्ता इस पक्ष में दो असुविधायें बताता है, जिनमें से पहली यह कि उक्त 'शक्ति विशेप' को नियन्त्रित अभिधा का ही उल्लासक क्यों नहीं मान लिया जाता ? इससे लाभ यह होगा कि वह नियन्त्रणमुक्त तो अभिलषित अप्राकरणिक अर्थ भी दे देगी और एक नवीन शक्ति की कल्पना करने से भी मुक्ति मिलेगी। दूसरी असुविधा अथवा दुरुत्तर प्रश्न यह खड़ा होता है कि उत्तम से उत्तम प्रतिभा रखने वाला व्यक्ति भी यदि अप्राकरणिक अर्थ की अभिधा से परिचित नहीं है, तो लाख सूड़ मारे, अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति उसे हो नहीं सकती। इसका अर्थ यही हुआ कि अप्राकरणिक अर्थ के ज्ञान में अभिधा का ज्ञान

कारण है, कुछ शक्तिविशेष नहीं। अत: जब अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति में व्यंजना कारण ही नहीं तो उसके उल्लास में शक्तिविशेष को कारण मानने से लाभ ही क्या होगा ? इस प्रकार यह उत्तर भी ठीक नहीं।

इस पर से यह कहा जाय कि अप्राकरणिक अर्थ के ज्ञान में जो व्यंजना कारण है, उसका उल्लासक 'शक्ति विशेष' नहीं, बल्कि अभिधा ही है अर्थात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति में सकेतग्रह आवश्यक है। सकेतग्रह के अभाव में अप्राकरणिक व्यंग्यार्थ कभी भी प्रतीत नहीं हो सकता। पर व्यंग्यार्थ प्रतीति वहीं हो सकती है, जहाँ संकेतग्रह हो—यह नियम दो चार स्थलों के लिए ठीक होले, पर सर्वत्र के लिये ठीक नहीं हो सकता। शाब्दी व्यंजना के स्थलों में जो व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है, वहाँ चाहे यह नियम काम कर जाय, पर आर्थी व्यजना का व्यंग्यार्थ कहाँ संकेत ग्रह की अपेक्षा करता है ? और इस पर यदि उक्त नियम को केवल शाब्दी व्यंजना के स्थल में ही माना भी जाय, तब भी यह बड़ी अच्छी तरह कहा जा सकता है कि जब शाब्दी व्यजना में व्यंग्यार्थ या अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति में अभिधा ही कारण है, सकेत ग्रह ही कारण है, तो बीच में निरर्थक व्यजना के उल्लास स्वीकार का प्रयोजन ही क्या ?

व्यंजनावादी अब भी शाब्दी व्यजना के स्थल में व्यंग्यार्थ की प्रतीति में सकेतग्रह को कारण मानता हुआ भी उसे ही पर्याप्त नहीं मानता, अत. व्यंजना केउ ल्लास को अपेक्षित मानता है। केवल संकेतग्रह ही को पर्याप्त न मानने का कारण यह है कि अर्थ किसी न किसी शब्द की शक्ति से ही मिलेगा और सकेतग्रह कोई शक्ति नहीं है और अभिधा का सहायक होने से औपचारिक रूप में उसे शक्ति मानें भी, तो वह अभिधा ही हो सकती है, परंतु अभिधा प्रकरण से नियन्त्रित होने के कारण अप्राकरणिक अर्थ के प्रत्यायन में समर्थ नहीं है, अत सकेतग्रह के अतिरिक्त व्यंजना को भी मानना आवश्यक है। पर खंडनकर्ता कहता है कि इस द्वितीय व्याख्यान में नियंत्रण की बात पहले ही खंडित हो चुकी है। अतः व्यजना के उल्लास की कल्पना निरर्थक ही है, अभिधा से ही द्वितीय अर्थ की उपस्थिति मान लेनी चाहिए।

इतना होने पर भी व्यंजनावादी अपना आग्रह नहीं छोड़ता और कहता है कि नानार्थक स्थानों में जो अनेकविध अर्थ प्रतीत होते हैं, वे दो प्रकार से प्रतीत होते हैं—निर्बाध एवं सबाध। उक्त उदाहरण[1] (राजा एव हाथी का

१—देखिए पृ० ४८।

वर्णन साथ साथ जहाँ श्लिष्ट पदों से किया गया है) में जो अप्राकरणिक अर्थ प्रतीत होता है, वहाँ उक्त पद्धति से यदि अभिधा काम कर भी जाय, तो भी बाधपूर्वक प्रतीत होने वाले अप्राकरणिक अर्थों में अभिधा कैसे आ सकती है ? क्योंकि बाधित अर्थों की प्रतीति कराने में अभिधा कभी भी उपयोगी नहीं होती। उदाहरणार्थ यदि कोई कहे कि 'आपके दर्शन से हमारी मनुष्य योनि सफल हो गई—तो अभिधा से जो अर्थ आता है, वह तो स्पष्ट ही है। यहाँ अभिधा के द्वारा जो प्रसगोपयोगी अर्थ मिलता है, वह यही है कि आप के दर्शन से हमारा मनुष्य जन्म सफल हो गया यहाँ एक अप्राकरणिक अश्लील अर्थ भी संभव है और वह यह है कि 'आपके दर्शन से ही हमारी मनुष्य योनि (मानवीय गुह्याग) सफल (तृप्त) हो गई। 'श्रोता अच्छी तरह जानता है कि वक्ता का तात्पर्य इस अप्राकरणिक अश्लील अर्थ में कभी नहीं है और यही तथ्य द्वितीय अर्थ की प्रतीत में बाधक है। बाधक होते हुए भी उस अर्थ की प्रतीति होती ही है अतः निश्चय है कि यह सबाध अर्थ अभिधा से नहीं, किंतु व्यजना से ही मिलता है। अभिधा बाधित का बोध नहीं करा सकती, जबकि व्यजना बाधित, अबाधित सबका बोध करा सकती है। सारांश यह कि ऐसे नानार्थक स्थलों में बाधित अर्थ कहीं कहीं ही होता है, और वहाँ उस अर्थ के बोध के लिये व्यजना का उल्लास आवश्यक होगा।

व्यंजनावादी के समान खंडनकर्ता भी साधारण नहीं है, वह क्यों हार माने ? अब भी वह अपने सिद्धांत को पुष्ट करता हुआ और विरोधी के उक्त सिद्धात का खडन करता हुआ कहता है कि यदि बाधित स्थलों में अन्यार्थ की प्रतीति व्यजना से ही स्वीकार कर ली जाय, तब तो अलकार मात्र में व्यजना का उल्लास मानना होगा। कारण यह है कि जितने अलंकार वाच्य कहे जाते हैं, उन सबमें कुछ लोकोत्तरता रहती ही है, जो लौकिक दृष्टि से बाधित है। भामह ने कहा ही है कि अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति सभी अलंकारों के मूल में रहती है। अत जब अलकार मात्र में बाध संभव है, तब तो यहाँ सभी अलंकार व्यंग्य ही हो जायँगे। पर अलकारिकों को यह मत जैसे यहाँ बिलकुल मान्य नहीं है, वैसे ही नानार्थक स्थल में प्राप्त होने वाली सबाधा अर्थों के प्रति भी व्यजना का उल्लास मानना युक्तियुक्त नहीं है।

इस प्रकार द्वितीय व्याख्यान द्वारा सिद्ध व्यंग्यार्थ की भी सत्ता समाप्त हो गई और व्यग्यार्थ की असत्ता में व्यजना की आवश्यकता ही क्या ? यह प्रश्न बना ही रह जाता है।

सप्तम मत (व्यंजना के उपस्थापन का नवीन प्रयास):—

आलोककार की कारिका पर आश्रित चारों मतों तथा मम्मट की कारिका के दोनों व्याख्याओं द्वारा साधित व्यग्यार्थ तथा व्यंजना का खंडन किए जाने पर पडितराज जगन्नाथ ने द्वितीय आनन में एक नवीन कारिका की रचना की और नवीन स्थल में शाब्दी व्यजना की स्थापना की। कारिका यों है—

'योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियन्त्रिते।
धिय योगस्पृ शोऽर्थस्य या सूते व्यजनैव सा॥

अर्थात् योगरूढ शब्दों में जब रूढ़ि शक्ति से अवयव शक्ति का नियन्त्रण हो जाता है और तब भी अवयव शक्ति से प्राप्त होने वाले अर्थों का ज्ञान होता है, तो वहाँ इस प्रकार के अर्थज्ञान में उपयोगी शक्ति व्यजना ही है। यह व्यजना शब्द से अन्वय व्यतिरेक रखती है अत इसे शाब्दी कहते हैं।

एक उदाहरण लीजिए—'जिस काल में चपलायें अबलाओं की लक्ष्मी का अपहरण कर वारिवाहों के साथ निरतर रमा करती हैं, वह काल उपस्थित है।'

इस उदाहरण में 'अबला' एव 'वारिवाह' आदि पद योगरूढ है। यहाँ इन शब्दों से दो अर्थ निकलते हैं और इन दोनों में एक प्राकरणिक है और दूसरा अप्राकरणिक।

प्राकरणिक अर्थ —नायिकाओं के सौंदर्य को छीनती हुई विजलियाँ जिस समय या ऋतु विशेष में मेघमडल के साथ सदैव विलास करती रहती हैं, वह काल आ गया है।

अप्राकरणिक अर्थः—दुर्बलों की संपत्ति का हरण कर जिस काल में स्वैरिणी नायिकाएँ कहारों (वारिवाहक) के साथ रमण किया करती हैं, वह समय आ गया है।

प्रस्तुत दोनों अर्थों के संपादन में अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण शब्द है—अबला एव वारिवाह। ये दोनों शब्द योगरूढ हैं। स्मरण रखने की बात है कि ऐसे योगरूढ पदों की अभिधा (योगरूढ़ि) केवल उसी एक अर्थ में होती है, जो उसकी रूढ़ि शक्ति से सिद्ध है। रूढ़ि शक्ति से 'अबला' एव 'वारिवाह' शब्द क्रमश प्रसगोपयोगी 'नायिका' एव 'मेघ'—ये ही दोनों अर्थ प्राप्त हैं।

अप्रासांगिक अर्थ में उपयोगी 'दुर्बल' एवं 'कहार' वाला अर्थ उक्त योगरूढ़ शब्द की योगरूढ़ि (अभिधा) शक्ति से नहीं मिला है। निर्बाध प्रतीत होने से वह अर्थ लक्षणा का कार्य हो नहीं सकता, अतः फलस्वरूप किसी अन्य वृत्ति का ही कार्य है और वह अन्य वृत्ति होगी 'व्यंजना'। इस व्यंजना का अन्वयव्यतिरेक शब्द से है, अतः यहाँ शाब्दी व्यंजना माननी होगी।

खंडनः—

आधुनिक विद्वान इस मत का भी खंडन करते हैं। उनका भाव यह है कि पंडितराज ने शाब्दी व्यंजना का जो यह नवीन स्थल (योगरूढ़ शब्द) कल्पित किया है, वह भी उपयुक्त नहीं है। अनुपयुक्तता का कारण बताते हुए उन्होंने लिखा है कि पंडितराज की इस व्यवस्था से अप्राकरणिक अर्थ सदैव अवयव लभ्य होना चाहिए। पर कुछ स्थल ऐसे हैं, जहाँ उनका यह नियम नहीं घटता। आगे लोचनकार अभिनव गुप्तपाद का एक उदाहरण[१] देते हुए वहीं इस नियम का अतिचार दिखाया है—उदाहरण अनूदित होकर निम्न-लिखित है।

'इसी बीच कुसुमसमय युग का उपसंहार करता हुआ फुल्लमल्लिका धवलाट्टहास ग्रीष्म नामक महाकाल का विजृम्भण हुआ।' इस वाक्य से दो अर्थ निकलते हैं।

प्रसंगोपयोगी अर्थः—इसी बीच बसंत ऋतु के दोनों महीनों का उप-संहार करता हुआ खिली हुई मल्लिका से पूरी बाजार को शुभ्र वर्ण का बनाता हुआ ग्रीष्म का भीषण समय उपस्थित हुआ।

अप्रासंगिक अर्थः—कृत, त्रेता आदि युगों का संहार करता हुआ वह भयानक रुद्र देवता प्रकट हुआ, जिसका अट्टहास प्रफुल्ल मल्लिका सा शुभ्र वर्ण का है। उक्त वाक्य से प्राप्त इन दोनों अर्थों की पारस्परिक असंबद्धता दूर करने के लिये इनमें परस्पर उपमानोपमेय भाव संबंध मान लेना चाहिए और इस प्रकार दोनों अर्थों में जो उपमा की प्रतीति होती है, वह भी व्यंग्य ही है।

१—'अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासः महाकालः। ध्वन्यालोक, द्वि० उ०

यहाँ 'महाकाल' शब्द योगरूढ़ है। इस शब्द की योगरूढ़ि 'देव विशेष' के अर्थ में है, पर यह अर्थ रसगंगाधर के नियमानुसार प्राकरणिक नहीं, वल्कि अप्राकरणिक है। इसके विपरीत जो प्रसंगोपयोगी अर्थ है, वह योग शक्ति का प्राप्य है। यहाँ पंडितराज के नियम का उल्लघन स्पष्ट है। जब पडितराज का मत ही दूपित है तो उस पर निर्भर उदाहरण या शाब्दीव्यंजना का प्रपच भी शिथिल ही है।

अष्टम मतः—

पडितराज के मत खडन का मूल कारण उनके उदाहरण को देखकर निश्चय किया हुआ नियम है। इसी नियम को दूपित कर उनके मत का खंडन किया गया है। पर हमारा अपना विचार यह है कि यह नियम पडितराज का न तो बनाया हुआ ही है और न यह नियम उन्हें वाछित ही है। इस नियम के भग हो जाने से रसगगाधर के अनुसार प्राप्त अप्राकरणिक अर्थ अभिधेय तो नहीं हो जायगा। इस नियम के भग हो जाने से योगरूढ़ शब्द अपनी रूढ़िनिरपेक्ष योग से जो अर्थ देंगे, वे अर्थ अभिधेय हो जाय, ऐसी कोई युक्ति लक्षित नहीं होती।

व्यजनाभजक को पूछना यह उचित है कि ध्वन्यालोककार का 'महाकाल' शब्द जो अप्राकरणिक अर्थ दे रहा है, वह व्यग्य कैसे ? वस्तुत नियम यह है कि जो अप्राकरणिक हो, वह व्यग्य हो और जो प्राकरणिक हो, वह वाच्य हो, कुछ यह नहीं कि सब जगह अप्राकरणिक अवयव शक्ति का ही प्राप्य हो, जैसा कि खडनकर्ता का विचार है। यह बात ध्वन्यालोककार के उदाहरण में अवश्य विचारणीय है कि यदि 'महाकाल' शब्द योगरूढ़ है, तो उसकी योगरूढ़ि शक्ति ही अभिधा शक्ति है, अवयव शक्ति नहीं और प्राकरणिक अर्थ, जिसे अभिधेय होना ही चाहिए, वह अवयव शक्ति से प्राप्य है, अतः उसे अभिधेय कहा नहीं जा सकता। विपरीत इसके अप्राकरणिक अर्थ योगरूढ़ि से प्राप्त होने के कारण अभिधेय तो रहा है, जब कि नियमत. उसे व्यग्य होना चाहिए। यह उलट फेर कैसे सुलझे ? विचारणीय यह है।

लोचनकार अभिनव गुप्त पाद ने स्वयं इस प्रश्न का उत्तर दिया है। उन्होंने बताया है कि यहाँ ऋतुवर्णन का प्रकरण है और इसका प्रकरण होने से प्रकरणोपयोगी अर्थ ऋतुपरक है। यद्यपि 'योगरूढ' शब्दों में यह होता

है कि 'योगाद्रूढ़िर्बलीयसी' के अनुसार सामान्यतः रूढ़ि शक्ति अवयव शक्ति को दबा देती है, किंतु यह वहीं होता है, जहाँ केवल योग और रूढ़ि की ही बात हो, इन्हीं दोनों का झगड़ा हो। जहाँ पर प्रकरण योग शक्ति के पक्ष में होता है, वहाँ रूढ़ि योग शक्ति[1] को दबा नहीं पाती। फलत. ऐसे स्थलों में योगरूढ़ शब्दों की अवयव शक्ति प्रकरण की सहायता पाकर अर्थ का उपस्थान अभिधा के ही स्वरूप में करती है और प्राकरणिक अर्थ का बोध कराकर इस शब्द की अभिधा शक्ति कृतकृत्य हो जाती है, इसके[2] अनतर जो अर्थ प्राप्त होता है, वह ध्वनन व्यापार से। अर्थात् ऐसे स्थलों में योगरूढ़ शब्दों का सामान्य नियम भग हो जाता है। यहाँ योगरूढ़ि अभिधा नहीं होती अत. इस शक्ति प्राप्त अप्राकरणिक अर्थ भी अभिधेय नहीं होता, किंतु व्यग्य ही होता है।

इस प्रकार जब द्वितीय या अप्राकरणिक अर्थ व्यग्य हो गया तो इन दोनों अर्थों को सबद्ध करनेवाली उपमा भी व्यग्य हो गई। इन दोनों अर्थों में उपयोगी व्यजना शब्द के साथ सम्बद्ध होने के कारण शाब्दी हुई।

रसगगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ से पूर्व एक विचार प्रसिद्ध दार्शनिक अप्पय[3] दीक्षित का भी है। इनका कहना है कि प्रकाशकार ने अपनी शाब्दी व्यंजना की स्थापना जिस कारिका (अनेकार्थस्य शब्दस्य) से की है उसका संबंध केवल नानार्थक शब्दों के प्रयोगस्थ में व्यंग्य होने वाली उपमा मात्र से ही है, कुछ अप्राकरणिक अर्थ को भी लेकर नहीं। अप्राकरणिक अर्थ अभिधेय ही है। श्लेष से इस स्थल की विशेषता यह है कि श्लेष में यहाँ की सी स्थिति नहीं होती। श्लेष में दोनों अर्थ या तो प्राकरणिक ही होंगे अथवा अप्राकरणिक ही। और श्लेष से इसका अंतर सिद्ध करने का बहुत आग्रह हो ही तो इसे गूढ़ श्लेष कह लें। इसका अर्थ अप्राकरणिक है केवल इतने मात्र को लेकर व्यग्य कहना ठीक नहीं है।

पडितराज जगन्नाथ ने इस मत का भी खडन किया है। अप्पय दीक्षित

१—'रूढिर्योगापहारिणीति तु प्रकरणाद्यभावे'

—वै भू० दर्पण टीका

२—'अत्र ऋतुवर्णनप्रस्तावनियन्त्रिताभिधाशक्तयः, अतएव 'अवयवप्रसिद्धेः समुदाय प्रसिद्धिर्बलीयसी' ति न्यायमनाकुर्वतो महाकाल प्रभृतयः शब्दाः एतमेवार्थमभिधाय कृतकृत्या एव। तदनन्तरमर्थावगतिर्ध्वनन व्यापारादेव।'

—लोचन

३—कुवलयानद।

का मत मौलिक नहीं है, बल्कि प्रकाशकार की पूर्वोक्त कारिका (अनेकार्थस्य शब्दस्य) का यह एक व्याख्यान है। अप्पय का शाब्दी व्यजना के संबंध में जो मत है वह दीक्षित जी की बुद्धि के अनुसार प्रकाशकार का अभिप्राय है। पडितराज का विचार है कि प्रकाशकार की कारिका से दीक्षितसंमत सिद्धात कभी नहीं निकल सकता। कारण यह है कि दीक्षित जी ने अप्राकरणिक अर्थ को भी अभिधेय मान लिया है और उसके अभिधेय हो जाने पर प्रकाशकार की नियन्त्रण वाली (वाचकत्वे नियन्त्रिते) उक्ति कैसे चरितार्थ होगी? यह द्वितीय या अप्राकरणिक अर्थ ही है, जिसकी ओर अभिधा उन्मुख होती है, और उसका नियत्रण सयोग आदि करते हैं। यदि वह अप्राकरणिक अर्थ भी अभिधेय रूप से वाछित हो तो अभिधा के नियन्त्रण का फल ही क्या है? इन दो अर्थों के अतिरिक्त एक तीसरा अर्थ 'उपमा' अवश्य है, पर वह शब्द की शक्ति अभिधा का विषय नहीं है, क्योंकि उपमा का वाचक कोई भी शब्द यहाँ गृहीत नहीं है। इस प्रकार इस स्थल के जो तीन अर्थ हैं—प्राकरणिक, अप्राकरणिक एव उपमा, उनमें दो को अभिधेय होना है, तीसरे में अभिधा की गुजाइश ही नहीं है, स्थिति के नियन्त्रण का फल क्या है? इसका फल तो तब होता, जब किसी अर्थ की प्राप्ति में अभिधा उन्मुख होती, और उसका उन्मुख होना वाछित न होता, पर यहाँ तो कोई ऐसी स्थिति ही नहीं सभव है। यह 'नियन्त्रण' की उक्ति तब सार्थक होती, जब द्वितीय अर्थ को अभिधेय न मानना हो, पर अप्पय दीक्षित इस मान्यता के विरुद्ध हैं। फलतः उनकी बुद्धि से प्रकाशकार का जो अभिप्राय लगाया गया है, वह कभी भी ठीक नहीं है। प्रकाशकार की कारिका की सगति तभी लग सकती है जब अप्रकरणिक अर्थ को अभिधेय न मानकर व्यंग्य ही माना जाय।

इस प्रकार ध्वन्यालोककार की कारिका पर लोचन के जिन चार मतों द्वारा व्याख्यान उपस्थित किया गया है, प्रकाशकार की कारिका पर पंडितराज द्वारा जिन दो व्याख्यानों एव अप्पय दीक्षित का अभिप्राय चर्चित किया गया है, रसगंगाधरकार की नवीन कारिका द्वारा जो व्यजना-परक व्याख्यान टंकित किया गया है, उन सबकी सागोपाग सलीक्षा द्वारा अत में नानार्थक स्थलों से प्राप्त अप्राकरणिक अर्थ तथा उपमा को शाब्दी-व्यजना का विषय समर्थित किया गया। यहाँ तक शाब्दी व्यजना की सिद्धि एव पूर्ण प्रतिष्ठा हुई।

———

पंचम परिच्छेद

अभिधामूला आर्थी व्यंजना

तृतीय परिच्छेद में व्यजना के सामान्य स्वरूप पर विचार किया जा चुका है और उसके तीन प्रभेदों में से शाब्दी-व्यंजना की चर्चा भी पूर्व-अध्याय में हो चुकी। संप्रति, व्यजना के द्वितीय प्रभेद 'आर्थी व्यजना' का विचार इस परिच्छेद का विषय है। 'आर्थीव्यजना' जिस व्यंग्यार्थ के उपयोग में आने वाली शक्ति है, वह नानार्थक शब्दों में रहने वाली नहीं है। ऐसे स्थलों के वाक्य श्लिष्ट तो होते ही नहीं और उनके साथ यह भी शर्त नहीं है कि उन्हीं शब्दों के रहने पर ('शाब्दी-व्यंजना' के स्थल की भाँति) व्यंग्यार्थ लब्ध हो सके। यहाँ के व्यजक शब्दों में पर्याय का प्रयोग कर देने पर भी जब तक मूल शब्द का अर्थ बचा रहेगा, तब तक व्यंग्यार्थ की प्रतीति में कोई बाधा नहीं आ सकती। सारांश यह कि यहाँ के व्यंग्यार्थ का अन्वय-व्यतिरेक जितना अर्थ से है, उतना शब्द से नहीं। अत. नानार्थक स्थलों में जिस प्रकार व्यंग्यार्थ या व्यंजना का सबंध शब्द से होने के कारण उसे शाब्दी कहा जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी व्यंग्यार्थ एव व्यंजना का संबध अर्थ से होने के कारण इसे 'आर्थी व्यजना' कहा जाता है। यहाँ की व्यंजना इसलिए भी 'आर्थी' कही जाती है कि वह अर्थ का व्यापार है।

इस 'आर्थी व्यजना' के स्थलों में जो अर्थ व्यजक होते हैं, उनमें व्यंजन सामर्थ्य का आधान कराने वाले कई तत्व होते हैं। इन सामर्थ्याधायक तत्वों की चर्चा करने से पूर्व व्यंजक अर्थ कितने प्रकार के होते हैं—यह देख लेना चाहिए। प्रकाशकार मम्मट ने कहा है कि प्राय. सभी प्रकार के अर्थ व्यंजक होते हैं। सभी प्रकार के अर्थों से हमारा तात्पर्य—वाच्य, लक्ष्य एवं व्यंग्य इन तीनों अर्थों से हैं। इन अर्थों में अन्य (व्यंग्य) अर्थ के बोधन की क्षमता पैदा करने वालों अर्थों में कुछ का परिगण आचार्यों ने किया है। उदाहरणार्थ—वक्ता, बोद्धव्य (श्रोता या जिसको लक्ष्य में रखकर वाक्य का उच्चारण किया जाता है) काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य का सान्निध्य, प्रस्ताव, देश, काल तथा चेष्टा का वैशिष्ट्य—ही उक्त प्रकार के अर्थों में वह सामर्थ्य पैदा करता है, जिससे वे अवांतर अर्थ पैदा कर पाते है। इन निमित्तों के होते हुए भी

शब्दों के द्वारा ही बुद्धि में उपस्थित हो पाया हो, (ii) दूसरे यह कि वह शब्द की भी अभिधा, लक्षणा एव तात्पर्य शक्ति से उपलब्ध न हो सका हो (iii) तीसरे यह कि वह अर्थ व्यजक के सामर्थ्य से आया हो, मनमाना और हठात् न लाया गया हो। इन तीनों दृष्टियों से जब हम उक्त अर्थ की परीक्षा करते हैं (१) तो हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस अर्थ की प्राप्ति स्वैरिणी नायिका द्वारा प्रयुक्त शब्दों से ही हुई है, (२) दूसरे यह कि इस अर्थ में उक्त शब्दों का सकेत न होने के कारण अभिधा तो काम कर नही सकती। 'तात्पर्य केवल दो या अनेक अभिधेय पदार्थों के पारस्परिक सबध को बोधित करती है, और यह अर्थ दो अभिधेय पदार्थों का सबध नहीं है, अत व्यग्यार्थ तात्पर्य वृत्ति का भी साध्य नहीं है। वाच्यार्थ में किसी प्रकार का 'बाध' आदि न होने से अपने कारण के अभाव में लक्षणा भी नहीं हो सकेगी (३) तीसरे यह कि वाच्यार्थ की सामर्थ्य है इस व्यग्यार्थ के बोधन में, ऐसा नहीं कि हठात् खीचा गया हो। अत किसी अर्थ को 'व्यंग्य' होने में जितनी शर्तें अपेक्षित हैं, वे सब वहाँ उपस्थित हैं। इसी अर्थ में उपयोगी शक्ति 'व्यजना' शक्ति है।

इस व्यंजना वृत्ति के द्वारा रस, वस्तु एव अलकार—तीन प्रकार के अर्थ लाए जाते हैं। जहाँ तक 'रस' की बात है वह वाचक शब्दों द्वारा अर्थात् शब्दों की अभिधा शक्ति से किसी तरह प्राप्त नहीं हो सकता। कारण यह है कि 'रस' की प्रतीति न तो उसके समान्याभिधायी 'रस' शब्द के प्रयोग से हो पाती है और न तो विशेषाभिधायी 'शृगार, वीर' आदि शब्दों के ही प्रयोग से हो पाती है। 'रस' की प्रतीति तो तभी हो सकती है, जब उसके विभाव, अनुभाव एव सचारियों का प्रयोग हो। ये विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी रस के व्यजक कहे जाते हैं, वाचक नहीं। जहाँ कहीं इन व्यजक उपकरणों के साथ 'रस' आदि शब्दों का प्रयोग हो भी जाता है, वहाँ भी इस रस की प्रतीति रसादि वाचक शब्दों की महिमा से नहीं होती, बल्कि उक्त व्यजक सामग्री से ही उसकी प्रतीति हो पाती है। इस प्रकार 'रस' की सत्ता का (अन्वय व्यतिरेक या) होना न होना विभावादि व्यंजक सामग्री के होने न होने पर निर्भर है। अत तीन प्रकार के व्यग्यार्थों में से रस तो कभी भी अभिधेय नहीं हो सकता, रहे वस्तु और अलंकार। ये वाच्य भी होते हैं और व्यग्य भी।

इन तीनों प्रकार के प्रतीयमान अर्थों की सत्ता एवं उनकी प्रतीति में अपेक्षित व्यजना के प्रति विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार की आपत्तियाँ

उठाई हैं, यद्यपि इन आपत्तियों में से कुछ व्यंजना वादियों के अपने मस्तिष्क की मौलिक या संभावित उपज भी हैं। इस अध्याय में इन सबका सांगोपाङ्ग विचार होगा।

आनंदवर्द्धन ने प्रधानतः व्यंग्य अर्थ के निराकरण में तीन मतों का उल्लेख किया है—(i) अभाववाद (ii) भक्तिवाद (iii) अनाख्येयवाद। इनके अतिरिक्त साहित्यदर्पण, लोचन, काव्य प्रकाश में भी कुछ भिन्न भिन्न प्रकार की आपत्तियाँ सगृहीत हैं। स्वयं ध्वन्यालोक में उक्त तीन विचारों के अतिरिक्त भी तृतीय उद्योत में व्यंजना के विरोध में कई एक तर्कों का संकलन है। भट्ट नायक, कुंतक, महिम भट्ट भी प्रधान व्यंग्य (ध्वनि) को अतर्क-प्रतिष्ठ बताते हैं। दार्शनिकों में मीमांसक, वेदान्ती नैयायिक एवं कुछ वैयाकरण भी व्यजना में पूर्णतः अरुचि व्यक्त करते हैं। क्रमशः इन सभी लोगों के विचारों को देखा जायगा और विचार के अनतर सिद्धांत मत की प्रतिष्ठा की जायगी।

(१) सबसे पहले हम 'अभाववाद' की ही चर्चा छेड़ते हैं। अभाववादियों का कहना यह है कि (प्रधान रूप से) व्यग्य (ध्वनितत्व) कोई वस्तु ही नहीं है। क्योंकि यदि यह कुछ होता और उसका काव्य से संवध होता, तो निश्चय ही काव्य की चारुता के संपादकों में वह भी एक होता। इन लोगों ने विचारपूर्वक यह स्थिर किया है कि चारुताधायक तत्व सब दो ही हैं—अलंकार एव गुण। बात यह कि चारुता शब्दार्थमय काव्य में दो प्रकार[1] की ही हो सकती है—(i) शब्दार्थ के स्वरूप में रहने वाली (ii) या उनकी संघटना में रहने वाली। वे तत्व जो शब्द एवं अर्थ के स्वरूप को चारु बनाते हैं, उन्हें क्रमशः शब्दालकार या अर्थालंकार कहा जाता है। इनकी सघटना में चारुता के आधायक जो तत्व हैं, उन्हें गुण कहा जाता है। वामनाचार्य के मत से ये गुण भी दो प्रकार के होते हैं—शब्द गुण एव अर्थगुण। यद्यपि इन दो तत्वों से अतिरिक्त वृत्ति एव रीति का नाम भी चारुताधायक तत्वों में सुना जाता है, तथापि विचारत. उनमें से रीति तत्व का अन्तर्भाव अलकारों में एवं वृत्ति तत्व का अंतर्भाव गुणों में कर लिया जाता है। इस प्रकार चारुताधायक तत्वों में केवल गुणों तथा अलंकारों का ही काव्य से सवंध है। ध्वनि नाम की ऐसी कोई वस्तु आजतक नहीं सुनी गई। अत' ध्वनि यदि काव्य से संवद्ध एवं चारुताधायक तत्व के रूप में ध्वनिवादियों की

१–द्विविध हि चारुत्वम्-स्वरूपनिष्ठं, सघटनानिष्ठ च। ध्व० लो० लो०।

कोई चीज है, तो वह उक्त पद्धति से कुछ नहीं है। ऊपर के विचार से स्पष्ट है कि गुण एव अलकार से भिन्न ऐसी कोई वस्तु सर्वथा नहीं है।

(२) इन अभाववादियों का एक दूसरा पक्ष भी है, जो केवल परंपरा की दुहाई देने वाला है। इन लोगों का कहना यह है कि यदि 'ध्वनि' कोई वस्तु होती, तो आज तक इतने तीव्र प्रतिभा सपन्न लक्षणकार हो चुके, क्या किसी की बुद्धि में यह बात न आती? कहीं तो किसी ने किसी रूप में उसकी चर्चा की होती? ध्वनिवादियों का काव्य-स्वरूप परंपरा से आते हुए प्रसिद्ध-प्रस्थान का अतिक्रमण करता है और उन लोगों द्वारा निर्धारित काव्य के सामान्य रूप की भी परिधि में नहीं आता। परपरा स्वीकृत काव्य-सामान्य के लक्षण का ही लक्ष्य जब ध्वनिवादियों का काव्य नही हो पाता अर्थात् जब वह सामान्यत' काव्य ही नहीं हो सकता, तो वह काव्य[1]-विशेप (काव्य का उत्तम प्रकार) कैसे हो सकता है। जो मनुष्य के सामान्य लक्षणों का ही विपय नहीं है, वह मनुष्य का विशेप—ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि—कैसे हो सकता है? यही स्थिति ध्वनि काव्य की भी है।

(३) अभाववादी एक ढग से और सिद्ध करते हैं कि ध्वनि कोई वस्तु नहीं। वे कहते हैं कि यद्यपि नाम और नामी नित्य सबद्ध हैं, अर्थात् एक के अभाव से दूसरे की कल्पना ही सभव नहीं और इसलिये 'ध्वनि' नाम को देखकर किसी न किसी नामी अर्थात् वस्तु की कल्पना करनी ही पड़ती है, तथापि वह वस्तु यदि कुछ है तो उक्त चारुता-धायक तत्वों में से ही एक हो सकती है। उसी में से किसी अलकार का नाम 'ध्वनि' मान लिया जा सकता है। फिर भी जिस रूप में ध्वनि (प्रधान व्यग्य) ध्वनिवादियों के द्वारा स्वीकृत है, उस रूप में ध्वनि तत्व कोई वस्तु नहीं, उसका काव्य से कोई सबध नहीं। अथवा और आगे बढ़े तो यह कह सकते हैं, न हो 'ध्वनि' सज्ञा किसी पुराने अलकार का नाम, वह नवविष्कृत ही हो, जिसकी सज्ञा ध्वनि है, पर है वह सर्वथा अलकार ही। अलकार से भिन्न कुछ नहीं। इस प्रकार अभाववादियों के ये तीन विकल्प हैं।

आनदवर्द्धन ने इन तीनों विकल्पों का खडन किया है। प्रथम विकल्प के सबध में उनका उत्तर यह है कि ध्वनि तत्व है और काव्य में उसका वही

१—यत्रार्थ. शब्दोवातर्थमुपसर्जकृतस्वाथै। व्यक्त. काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभि कथित। ध्व० श्रा० प्र० उ०।

स्थान है जो प्राणियों के शरीर में आत्मा का। आत्मस्थानीय होने के कारण वह आत्मा के उपस्कारक गुणों एवं अलंकारों से सर्वथा भिन्न है। वह काव्य में कुछ आवरणों से अवगुण्ठित रह शरीर में लावण्य की भाँति सभी प्रसिद्ध अवयवों से पृथक् एक रमणीय तत्व है। जैसे मोटी बुद्धिवालों में सूक्ष्म तत्त्व आत्मा के पहचानने की शक्ति का अभाव होने के कारण वे उस आत्मतत्त्व का या तो अभाव ही कहेंगे, अथवा जो कुछ वाहर चर्म-चक्षु-गोचर है, उसी को आत्मा कह देंगे, वही स्थिति इन अभाववादियों की भी है। ये लोग या तो प्रसिद्धि का मुँह देखते हैं, अर्थात् लोक जैसा कहता है, वैसा ही कह देते हैं, अथवा जो कुछ अपनी बाह्य आँखों से देखते हैं, उसे ही सर्वस्व मान लेते हैं। इन लोगों में अतर्निहित निगूढ़ तत्वों के साक्षात्कार की प्रातिभचक्षु नहीं होती। चार्वाक् जिस प्रकार शरीर को ही सर्वस्व मानते हैं, पर उस शरीर पर झलकते हुए सौंदर्य के मूल में रहने वाली वस्तु का नाम नहीं लेते, उसी प्रकार कुछ मोटी बुद्धि के विचारक ध्वनितत्व की अवहेलना करते हैं। मोटे तौर पर ध्वनि या प्रतीयमान परस्पर पर्याय ही हैं। ध्वनि की सत्ता न मानते हुए ये लोग प्रतीयमान या व्यंग्य का अभाव ही तो सिद्ध करते हैं। विचार किया जाय तो प्रतीयमान की सत्ता अवश्य सिद्ध है। इतना तो सुनिश्चित है कि शब्द के वाच्य अर्थ से प्रतीयमान अर्थ सर्वदा भिन्न है। विचार करने की बात है कि कोई विशेष अर्थ ही क्यों सहृदय-श्लाध्य कहा जाता है, सब अर्थ क्यों नहीं सहृदय श्लाध्य कहे जाते? आखिर, वाच्यार्थ ही शब्दों का एक मात्र अर्थ होता, तो ऐसी विषम दृष्टि क्यों होती? वे ही अर्थ हमें वेद एवं लोक में प्रयुक्त होने वाले शब्दों से सर्वदा मिलते हैं, पर उनकी श्लाघा सहृदय जन नहीं करते। काव्य में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों से निवेदित वाच्यार्थ में आखिर ऐसा क्या सुर्खाब का पर लगा है, कि उसकी श्लाघा सहृदय जन मुक्त-कंठ से करते हैं। इस वैषम्य से इतना निश्चित है कि लौकिक एवं वैदिक शब्दों से काव्य शब्दों (या वाच्यार्थों) का अवश्य कोई तत्व भेदाधायक है। इन दोनों प्रकार के शब्दों से समर्पित वाच्यार्थों के अंतराल में रहने वाला अवश्य कोई वैशिष्ट्य या तत्त्व है, जो एक के साथ रहने से से उसे सहृदय श्लाध्य बनाता है और दूसरे के साथ न रहने से उसे सहृदय श्लाध्य नहीं बना पाता। यही वैशिष्ट्य प्रतीयमान है। काव्य में जब शब्दों का प्रयोग किया जाता है, तो सर्वदा इस तत्त्व पर ध्यान दिया जाता है, लोक और वेद प्रायः वाच्यार्थ-प्रवण शब्दों का ही प्रयोग करते हैं। वे शब्दों के अतिरिक्त अर्थ पर ध्यान नहीं देते,

जब कि काव्य का ध्यान प्रायः उसी पर रहता है। एवर कवि ने कितना बढ़िया कहा है—'Poetry is electrification of language with extra meaning' अर्थात् शब्दों में अतिरिक्त अर्थ भरने वाली भाषा ही कविता है। ग्रियर्सन ने भी कहा है—'Poetry has over tone' अर्थात् कविता वाच्यार्थ से अतिरिक्त अर्थ पर बल देती है। प्रकाशकार ने भी कहा है 'स्याद्वाचकोलाक्षणिक [1] शब्दोऽत्र व्यंजकास्त्रिधा'। अर्थात् वाचक लाक्षणिक शब्द तो सर्वत्र हो सकते हैं, परंतु 'व्यंजकोऽत्र' अर्थात् 'व्यंजक' शब्द तो (अत्र) काव्य में ही हो पाते हैं। विवेकसंपन्न सहृदय समाज इसी अर्थ को काव्य की आत्मा मानता है। होता यह है कि वह प्रतीयमान वाच्यार्थ से ऐसा संवलित रहता है, कि उसे पृथक् करके कम ही लोग समझ पाते हैं और अविवेकी लोग तो इसमें इतना व्यामुग्ध हो जाते हैं, कि उस तत्व की पृथक् सत्ता ही में विवाद खड़ा कर देते हैं।

इस प्रतीयमान के अस्तित्व के पक्ष में एक तर्क और है और वह है औचित्य निर्द्धारण का। अमुक शब्द ही इस प्रसंग में उचित है अमुक नहीं इस औचित्यविवेक का मूल क्या है? उदाहरणार्थ 'पंत' जी की एक पंक्ति है—

'विपुल कल्पना से त्रिभुवन की,
विविध रूप धर भर नभ अंक,
तम फिर क्रीडा कौतुक करते,
छा अनंत उर में निःशंक [2]।'

प्रस्तुत पद्य में 'अनंत' शब्द का वाच्यार्थ 'आकाश' है। कोशकार अमर ने स्पष्ट लिखा है—'नभोऽन्तरिक्षं गगनमनन्तं सुरवर्त्म खम्।' यदि वाच्यार्थ से अतिरिक्तअर्थ देने की क्षमता इस पद में न होती, तो इसकी जगह 'गगन' आदि चाहे कोई भी पर्याय प्रयुक्त कर सकते थे। परंतु यह शब्द इस प्रसंग में जितना उचित है, उतना 'अनंत' शब्द के अन्य पर्याय नहीं। विचार करना चाहिए कि इसका कारण क्या है? यहाँ, बादल अपनी कहानी कहता, कहता यहाँ तक आता है और कहता है—'अनंत' के उर में छाकर हम निःशंक क्रीड़ा करते हैं—'निःशंक क्रीड़ा वहीं हो सकती है, जहाँ कोई प्रतिरोधक तत्व न हो,

---

१—का० प्र० द्वि० उ० पृ० २५ का० १।

२—आ० फ०, पंत, २०१० पंचम संस्करण, 'बादल' शीर्षक कविता।

आकाश यद्यपि ऐसा है, तथापि 'अनंत' शब्द के प्रयोग से जो उसकी 'अनंतता' स्पष्ट झलकती है, वह चीज गगन एवं आकाश के प्रयोग में नहीं है। यद्यपि औचित्य का प्रयोजक यह एक वाच्यधर्म भी है, पर इसके साथ साथ 'प्रतिरोधक का अभाव' जो इंगित है, वह सर्वथा व्यंग्य है। यह व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ 'अनंत' शब्द के औचित्य का निर्णायक है। इसी प्रतीयमान से सवलित 'अनंत' में वादल निःशंक टहल सकता है। अतः औचित्य की दृष्टि से भी प्रतीयमान का निश्चय किया जा सकता है। इसी प्रकार एक उदाहरण 'गुप्त[1]' जी का लीजिए।

मुझे फूल मत मारो,
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।
होकर मधु के मीत मदन तुम ....।

—साकेत

यहाँ 'अवला' तथा 'मधु' शब्द इसी प्रकार के उचित प्रयोग हैं। विरहिणी प्रार्थना करती है कि कुसुमायुध ! मेरे ऊपर पुष्पास्त्रों का प्रहार न करो। मैं अबला हूँ। इत्यादि'—यहाँ अवला शब्द का सामान्यतः वाच्यार्थ है स्त्री। पर इस शब्द के वाच्यार्थ की सामर्थ्य से निर्बलता के साथ सौकुमार्य, असहन शक्ति आदि न जाने कितने अर्थ व्यंग्य रूप से प्रतीत होकर वाच्यार्थ को काव्योपयोगी बना देते हैं। इसी प्रकार 'होकर मधु के मीत' में मधु शब्द भी ऐसा ही है। 'मधु' शब्द का सामान्यतः अर्थ 'वसंत' तो है ही, एक अर्थ मधु-शहद भी है। तात्पर्य यह कि इतनी मीठी वस्तु की मैत्री प्राप्त होने पर भी तुम्हारे हृदय में मिठास नहीं है, विपरीत इसके क्रूरता एवं काठिन्य है ? इस अर्थ के व्यंग्य होने से उपालम्भ अर्थ सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार चारुता भले ही गुण एवं अलंकार के योग से आती हो, पर रमणीयता, श्लाघ्यत्व एवं औचित्य तो सदा इसी प्रतीयमान के ही योग से आ पाते हैं। इसी प्रतीयमान के संपर्क से शब्दों या उनके अर्थों में लोक एवं वेद के शब्दों एवं अर्थों से वैशिष्ट्य आ जाता है और वे शब्द काव्योपयोगी कहे जाने लगते हैं। ध्वनिवादी तो इस तत्व को इतनी महत्ता देते हैं कि इसे आत्मस्थानीय ही मान लेते हैं।

अब स्पष्ट है कि जो अर्थ काव्य की आत्मा है, वह गुणों एवं अलंकारों में कैसे समा सकता है ? भला कहीं आत्मा भी (काव्य) शरीर (शब्दार्थ)

१—साकेत, पृष्ठ २२७।

का अलंकार होता[1] है ? वह तो स्वय अलंकार्य एव गुणी है । आत्मा स्वयं चारु है और चारुता का प्रकाश स्थूल (शरीर) करता है । स्थूल के माध्यम से ही सूक्ष्म अपनी ज्योति विकीर्ण करता है । इस प्रकार आत्मस्थानीय प्रतिमान या ध्वनि का गुण एव अलकारों में अतर्भाव उचित नहीं है ।

(२) अभाववादियों की द्वितीय कोटि यह है कि ध्वनि तत्व सर्वथा है ही नहीं । यदि वह कुछ होता तो उसकी प्रसिद्धि होती और प्रसिद्धि होती तो लक्षणग्रंथकारों ने उसका उल्लेख अवश्य किया होता । वस्तुत अभाववादियों का यह कथन ठीक नहीं है । यह पक्ष तो डके की चोट से जो अपनी विशेषता व्यक्त करता है, वह यह कि इन लक्षणकारों में यह प्रतिभा ही नहीं थीं, जो इस सूक्ष्म तत्व का उन्मीलन एव विश्लेषण कर पाती । उसके साथ साथ प्रतीयमान रसतत्व रामायण तथा महाभारत जैसे ग्रथों में अनेकत्र शतधार होकर बहता दिखाई पडता है, सहृदयों ने इसका अनुभव भी किया है । ऐसी स्थिति में यह रस तत्व सहृदय सिद्ध है, पर यदि कुछ अविवेकाध एव स्थूल बुद्धिवालों को प्रतिपत्ति फिर भी न हो, तो क्या ऐसे ही लोगों के अविवेक को प्रमाण मानकर ध्वनि तत्व का अभाव मान लिया जाय ? निस्सदेह कभी नहीं । उल्टे उन्हीं अभाववादियों का कर्त्तव्य है कि वे उस तत्व को उचित रीति से पहचाने और उसकी सत्ता स्वीकार करें ।

(३) तृतीय कोटि वालों का कहना है कि यदि ध्वनि तत्व हो भी, तो यह प्रसिद्ध चारुता सपादक गुणों एव अलकारों के प्राचीन एव नवीन आविष्कृत प्रभेदों में से ही किसी का नाम होना चाहिए । इन तत्वों से पृथक् ध्वनि नामक कोई वस्तु नहीं । वस्तुतः इस सिद्धात का भी जनक अविवेक ही है । जो आत्मा स्वय अलकार्य एव गुणी है, वह कहीं अलकार एव गुणस्वरूप हो सकती है ? दूसरी बात यह है कि आत्मा अंगी है और गुण एव अलकार है अग । भला कहीं, अगों से अगी का अभेद हो सकता है ? अंग और अगी में सदा से भेद रहता आया है ।

भक्तिवाद और उसका खडनः—

भक्तिवादी यद्यपि ध्वनि या व्यजना का अभाव स्पष्टत तो नहीं कहते, पर व्यजना की ओर से जो उनकी गजनिमिलिका है, उस आधार पर यह संभावना की जा सकती है कि कदाचित् यह व्यापार उन्हें मान्य न हो ।

१—ध्वन्यालोक द्वि० उ० । "न ह्यात्माऽऽत्मनश्चारुत्वहेतुः" ।

अथवा इन लोगों का आशय यह भी हो सकता है कि शब्दों के अर्थ दो प्रकार के ही हो सकते हैं—मुख्य एवं अमुख्य। मुख्यार्थ में शब्द की जो शक्ति कार्य करती है, वह अभिधा है और अमुख्यार्थ में जो शक्ति काम करती है, वह लक्षणा। इन दो अर्थों से पृथक् न तो कोई अर्थ है और न इन दोनों व्यापारों से अतिरिक्त कोई अन्य व्यापार। इस प्रकार ये लोग अभिधा से पृथक् व्यंजना को मानते भी हों, तो भक्ति से पृथक् उसकी सत्ता नहीं मानते। 'भक्ति' शब्द लक्षणा वृत्ति का पर्याय है। भक्ति या लक्षणा से व्यजना का पृथक् अस्तित्व नहीं है—यही इस मत का साराश है।

भक्तिवादी जब व्यंजना का भक्ति में अंतर्भाव करते है, तो इससे उनके तीन प्रकार के विकल्प संभावित हो सकते हैं। वे भक्तिवादी चाहे (१) ध्वनि या व्यंजना की भक्ति या लक्षणा का पर्याय मानते हों। (२) अथवा भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानते हों (३) अथवा भक्ति को ध्वनि का उपलक्षण मानते हों। यदि लक्षणा में ध्वनि या व्यजना का अतर्भाव करना है, तो उसके ये ही तीन रास्ते संभव है। यदि इनमें से तीनों पक्ष तर्क सहिष्णु न हों, तो समझना चाहिए कि भक्तिवादियों का कथन सर्वथा अनुपयुक्त है।

प्रथम पक्ष का खडन करते हुए ध्वनिकार कहते है कि लक्षणा एव ध्वनि या व्यजना परस्पर पर्याय हैं, तो पर्याय शब्दों की भाँति उनका परस्पर एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग होना ही चाहिए। किंतु शक्तिविद् ऐसा करते हुए कभी देखे नहीं जाते। निरूढ लक्षणा के स्थान पर न तो हम व्यजना का प्रयोग करते हैं और न रस स्थल में अपेक्षित व्यजना की जगह लक्षणा का। यदि दोनों शक्तिया पर्याय होतीं, तो ऐसा कभी न होता। इस प्रकार प्रथम विकल्प तो सर्वथा दूषित है। इसी प्रकार वे द्वितीय विकल्प को भी मान्यता प्रदान नहीं करते और ऐसा करते हुए उनका तर्क यह है कि लक्षणा ध्वनि का लक्षण या असाधारण धर्म तब होती, जब वह ध्वनि स्थल में रहती और ध्वनि स्थल से अतिरिक्त स्थानों में न रहती। अर्थात् लक्षणा के लिए आवश्यक यह है कि वह लक्ष्यमात्र में रहे और लक्ष्य से अतिरिक्त अर्थात् अलक्ष्य में न रहे। भक्ति या लक्षणा में 'लक्षण' की दोनों शर्तें नहीं है, न तो वह ध्वनिस्थल मात्र [विवक्षितवाच्य ध्वनि एव अविवक्षित वाच्य ध्वनि] में ही है और न अलक्ष्य (निरूढालक्षणा स्थल) में नहीं ही है। अर्थात् उक्त दोनों विशेषताएँ इसमें नहीं हैं और जब नहीं हैं, तो इसे (भक्ति) हम लक्षणा कैसे कह सकते हैं।

तृतीय विकल्प में ध्वनि को [1]उपलक्षण या परिचायक कहा गया है। उपलक्षण न तो लक्षणीय वस्तु का पर्याय ही होता है, न अवयव ही, बल्कि कदाचित् कभी लक्षणीय के साथ संनिकृष्ट रहकर उसका अन्य सजातीय पदार्थों से भेद अवश्य बता देता है। उदाहरणार्थ यदि हम अपने किसी मित्र के साथ उसके घर जाय, और उसके गांव में प्रवेश करने से पूर्व हम उससे पूछे कि 'भाई' तुम्हारा घर कौन सा है?'—और वह गाव के अन्य गृहों से अपने गृह का अतर बताने के उद्देश्य से यह कहे—"जिस पर मयूर बैठा हुआ है, वही हमारा घर है," तो स्पष्ट ही यहां इस स्थल में मयूर न तो घर का स्वरूप ही है, और न अवयव ही, बल्कि एक ऐसा तटस्थ चिन्ह है, जो उसके गृह का परिचय बता देने में समर्थ है। ठीक वही स्थिति इस प्रकरण में 'भक्ति' या 'लक्षणा' की है। वह भी न ध्वनि का स्वरूप ही है और न अवयव ही, बल्कि ध्वनि के एक अश (अविक्षित वाच्य ध्वनि) में कभी स्थिर रहती है और उसका परिचय करा देती है, बस इतने मात्र में ही वह उपलक्षण है। इस पक्ष के विरुद्ध ध्वनिकार के दो तर्क है। एक तो यह कि यह ऐसा उपलक्षण नहीं है, जो ध्वनि मात्र का किसी भी रूप से परिचय दे सके, बल्कि परिचय देता भी है तो केवल उसके एक अश का—अविवक्षित वाच्य ध्वनि का। उपलक्षण तो ऐसा होना चाहिए कि वह लक्ष्य मात्र का परिचय दे सके। पर यह सामर्थ्य इस उपक्षण में कत्तई नहीं है। विरोध में दूसरा तर्क यह है कि यदि इसे उपलक्षण मान भी लें थोडी देर के लिए तो ऐसा कहना कभी उचित नहीं है कि अब ध्वनि लक्षण की कोई आवश्यकता नहीं अर्थात् जो प्रयोजन लक्षण से सिद्ध हो सकता है, वह उपलक्षण से कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता। कारण यह है कि उपलक्षण लक्ष्य का एक चलते ढग से मोटा परिचय करा देता है, पर लक्षण विशेपरूप से परिचय कराता है, जिसके फलस्वरूप अब वह कभी भी लक्ष्य के रूप में व्यामुग्ध नहीं हो सकता। इतना तो स्पष्ट है कि उपलक्षण

१—सस्कृत शास्त्रों में किसी भी लक्ष्य के परिचय में तीन तत्वों की चर्चा प्रायः आती रहती है—विशेषण, उपाधि एव उपलक्षण। ये तीनो धर्मों की विशेषता बताकर उसका ज्ञान प्राप्त करा देने में उपयोगी होते है। विशेषण लक्ष्य वस्तु का अवयव होता है, उपाधि अवयव नहीं होती पर रहती साथ साथ है। उपलक्षण न तो अवयव ही है और न सदा साथ ही रहने वाला है, पर लक्ष्य के ज्ञान में उपयोगी अवश्य है।

लक्ष्य की किसी स्थायी एव असाधारण विशेषता को नहीं बताता। उदाहरणार्थ, यदि विभिन्न पदार्थों का सामान्य रूप से [पदार्थ हैं-मात्र इस रूप से] परिज्ञान हो जाने पर भी जैसे उनके विशेष रूप से परिज्ञान की आकांक्षा बनी ही रहती है और यही कारण है कि उनका सामान्यत. ज्ञान होने पर भी विशेषतः परिचय प्राप्त करने के लिए लक्षण की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार "भक्ति" रूप उपलक्षण के द्वारा सामान्य रूप से परिचय होने पर भी उसके विशेष ढग के परिचय के लिए लक्षण अपेक्षित है ही। अतः यह तृतीत विकल्प भी व्यर्थ है। इस प्रकार यह भक्तिवाद भी ध्वनि या उसके आधारभूत व्यजना के खडन में किसी प्रकार समर्थ नहीं है।

३—अनाख्येयवाद एवं उसका खंडनः—

ये अनाख्येयवादी यह नहीं कि ध्वनि तत्व को न मानते हों, मानते हैं, पर ऐसा मानते हैं कि वह तत्व आख्येय नहीं है—वह तत्व सूक्ष्म मति-संवेद्य है अर्थात् अनुभव तो उसका होता है, पर उसकी सारी विशेषताएं क्रमश. बुद्धि की पकड में आ नहीं पाती, जिससे कि उनकी सहायता से हम उस तत्व का विश्लेषण करें और सबके समक्ष उसे उपस्थित कर सकें।

ध्वनिकार इन लोगों की इस अनाख्येयता का अभिप्राय दो तरह से लगाते हैं, एक तो यह कि ध्वनि को अनाख्येय कहकर अनाख्येय वादी केवल ध्वनि की महत्ता प्रकट करते हों। अर्थात् 'अनाख्येय' कहना केवल अर्थवाद है, प्रशसा-पर्यवसायी मात्र है, अभिधेय-पर्यवसायी नहीं। अगर अनाख्येय वादियों का यही अभिप्राय है, तो यह ध्वनिकार का समर्थन ही है, फिर अपने इस रूप में अनाख्येयवाद खंडनीय नहीं है। पर जब अनाख्येयवाद का अर्थ बिल्कुल अभिधा की ही सहायता से किया जाय, अर्थात् यह मान लिया जाय, कि वस्तुतः वह ऐसा तत्व है कि उसका निर्वचन किया नहीं जा सकता, तब तो अवश्य खडनीय है। अर्थात् जब ध्वनिकार ने ध्वनि का लक्षण करके ध्वनि का परिचय दे दिया, ऐसी स्थिति में उसे अनाख्येय मानना कहाँ तक समर्थनीय है।

इतने विवाद से सिद्ध यह हुआ कि ध्वनि[1] की सत्ता है, और वह अर्थ की दृष्टि से अभिधेय तथा लक्ष्य से और शक्ति की दृष्टि से अभिधा तथा लक्षणा से सर्वथा भिन्न है।

१—ध्वनि का लक्षण है—

इस प्रसग में अपरिचित पाठक को यह जिज्ञासा सहज ही संभव है कि व्यंजना की स्थापना के प्रसंग में ध्वनि की सत्ता के प्रस्थापन से क्या प्रयोजन ? उक्त तीनों मतों की चर्चा एव उनका खडन ध्वनि के सत्ता-स्थापन से संवद्ध हैं, उनकी इस प्रसग में चर्चा क्यों की जा रही है ? उत्तर में कहा जा सकता है कि ध्वनि और व्यंजना का अन्योन्याश्रित सवध है। एक के अभाव में दूसरे की सत्ता पर आँच आना सभव है। दूसरे यह कि 'ध्वनन' ध्वनि. इस व्युत्पत्ति के वल पर 'ध्वनन' एव 'व्यंजन' पर्याय भी है। अतर इतना ही है, कि जव वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान व्यग्य को लाने में व्यंजना काम करती है, तो उसे 'ध्वनन' व्यापार कहते है, अन्यथा व्यजना। ध्वनि व्यजना से पृथक् कोई वस्तु नहीं है, अतर केवल अवस्था मात्र का है। प्रधान की अवस्था में वही व्यजना ध्वनि के नाम से अभिहित की जा सकती है।

४-५ मीमांसकों में शक्ति के संवध में ऐसे कई मतवाद है जिनसे व्यजना का मेल नहीं वैठता और व्यंजना का तो वे नाम नहीं लेते। मीमासकों में सवमे प्रमुख दल है—भाट्ट मत एव गुरुमत। शब्द शक्ति के सवंध में भाट्ट मत 'अभिहितान्वयवाद' का समर्थक है, जवकि गुरुमत 'अन्विताभिधानवाद' का और इन दोनों वादों की चर्चा[1] पहले की जा चुकी है। इनमें से दोनों अभिधा शक्ति का स्वरूप जैसा निश्चित करते हैं, जितने अर्थ को उसका विषय वताते हैं, व्यंग्यार्थ उससे वहुत दूर की वस्तु है। एक की जो अभिधा शक्ति 'पदार्थ' मात्र तक ही रहती है, वह तो साधारण वाक्यार्थ तक भी नहीं जा पाती और अन्विताभिधान वादी अन्वयांश युक्त पदार्थ में यद्यपि शक्ति मानते है, तथापि वाक्यार्थवोध में जो 'विशेष सवध' प्रतीत होते हैं, वहाँ तक इन लोगों की भी अभिधा नहीं पहुँच पाती। इस प्रकार दोनों की अभिधा जव साधारणत प्रतीत वाक्यार्थ वोध तक ही नहीं पहुँच पाती, तो वाक्यार्थ

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथित।

'ध्वनि शब्द के व्युत्पत्तिभेद से ४ अर्थ किए गए हैं। ध्वनि व्यजक (ध्वनतीति), व्यग्य (ध्वन्यतेऽसौ), ध्वनन या व्यजन शक्ति (ध्वननमिति), तथा इनकी समष्टि जिस काव्य विशेष मे हो (ध्वन्यत अस्मिन्निति) इन चारों को ध्वनि कहते हैं।

१—देखिए द्वि० प० 'तात्पर्य वृत्ति'।

प्रतीति के अनतर प्रतीत होनेवाली व्यग्यार्थ-प्रतीति तक वह कब और कैसे पहुँच सकती है ?

६—मीमासकों का ही एक तीसरा दल है जो यह कहता है कि नैमित्तिक[1] अर्थात् कार्य के अनुसार ही निमित्त अर्थात् कारण की कल्पना की जानी चाहिए इस सिद्धांत के अनुसार 'गोदावरी कूल के'' 'जैसे (व्यंजक) में जो (गमन-निषेध) प्रतीत होता है, उस प्रतीति में विचारत. उन्हीं पूर्वोक्त पदों के ज्ञान को ही निमित्त मानना पड़ता है। ये शब्द एकमात्र अभिधाशक्ति सपन्न होकर ही निर्बाध ढग से अर्थों की प्रतीति कराते हैं—यही इन लोगों की धारणा है। इस प्रकार कहें तो यह कह सकते हैं कि शब्द प्रयोग के अनतर जितने अर्थ प्रतीत होते हैं, उनकी प्रतीति में एक मात्र अभिधा शक्ति सपन्न शब्द ही निमित्त होते हैं। अर्थात् जिन अर्थों को व्यंजनावादी व्यजना शक्ति सपन्न शब्दों का कार्य मानते है, इनकी धारणा के अनुकूल वे सब अभिधाशक्ति से ही मिल जायँगे।

इस मत के विरोध में व्यजनवादी की यह जिज्ञासा है कि उक्त (व्यंग्य) अर्थ में यदि शब्द निमित्त है, तो वे किस प्रकार के निमित्त हैं ?—कारक रूप या ज्ञापक रूप। निमित्त दो प्रकार के होते ही हैं। उत्पादक कारण को कारक कहते हैं और प्रकाशक को ज्ञापक। उदाहरण के लिए मिट्टी को हम घट का उत्पादक कारण मानते हैं, जबकि अधकाराच्छन्न घट के प्रकाशक दीप को ज्ञापक। शब्द उक्त (व्यग्य) अर्थों के कारक स्वरूप निमित्त तो हो नहीं सकते। इन शब्दों के कारण पदार्थ मात्र उत्पन्न तो होते नहीं, हाँ सस्कार के रूप में पहले से अंतःकरण में पड़े रहते हैं और शब्द प्रयोग से उनकी स्मृति हो आती है। फलत' शब्द इन अर्थों के कारण नहीं, किंतु पहले ही से सिद्ध अर्थों के प्रकाशक अथवा ज्ञापक ही हो सकते हैं। अब प्रश्न यह है कि शब्दों की यह ज्ञापकता अर्थ-प्रकाशन की दृष्टि से निरवधि एवं अनियत्रित है अथवा सावधि एव नियन्त्रित ? निरवधि एव अनियन्त्रित कहने से शब्द प्रयोग अव्यवस्था का घर हो जायगा। जिस किसी शब्द से जो चाहे जितना अर्थ निकाल सकता है। अतः आपत्ति से बचने के लिए यह आवश्यक है कि हम उस ज्ञापकता को सावधि, ससीम एव नियन्त्रित मानें। प्रश्न यह है कि इस सीमा या अवधि का निश्चय कैसे हो ? उत्तर निर्विवाद है कि जितने

१—नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ताम्।—का० प्र० प० उ०

अर्थ में शब्दों की ज्ञापकता या प्रकाशकता ज्ञात हो—संकेतित हो, उतनी सीमा में शब्द अर्थ के ज्ञापक हैं। अभिधा शक्ति संपन्न अर्थ केवल उतनी ही सीमा में ज्ञापक हो सकते हैं, जितने में संकेतित हों। इन तर्कों से सिद्ध है कि अभिधाशक्ति सपन्न केवल संकेतित अर्थ तक ही ज्ञापक है, संकेतित अर्थ के बाद प्रतीत होनेवाले असंकेतित अर्थों में अभिधायक शब्दों की ज्ञापकता काम नहीं कर सकती। अत 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ताम्' इस न्याय के अनुसार तथाकथित व्यंग्यार्थ के प्रति अभिधायक शब्द निमित्त नहीं हो सकते।

उक्त न्याय (नैमित्ति०) के खंडन का सबसे सुंदर तर्क यह है कि व्यंग्यार्थ के प्रति शब्दों को निमित्त-ज्ञापक-मान लेना बहुत बड़ी सूझ की बात है। कम से कम ये लोग और लोगों की भाँति इसे शब्दार्थ-शब्द की शक्ति से प्राप्त—ही न मानते हों, कम से कम ऐसी बात तो नहीं न है। मानते तो वे लोग इसे शब्दार्थ ही हैं, विवाद केवल इस बात में है, कि ये अर्थ हैं किस शक्ति से प्राप्त हैं? इतना तो ऊपर वाले तर्क से ही निश्चित है कि व्यंजनावादी जिन अर्थों को व्यंग्य कहते हैं, वे संकेतित नहीं हैं और संकेतित न होने का अभिप्राय यह है कि वे वाच्य नहीं हैं। निर्बाध प्रतीत होने से वे लक्ष्य भी नहीं हैं। इस प्रकार सिद्ध यह हुआ कि तथाकथित (व्यंग्य) अर्थ वाच्य एवं लक्ष्य से भिन्न हैं, पर हैं शब्द के ही अर्थ। अब इस स्थिति में स्पष्ट पूछा जा सकता है, कि शब्द से अर्थ, शब्द की किसी न किसी शक्ति ही से मिलते हैं, तथाकथित (व्यंग्य) अर्थ वाच्य नहीं, अत. अभिधा शक्ति का कार्य नहीं हो सकता; लक्ष्य नहीं अत शब्द की लक्षणा शक्ति का भी कार्य नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि इस अर्थ के लिए अभिधा एवं लक्षणा से अतिरिक्त कोई शक्ति माननी होगी। वही शक्ति व्यंजनावादियों के मत से व्यंजना है। वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का भेद रहते हुए भी यदि उनकी वृत्तियों या शक्तियों में परस्पर भेद न स्वीकार किया जाय, तो वाच्य एवं लक्ष्य में भी भेद रहते हुए वृत्ति स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। यह कहना कदाचित् कभी भी संभव न होगा कि शब्द स्वरूप निमित्त कारण व्यंग्यार्थ के लिए शक्ति की अपेक्षा ही नहीं करता। क्योंकि ऐसा स्वीकार करने का तात्पर्य यह होगा कि अशक्त शब्दों को भी अर्थवान् मानना पड़ेगा। और यदि शक्ति के बिना ही शब्द अर्थ देने लगें, तो अभिधा तथा लक्षणा को भी तिलांजलि दे देना चाहिए।

(७) मीमांसकों का एक अन्य (चौथा) मत भट्टलोल्लट-प्रमुख लोगों का भी है। इसके अनुसार भी व्यंजना की जड कट जाती है। ये लोग शब्द का एक ही व्यापार मानते हैं और उसी से सब प्रकार के अभिप्रेत अर्थों की उपलब्धि कर लेते हैं। इन लोगों का कहना यह है कि जैसे सशक्त पुरुष के द्वारा प्रयुक्त वेगवान बाण के एक व्यापार से वेध्य व्यक्ति का वक्षो-विदारण, वर्म-भेदन, एवं प्राण हरण-तीनों काम हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार शब्द श्रवण के अनंतर जितने भी अर्थ प्रतीत होते हों, सबके विषय में सशक्त प्रयोक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द का एक ही व्यापार सारे अर्थों की प्रतीति करा डालता है। इन्हीं सब बातों को मन में रखकर उन लोगों का बनाया हुआ एक न्याय है—'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः—अर्थात् वह शब्द व्यापार बाण के व्यापार की तरह दीर्घ दीर्घतर होता है। इस न्याय के अनुसार ये लोग सभी अर्थों को शब्द की एक ही शक्ति का कार्य मानते हैं। जिससे 'अतिरिक्त शक्ति' व्यंजना पर पर्याप्त आँच आती है।

व्यंजनावादियों का इस पर आक्षेप है कि इस न्याय का अर्थ तो यह हुआ कि शब्द-प्रयोग की परवर्ती जितनी प्रतीतियाँ हैं, वे सब की सब शब्दार्थ ही हैं और शब्द की एक ही शक्ति के कार्य हैं। इस न्याय के प्रकाश में 'परार्थानुमान'[1] में शब्दात्मक अनुमान वाक्यों के प्रयोग के अनंतर जो अनु-मिति-स्वरूप परोक्ष-प्रतीति होती है, वह भी शब्द का ही अर्थ कहा जाना चाहिए। क्योंकि यह प्रतीति शब्द प्रयोग की परवर्ती प्रतीति है और उक्त न्याय का विषय है। किंतु अनुमेय अर्थ को परार्थानुमान से प्राप्त अर्थ यद्यपि शब्द-प्रयोग की परवर्ती प्रतीति है, तथापि वह मुख्यतः अनुमान प्रमाण से प्राप्त अर्थ है, इसीलिए उसे शब्द का अर्थ नहीं कहा जा सकता। शब्द का अर्थ वही होता है, जो शब्द-प्रमाण मात्र से प्राप्त है। शब्द का अर्थ होने के लिए

१—अनुमान एक प्रमाण है। यह दो प्रकार का होता है स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान। स्वार्थानुमान स्वयं बोध में उपयोगी है और परार्थानुमान दूसरों के लिए होता है। एक वह व्यक्ति जिसको अनुमेय अर्थ की प्रतीति हो गई रहती है, जब दूसरे को भी स्वानुमित अर्थ की प्रतीति कराना चाहता है, तब अनुमान वाक्यों का प्रयोग करता है। इस अनुमान वाक्य के पाँच अवयव होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन। इन्हीं वाक्यों के प्रयोग द्वारा वह अनुमान करा पाता है। ऐसे अनुमान को परा-र्थानुमान कहते हैं।

इतना ही आवश्यक नहीं है, 'कि वह शब्द प्रयोग का परवर्ती हो, बल्कि यह भी आवश्यक है वह अन्य प्रमाण से प्राप्त न हो। कहा ही गया है कि 'अनन्यलभ्योहि शब्दार्थः'—जो अनन्य लभ्य हो जो मात्र अपने आप से ही लभ्य हो शब्द से ही लभ्य हो वही शब्दार्थ है। परार्थानुमान से प्राप्त अर्थ ऐसे नहीं हैं अत वे शब्दार्थ नहीं है। साराश यह कि उक्त न्याय निर्दोष है, उसे मानना चाहिए और उस आधार पर शब्द की अतिरिक्त शक्तियों का निषेध कर देना चाहिए।

व्यंजनावादी उक्त न्याय के विरोध में दूसरा तर्क यह देता है कि अनुमेय अर्थ शब्द-प्रमाण के द्वारा न प्राप्त होने के कारण शब्दार्थ नहीं हैं, तो न हों, पर लक्ष्यार्थ तो शब्दार्थ प्रमाण द्वारा प्राप्त अर्थ है, अतः कम से कम उक्त न्याय के अनुसार उस अर्थ को तो शब्द के एक ही व्यापार अभिधा का विषय मानना उचित है, उसके लिए आप लक्षणा व्यापार की अलग से कल्पना क्यों करते है ? मीमासक इस प्रश्न का उत्तर यह देते हैं कि अभिधा व्यापार लक्ष्यार्थ की प्रतीति तब करा सकता, जब बीच में वह रोका जाकर अशक्त न होता। बाण का व्यापार ही यदि बीच में रोक दिया जाय, तो क्या कभी भी वह वाछित लक्ष्य का भेदन कर सकता है। कभी नहीं। अत लक्ष्यार्थ की प्रतीति के लिए अभिधा से अतिरिक्त (लक्षणा) व्यापार की कल्पना करनी पड़ती है, पर ध्वनिवादी जिसे व्यंग्यार्थ कहते हैं, वह तो शब्द की शक्ति से निर्बाध प्रतीत होने वाला अर्थ है, अत. वहाँ तक अभिधा के पहुंचने में कोई आपत्ति नहीं, वह तो अभिधा से आ ही जायगा।

उक्त न्याय के खडन में व्यंजनावादी का तीसरा तर्क यह है जहाँ तक शब्द व्यापार एव उनसे प्राप्त अर्थों की बात है, वहाँ यदि उक्त व्यापार को मान्यता दे दी जाय, तो उन्हीं के द्वारा मान्य एक और सिद्धात है, जिसका खडन हो जायगा। सिद्धात है—'श्रुतिलिंग वाक्य प्रकरण स्थानसमाख्याना पूर्वं पूर्वबलीयस्त्वम्। कर्मकाडोपयोगी जितने मंत्र हैं, उनमें से कुछ का विनियोग तो ऋषियों ने स्पष्ट निर्दिष्ट कर दिया है, पर जिनके विषय में कोई निर्देश नहीं है, ऐसे मन्त्रों का विनियोग कैसे हो और कहाँ हो ? यह समस्या खड़ी ही रह जाती है। महर्षि जैमिनी ने इस समस्या का सदा के लिए निपटारा करते हुए उक्त सिद्धात का निर्माण किया और बताया कि कौन सा मन्त्र किसका अग हो, इसका निर्णय करने के लिए इन प्रमाणों श्रुति, लिंग, वाक्य, स्थान, प्रकरण एव समाख्या—का उपयोग करना चाहिए। यदि इन

छहों से किसी मंत्र की अंगता निर्णय में यदि कई प्रमाणों की प्राप्ति हो और वे सब परस्पर विरोधी अंगता बतायें तो वहाँ उत्तरउत्तर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व को बलवान समझना चाहिए। अर्थात् प्राप्त-प्रमाणों में जो सबसे पूर्व हो उसी की मान्यता देकर उसी के द्वारा अगता का निर्णय कर लेना चाहिए। उत्तरोत्तर प्रमाणों की अपेक्षा पूर्व-पूर्व प्रमाणों की बलवत्ता का कारण यह है कि उत्तरोत्तर प्रमाणों को अगता निर्णय स्वरूप अपना कार्य करने में पूर्व पूर्व प्रमाणों की कल्पना करनी पड़ती है, वे अगता निर्णय में स्वतंत्र नहीं होते। यदि पूर्व-पूर्व प्रमाणों की स्वीकृति मिल जायगी, तभी उत्तर प्रमाण अगता के निर्णय में क्षम हो सकते है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि अगता निर्णय में पूर्व पूर्व के प्रमाण क्रमश. परवर्ती प्रमाण-निरपेक्ष हो जाते हैं, अतः उत्तरोत्तर की अपेक्षा अपना कार्य कुछ शीघ्रता से परिपूर्ण कर लेते हैं, इसीलिए वे उत्तरोत्तर प्रमाणों की अपेक्षा बलवान होते हैं। इस स्थिति में यदि उक्त न्याय को स्वीकार कर लिया जाय, तो सभी प्रकार के शब्द-प्रयोग, चाहे वे श्रुति, वाक्य आदि में से कोई भी हों अपनी अभिधा से पार्यन्तिक अर्थ बोध में स्वतत्र है ही, फिर एक दूसरे की मुखापेक्षिता क्यों करेंगे? और जब नहीं करेंगे, तो सब समान बलवाले ही हैं, क्यों कोई किसी से छोटा या बडा होगा? तात्पर्य यह कि उक्त न्याय एव 'श्रुति-लिंग' का सिद्धात परस्पर विरोधी हो जायेंगे, अतः इन दोनों में उक्त न्याय का ही भग ठीक है। मीमासक इस आपत्ति का भी निराकरण करता हुआ यह कहता है कि शब्द अर्थ निवेदन में केवल अभिधा की सहायता लेते तब तो उक्त आपत्ति ठीक थी, पर ऐसी बात नहीं है, शब्द अभिधा वृत्ति के साथ साथ वाच्यार्थ बोध के लिए अभिप्रेत अर्थ को बताने के लिए, आसत्ति, योग्यता, आकाक्षा एव तात्पर्य की भी सहायता लेते हैं। यदि इन सहायक तत्वों की प्राप्ति में विलंब हो तो अभिधा से भी अर्थ प्राप्ति में आपेक्षिक विलब हो सकता है। इसी प्रकार श्रुति, लिंग आदि प्रमाण-वाक्यों से पार्यन्तिक की प्राप्ति में अभिधा को पूर्व अन्य सहकारियों की भाति पूर्व-पूर्व प्रमाणों की अपेक्षा करनी पड़ती है, जब पूरी सामग्री इकट्ठी हो जाती है, तब जाकर अभिधा अपना कार्य कर पाती है। अतः पूर्व पूर्व के प्रति उत्तरोत्तर प्रमाणवाक्यों की दुर्बलता ठीक ही है। इस दृष्टि से उक्त 'न्याय' तथा 'सिद्धात' में कोई विरोध नहीं है। अतः उस 'न्याय' सहारे फिर भी शब्द की अतिरिक्त शक्ति (व्यजना) नहीं मानी जा सकती।

व्यजनावादी फिर उक्त न्याय के खंडन में एक चौथा तर्क यह देता है कि ये मीमासक अन्विताभिधानवादियों के ही अनुयायी हैं। अतः इन लोगों की

अभिधा अन्वित पदार्थों में ही रहती है, निरन्वित पदर्थों में नहीं। इनके अनुसार ऐसा अर्थ जो अन्वित नहीं है, वह पदों की अभिधाशक्ति से प्रतीत ही नहीं हो सकता और निर्बाध प्रतीत होने वाले अर्थों में अभिधा के अतिरिक्त दूसरी शक्ति होती नही। इस स्थिति में 'चलडामर' जैसे 'ससंधि पद-समुदायों से एक अश्लील अर्थ की झलक होती है, और सारा सहृदय समाज उसे विरसता-जनक स्वीकार करता है, वह अर्थ शब्द की किस शक्ति का विषय होगा ? वाच्यार्थ में वह अन्वित है नही है, अत शब्द की अभिधा से आ नहीं सकता। लक्ष्यार्थ की भाति यहा के पदों के मुख्यार्थ सवध वाधित है नहीं, कि लक्षणा से उनकी प्रतीति हो जायगी। यह प्राकरणिक वाछित वाच्यार्थ से सर्वथा पृथक् एव निर्बाध प्रतीत होने वाला अर्थ है। अर्थात् यह इस स्थिति में है, कि न तो हम उसे अभिधा का कार्य कह सकते हैं और न लक्षणा का। तीसरी शक्ति मीमांसक मानते नहीं, तो इस अर्थ की प्रतीति में उपाय क्या है ? शब्द से अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण द्वारा वह अश्लील अर्थ बुद्धि पथ में उपारूढ़ होता हो, यह तो किसी प्रकार संभव ही नहीं है, फिर कैसे इसकी उपपत्ति बिठाई जाय ? उक्त न्याय का समर्थक मीमांसक इसका कोई उत्तर नहीं दे सकता, जब तक वह शब्द से निर्बाध प्रतीत होने वालों अर्थों में एक अतिरिक्त शक्ति स्वीकार न कर ले। अतत. इसे उक्त न्याय के विरोध में अतिरिक्त शक्ति माननी ही पड़ेगी। वाण के व्यापार की भाति शब्द का एक ही व्यापार सब कार्य नहीं कर सकता। उक्त न्याय के खडन में एक दूसरा तर्क यह भी सामने आता है कि वाण के व्यापार से शब्द के अभिधा व्यपार की तुलना करनी ठीक नही है। शब्द के व्यापार तभी काम कर पाते है, जब श्रोता को वे ज्ञात हों, वाण-व्यापार के लिए यह आवश्यक नहीं है, उल्टे यही कहा जा सकता है कि यदि वाण-व्यापार लक्ष्य व्यक्ति को ज्ञात हो जाय, तो वह व्यक्ति उस व्यापार को अपने कार्य में निष्फल कर सकता है। इस प्रकार दृष्टात एव दार्ष्टांतिक परस्पर नितात बेमेल है।

यों अभिधा से व्यजना को भिन्न करने वाले तो बहुत से तर्क हैं। एक सामान्य सी बात है कि सहृदयों ने कुछ काव्य दोषों (च्युतसंस्कृतित्व) को नित्य कहा है और कुछ (श्रुतिकटुत्व) को अनित्य। दोषों की यह नित्यता और अनित्यता 'रस' तत्व के अपकर्ष और अनपकर्ष पर निर्भर है। जिन दोषों से रस तत्व का सर्वथा विघात होता ही हो, वे नित्य कहे जाते हैं और जिनसे कभी विघात होता हो और कभी न होता हो, उन्हे अनित्य दोष कहा जाता

है। स्पष्ट है कि दोनों की यह निश्चतता और अनिश्चतता रस तत्व पर ही निर्भर है और यह रस तत्व बिना व्यंजना माने नहीं हो सकता। यह कार्य अभिधा से नहीं हो सकता। अभिधा और व्यंजना भिन्न भिन्न वृत्तियाँ हैं।

अभिधा से व्यंजना के भेद सिद्ध करने वाले तो अनेक तर्क हैं। अभिधा से जो अर्थ प्रतीत होते हैं, उन पर देश, काल, प्रकरण तथा व्यक्ति-वैशिष्ट्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जबकि व्यंजना से प्राप्त होने वाले अर्थ पर इन सबका प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि एक ही वाक्य का वाच्यार्थ हर स्थिति में एक ही हो सकता है, पर व्यंग्यार्थ के लिए यह शर्त कभी भी नहीं लग सकती। व्यंग्यार्थ निरंतर बदलता रहता। एक ही वाक्य से प्रकरण, वक्ता, बोद्धव्य आदि की भिन्नता होने पर अनेक प्रकार के व्यंग्यार्थ निकल सकते हैं। अतः अभिधा से व्यंजना का काम चला लेना तीनों काल में संभव नहीं है।

मीमांसकों का एक पाँचवाँ दल भी है जो शब्दार्थ के विषय में यह स्वीकार करता है कि वस्तुतः शब्द[1] का मुख्य अर्थ वही है, जिस अभिप्राय से वक्ता ने वाक्य का या शब्दों का प्रयोग किया है। उस अभिप्रेत अर्थ के अतिरिक्त जितने भी अर्थ प्रतीत होते हों, वे सब मुख्यार्थ की प्रतीति में वैसे ही उपाय हैं, जैसे वाक्यार्थ की प्रतीति में पदार्थों की प्रतीति। पदार्थों की प्रतीति होने पर ही वाक्यार्थ की प्रतीति हो सकती है. इसी प्रकार व्यंजनावादी या ध्वनिवादी जिस अर्थ को विवक्षित या अभिप्रेत होने से व्यंग्य या ध्वनि कहते हैं, वस्तुत. वह शब्दों का मुख्यार्थ है, और उससे भिन्न सभी प्रकार के मध्यवर्ती अर्थ उपाय मात्र ही हैं। इस प्रकार इस मुख्यार्थ की प्राप्ति में शब्दों का जो व्यापार है, वह मुख्य व्यापार या अभिधा व्यापार है। उसके लिये व्यंजना नाम की एक अतिरिक्त शक्ति मानने की आवश्यकता ही क्या है? यह तो निश्चित है कि वाक्य चाहे किसी तरह का हो, अर्थात् वह चाहे पौरुषेय हो या अपौरुषेय—उसका विवक्षित या अभिप्रेत अर्थ तो कुछ न कुछ होगा ही और वह चाहे जिस जिस स्तर का हो, वही मुख्यार्थ है। अन्य सब प्रकार के अर्थ उसकी प्रतीति में उपाय हैं। फिर उस मुख्यार्थ के लिये जब पहले से सर्व संमत अभिधा शक्ति निश्चित है, तो क्या आवश्यकता है कि हम निरर्थक एक शक्ति की कल्पना करें। इस प्रकार ये लोग भी व्यंजना का खंडन ही करते हैं।

१—'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'—का० प्र०।

व्यजनावादियों का उक्त मत के निरास में कहना यह है कि वह मत वस्तुत' जिस प्रसग में जिस प्रयोजन से कहा गया है, उसकी पूर्वोक्त व्याख्या से कोई संबंध ही नही है 'यत्पर ' इत्यादि न्याय का उपर्युक्त व्याख्यान केवल अपने मन की एक कपोल कल्पना है, उससे अधिक इस व्याख्यान का कोई महत्व नहीं है। उस 'न्याय' का जो वास्तविक अर्थ है वह यदि खोलकर सामने उपस्थित कर दिया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि उससे और व्यंजना से कोई सपर्क ही नहीं है ।

वस्तुत' उक्त न्याय तो केवल यह बताता है कि वेदवाक्यो का कितने अंश में प्रामाण्य है। उक्त न्याय वाले कहना यही चाहते हैं कि वेद वाक्यों या वैदिक शब्दों का उतना ही अपना अर्थ है, जितने अर्थों में उनका तात्पर्य निर्णीत हो। वैदिक शब्दों का तात्पर्य केवल विधेयांश में होता है और उतने ही अर्थ की दृष्टि से उन शब्दोंका प्रामाण्य है। शेष अर्थ तो लौकिक प्रमाणों से भी हमें ज्ञात हो जाते हैं, अत उन अर्थों के बोधनमें वैदिक शब्दों का प्रामाण्य नहीं है। लौकिक अर्थोंकी प्रतीति कराने में वे शब्द केवल अनुवादक हैं, प्रमाण नहीं। प्रामाण्य और है क्या ? अज्ञात अर्थ की ज्ञापकता ही तो ? इसे हम यों कह सकते है कि जितना अर्थ विधेय होता है, उतने ही वैदिक शब्दों का तात्पर्य होता है और जितने में तात्पर्य होता है, उतने ही शब्दों का प्रामाण्य है। इस विधेयाश का बोधक कोई न कोई शब्द उस वाक्य में अवश्य गृहीत होता है। इसी गृहीत वाचक शब्द का वह विधेयाश वाच्य होता है। अत' तात्पर्य किसी न किसी गृहीत शब्दों के ही अर्थों में होता है, अगृहीत शब्दों में नहीं। इस प्रकाश में जहाँ तक व्यग्यार्थ की बात है, वह वाक्य में गृहीत शब्दों का अर्थ नहीं होता। अतः तात्पर्यार्थ एव व्यग्यार्थ स्पष्ट अंतर है। एक गृहीत शब्द का अर्थ है दूसरा अगृहीत। जब तात्पर्यार्थ एव व्यग्यार्थ में अंतर है, तब यह स्पष्ट सिद्ध है कि दोनों के लिये शब्दों के व्यापार भी भिन्न भिन्न होंगे।

हाँ, दशरूपककार ने जिस 'तात्पर्य वृत्ति' की चर्चा की है, वह अवश्य इस प्रकार की मानी गई है कि उससे व्यंजनाशक्ति की गतार्थता हो जाती है। दशरूपककार ने अन्वयबोध के लिये कल्पित 'अन्विताभिधानवादियों' की तात्पर्यवृत्ति को ही बढ़ाया है। इनका कहना है कि तात्पर्य को अन्वयबोध तक ही परिमित मानना ठीक नहीं, वस्तुतः 'तात्पर्य' शक्ति को तो वहाँ तक जाने वाली मानना चाहिए, जहाँ तक वक्ता या श्रोता को अर्थ की दृष्टि से

पूर्ण विश्रान्ति मिलती हो। उनका कहना है कि 'तात्पर्यं न तुला[1] धृतम्' तात्पर्य वृत्ति तराजू पर रखकर तौली हुई नहीं है कि वह नियत अर्थ तक ही जाने की सामर्थ्य रखती हो या अन्वयाश बोध तक ही जाने में शक्त हो। उसकी दौड़ विवक्षित अर्थ तक है और व्यञ्जना भी वही है। युक्ति तो है ही, इसके अतिरिक्त लाभ यह है कि एक अतिरिक्त वृत्ति (व्यंजना) की कल्पना नहीं करनी पड़ती। और जहाँ तक 'तात्पर्यवृत्ति' की बात है, वह तो अन्वयांश के लिये व्यजनावादी को भी स्वीकृत है। अंतर इतना ही है कि वह उसे यहीं तक सीमित मानता है।

साहित्यदर्पणकार ने इस तात्पर्यवृत्ति का खडन करते हुए कहा है कि व्यंजनावादी अभिधा, लक्षणा एव अन्वयबोध में उपयोगी तात्पर्य वृत्ति से सर्वथा विलक्षण एक चौथी शक्ति भी मानते हैं, नाम चाहे उसका जो कुछ रखा जाय। व्यंजनावादी नाम के विषय में आग्रह नहीं करना चाहते, वे तो केवल एक ऐसे अर्थ की सिद्धि में ग्रहिल हैं, जो अभिधा, लक्षणा एव अन्वय-बोध मात्र में उपयोगी तात्पर्यवृत्ति से पृथक् है। उनका अभिनिवेश सज्ञी में है, सज्ञा में नहीं, नामी में है, नाम में नहीं। जितने अश में दशरूपककार की तात्पर्यवृत्ति उक्त तीनों वृत्तियों का अतिक्रमण करती है, उतने अंश में वह व्यंजना है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि यदि व्यजनावादी को नाम में आग्रह नहीं है तो वह 'तात्पर्य' सज्ञा को ही उस चौथी (अतिरिक्त वृत्ति) वृत्ति के लिये स्वीकार क्यों नहीं कर लेता ? व्यजनावादी का विचार है कि व्यंजना नाम कोई आग्रहवश नहीं, औचित्य के अनुरोधवश रखा गया है। व्यजना का शब्दार्थ है 'प्रकाशन' यह पहले ही बताया जा चुका है। व्यजक शब्द अन्य शब्दों के वाच्यार्थ का प्रकाशन ही तो करते हैं। अत. अन्यार्थ-प्रकाशन में तत्पर शक्ति को 'तात्पर्य की अपेक्षा' व्यंजन कहें, तो इस अनुभव सिद्धता का अपलाप कौन-कर सकता है। विदग्धों की परिषद् में रहस्य की बातें सदा इसी वृत्ति से तो समझी जाती हैं। अतः इस वृत्ति को जो कोई भी स्वीकार न करेगा, कि वह विदग्धों के बीच उपाहास्य का पात्र ही होगा।

तात्पर्य वृत्ति से व्यजना को पृथक् मानने में एक तर्क और भी है। तात्पर्य वृत्ति तो उसी अर्थ के लिये स्वीकृत हो सकती है, जो वक्ता का विवक्षित

१—दशरूपक, च० प्र०।

अर्थ हो। जो अर्थ वक्ता को विवक्षित न हो, किंतु अप्रधान रूप से श्रोता को निर्बाध झलक जाय, तो उसके लिये शब्द का कौन सा व्यापार होगा? उदाहरणार्थ-सायकाल का वर्णन विवक्षित हो और उसी अभिप्राय से वक्ता ने कहा हो कि 'राग-पूर्ण चद्र प्राची के मुख का चुवन कर रहा है तो यहा पर वक्ता का मुख्य रूप से विवक्षित अर्थ इतना ही है कि पूर्व दिशा में अरुण चद्र उदित हो रहा है। अत यही अर्थ तात्पर्य वृत्ति का कार्य माना जायगा। पर इसी वाक्य से जार एवं परकीय नायिका का जो शृङ्गार झलक रहा है, वह किस व्यापार का कार्य हो? यहाँ ऐसा कोई वाचक शब्द है नहीं, जिसकी अभिधा से इस गौण अर्थ की प्रतीति मानी जा सके। निर्बाध प्रतीत होने के कारण लक्षणा भी नहीं है। तात्पर्य तो है ही नहीं, फिर इसके लिए तो शब्द की किसी न किसी अतिरिक्त वृत्ति को मानना पडेगा। यही शब्द की चौथी वृत्ति है। इसे व्यजना कहते हैं।

इस प्रकार व्यंजना के विरोध में मीमासकों द्वारा जो नाना आपत्तियाँ उठाई जाती हैं, उनका समाधान करने के अनतर अब तार्किकों की व्यजना के संबध में क्या धारणा है, यह देखना चाहिए।

तार्किक एव आर्थी व्यजना

नैयायिकों या तार्किकों का व्यजना के सबध में प्रतिष्ठित मत यह है कि व्यंजना का स्वरूप भिन्न भिन्न विचारकों ने भिन्न भिन्न ढगों से निश्चित किया है। किसी ने उसे 'संस्कार', किसी ने 'सबध' एव किसी ने 'ज्ञान' स्वरूप बताया है। जैसे इस शक्ति के सब रूप के सबंध में कोई एक निश्चित मत नहीं है, उसी प्रकार इसके आश्रय के सबध में भी निश्चित नहीं है। वह शब्द, अशब्द, राग, चेष्टा, दीप आदि न जाने कितने प्रकार के प्रकाशकों में रहती है। इस कारण इसका एक निश्चित स्वरूप ही नहीं है, जिसे बुद्धि में रखकर उसका एक सामान्य लक्षण स्थिर किया जाय। जिसका लक्षण द्वारा स्वरूप ही स्थिर नहीं हुआ, वह वस्तु कैसे स्वीकार की जा सकती है[1]?

आलकारिक इस आक्षेप का समाधान यह देते हैं कि शक्ति चाहे अपना एक निश्चित स्वरूप न देती हो, पर उसका कार्य नियत रूप से सहृदयजन बरावर अनुभव करते हैं, तो उसका अपलाप कैसे किया ज य?

१—लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तु सिद्धिः।

नैयायिक या उनके प्रतिनिधि एक ढंग से और व्यंजना का नाश करना चाहते हैं। वे लोग करते यह हैं कि व्यंग्यार्थ को अनुमेय और व्यजना को अनुमान से पृथक् स्थान ही नहीं देते। आलंकारिकों में इस आशय के मत का दो स्थानों पर उल्लेख है, एक तो 'ध्वन्यालोक' में और दूसरे 'व्यक्ति विवेक' में। क्रमश: हम दोनों का विचार करेंगे।

ध्वन्यालोककार का सक्षेपतः विचार यों है—सतर्क एवं अप्रमत्त व्यक्ति द्वारा उच्चरित शब्द सदैव किसी न किसी अभिप्राय के प्रकाशक होंगे और प्रकाशक तथा व्यंजक पर्याय हैं। ये प्रकाशक शब्द जब सदैव वक्ता के अभि-प्राय के प्रकाशक हैं, तो इससे यह सिद्ध है कि अभिप्राय एवं प्रकाशक (अथवा व्यंजक) परस्पर नियमतः सबध रखते हैं। शब्दप्रकाशन और अभिप्राय नियत सबद्ध हैं। जो दो पदार्थ नियत सबद्ध होते हैं, धूप एव अग्नि की भाँति उनके पारस्परिक सबध को 'व्याप्ति' कहते हैं। 'व्याप्ति' का अर्थ ही 'नियत साहचर्य' है जिन दो अर्थों में व्याप्ति होती है, उन्हें अनुमापक और अनुमाप्य कहते हैं। इस दृष्टि से यदि शब्द अनुमापक हुए, तो अभिप्राय अनुमाप्य। अब हम जब शब्द को व्यंजक, प्रकाशक एवं अनुमापक कह सकते हैं, तो इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वे तीनो पर्याय हैं और जब ये तीनों पर्याय हैं तो व्यंग्य, प्रकाश्य एवं अनुमेय या अनुमाप्य भी पर्याय ही हुए। इसी प्रकार अनुमाप्यानुमापक भाव या व्यंग्य व्यजक भाव भी एक ही वस्तु हुई और तब अनुमान और व्यजना को भिन्न मानने का कोई कारण नहीं। क्योंकि अनुमेय की प्राप्ति में जो साधन है, वह अनुमान कहा जाता है और व्यग्य की प्राप्ति में जो साधन है उसे व्यजना कहा जाता है। जब साध्य एक दूसरे के पर्याय हैं, तो साधन भी पर्याय ही हुए।

व्यंजनावादी का इस पर यह विचार है कि यह ठीक है कि मानव मात्र के हृदय में पहले पहल कोई भाव या विचार अभिप्राय के रूप में अंकुरित होता है। फिर विचारक उन भावों, विचारों या जो कुछ भी अभिप्राय के रूप में हो, उसके प्रकाशन की इच्छा से अनुकूल शब्दों का चयन करता है और फिर उसका प्रकाशन करता है। पर इस प्रकार की प्रकाशकता तो शब्द मात्र के साथ रहने वाली है, कुछ वैसे ही शब्दों के साथ नहीं, जिन्हे ध्वनिवादी विशेप रूप से व्यजक कहते हैं।

निश्चय ही इस तरह की व्यजना या अनुमापकता तो शब्द मात्र के साथ

है । इस दृष्टि से तो सपूर्ण शब्द ही अनुमापक या व्यजक है। पर इस प्रकार की अनुमापकता, प्रकाशकता या व्यजकता से व्यजनावादी का कुछ बन बिगड़ नहीं सकता। इस तरह के अभिप्राय में शब्दों की जो प्रकाशकता या व्यजकता है वह तो व्यजनावादी को भी अनुमान रूप से अभिमत है। इसमें उसको भी कोई आपत्ति नहीं है।

वस्तुत. तार्किक ने व्यजनावादी के 'अभिप्राय' का अभिप्राय ही नहीं समझा और उसका घोलमेल एक ऐसे विचित्र अर्थ से कर दिया कि जिससे व्यजनावादी जो कुछ कहना चाहता है, वह स्पष्ट आ ही नहीं सका। वस्तुत इन लोगों के 'अभिप्राय' में और तार्किकों के पूर्वचर्चित 'अभिप्राय' में मौलिक भेद है। इससे यों समझे कि शब्द जितने प्रकार के अर्थों को प्रकाशित कर सकते हैं वे दो ही प्रकार के हो सकते हैं—अनुमेय एव प्रतिपाद्य। अनुमेय रूप अर्थ तो तार्किकों द्वारा पूर्व चर्चित वक्ता का अभिप्राय है। यह अभिप्राय वक्ता की विवक्षा है। यह विवक्षा भी दो प्रकार की होती है—शब्द प्रकाशनेच्छा एव अर्थ प्रकाशनेच्छा। प्रथम तो प्राणिमात्र में सभव है, पर द्वितीय केवल अप्रमत्त मनुष्य में ही। यह 'विवक्षा' रूप 'अभिप्राय' तो सबके मत मे अनुमेय है। पर अभिप्राय का दूसरा रूप भी है, जो शब्दों का 'प्रतिपाद्य' है, यह अनुमेय अर्थ से भिन्न है। यह प्रतिपाद्य अर्थ भी जब शब्दों से निर्बाध रूप में प्रतीत होते हैं, तो वे भी दो प्रकार के होते हैं—सकेतित एवं असकेतित। 'सकेतित' तो शब्द की अभिधा शक्ति से प्राप्त होती है। रहा, असकेतित अर्थ। व्यजनावादी 'अभिप्राय' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ के लिये करते हैं। असकेतित अर्थ का एक प्रकार और भी है, पर उसकी प्रतीति मुख्यार्थ बाध के अनतर होती है, और वह अर्थ लक्ष्य कहा जाता है। अस्तु। व्यंजनावादी जिस निर्बाध प्रतीत होने वाले अर्थ के लिये 'अभिप्राय' शब्द का प्रयोग करते हैं, वे व्यजना व्यापार से लाए जाते हैं। व्यजना अपने इस रूप में अनुमान के समकक्ष नहीं हो सकती। अत उक्त मत भ्रममूलक ही था।

महिम भट्ट दूसरे पैतरे से आक्षेप करते हैं। इनका विचार है कि शब्द की एक ही शक्ति है और वह है—अभिधा। इसके अतिरिक्त शब्द की कोई शक्ति नहीं। शब्द से अभिधेय अर्थ के अतिरिक्त जितने प्रकार के अन्य अर्थ (लक्ष्य,

व्यग्य) मिलते हैं, वे सब अनुमेय ही हैं। उनका कहना है–[1]अर्थों द्विविध. वाच्योऽनुमेयश्च। अर्थात् अर्थ दो प्रकार के होते हैं–वाच्य एव अनुमेय। भट्ट जी व्यग्यार्थ को अनुमेय सिद्ध करने में तीन युक्तियों का सहारा लेते हैं (१) प्रथम युक्ति वह हैं कि शब्द का उसके किसी भी प्रकार के अर्थ से व्यग्य व्यजक भाव सवध हो ही नहीं सकता। व्यग्य व्यजक भाव वहीं और उन्हीं पदार्थों में होता है, जो एक साथ प्रकाशित हों। उदाहरणार्थ–दीपक एव उसके प्रकाश्य। दीपक अपने स्वरूप का प्रकाशन करता हुआ साथ ही सन्निहित पदार्थों को भी प्रकाशित कर देता है। पर यह स्थिति शब्द एवं किसी भी प्रकार के अर्थ के साथ नहीं है। यहाँ तक कि जिस स्वर के अर्थ को व्यजनावादी व्यग्य कहते हैं. वह भी शब्द द्वारा वस्तुत. व्यग्य नहीं है। क्योंकि शब्द अपने स्वरूप के प्रकाशन के साथ व्यग्यार्थ का प्रकाशन नहीं करता। शब्द को छोड़िए, जिस वाच्यार्थ को व्यंजनावादी प्रकाशक कहते है, वही यहाँ अपने स्वरूप के प्रकाशन के साथ ही व्यंग्यार्थ का प्रकाशन करता है। यहाँ तो शब्द एव अर्थ पहले स्वय प्रतीत हो लेते हैं, तो उसके पश्चात् अभिप्रेत अर्थ का प्रकाशन करते हैं। इनमें प्रकाशन की दृष्टि से सहभाव नहीं, किंतु पूर्वापरीभाव है। अत· ऐसे स्थानों को व्यजना या प्रकाशन व्यापार मानना किसी भी प्रकार युक्ति सह नहीं है। हाँ, यह प्रश्न हो सकता है कि यदि उसकी प्रतीति व्यजना व्यापार से नहीं होती, तो आखिर होती कैसे है ? भट्ट जी का विचार है कि जहाँ प्रकाशक पहले स्वयं प्रतीत होकर प्रकाश्य के प्रकाशन में सवध ज्ञान को माध्यम बनाता हो, वहाँ अनुमान प्रमाण का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ, धूम पहले स्वय प्रकाशित होता है, और वह्नि के साथ जो उसका नियत सवध है, उसकी स्मृति होती है (यत्र यत्र धूम. तत्र तत्र वह्नि) और तब फिर कुछ अवातर व्यापार के बाद प्रकाश्य वह्नि का प्रकाशन या ज्ञान होता है। इसी प्रकार शब्द या अर्थ रूप व्यंजक जिस व्यग्यार्थ का प्रकाशन करते हैं, वहाँ भी अनुमान प्रमाण से ही प्रकाशन होता है। ऐसे स्थलों में समर्थ वाच्यार्थ द्वारा ही हम विवक्षित अर्थ का अनुमान कर पाते हैं। निष्कर्ष यह कि ऐसे स्थलों में विचार करने पर व्यंजना व्यापार की जगह अनुमान प्रमाण का ही उपयोग और व्यवहार युक्तियुक्त है।

(२) दूसरी युक्ति यह है कि एक शब्द अपनी अभिधा शक्ति से वाच्यार्थ मात्र का उपस्थापन कर सकता है, शेष अन्य अर्थों की जो प्रतीति होती है,

---

१ – व्य० वि० पृ०

वह शब्द के वल से नहीं, किंतु अन्य सामग्री के वल से। और अर्थ तो और हैं, स्वयं अभिधेयार्थ की भी उपस्थिति तव तक नहीं हो सकती, जव तक कि उसके अनुकूल सामग्री न हो। 'आचल में है दूध'—'यहाँ लाख सर पटका करे पर 'आचल' शब्द, कभी भी वह अपना अभिधेयार्थ नहीं दे सकता। यहाँ उसका अर्थ 'स्तन' ही है। यहा ऐसी सामग्री है, जो उस शब्द को वाध्य करती है, इसी अर्थ के उपस्थान के लिये। 'आचल' शब्द जो वाच्यार्थ नहीं दे पाता, उसका मुख्य कारण वाच्यार्थ वोध के अनुकूल सामग्री का अभाव है। अभिप्राय यह कि किसी भी अर्थ का वोध तभी सभव है, जव उसके अनुकूल सामग्री हो। उदाहरणार्थ, लक्ष्यार्थ ही है, इस अर्थ की प्रतीति तभी हो सकती है, जब मुख्यार्थ वाध, मुख्यार्थ एव लक्ष्यार्थ का सवध तथा रूढ़ि एव प्रयोजन में से कोई एक हो। महिम भट्ट का विचार है कि अभिधेयार्थ के अतिरिक्त, जितने अर्थ हैं, वे सव अभिधेयार्थ के वाद प्रतीत होने वाले है और उन सवकी प्रतीति कराने वाली कुछ सामग्री होती है। यही सामग्री वस्तुत उन अतिरिक्त अर्थों को अनुमित कराने में साधन है। अत सामग्री अनुमापक तथा अर्थ अनुमेय हुआ। इस प्रकार सभी अतिरिक्त अर्थ अनुमान प्रमाण से ही लब्ध होने वाले हैं। उसके लिये लक्षणा, व्यजना जैसे शब्द-शक्तियो के स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

३—तीसरी युक्ति यह है कि जिन अर्थों से व्यग्य अर्थ मिलते हैं, उनका परस्पर कोई सवध नहीं—वे दोनों परस्पर असवद्ध हैं—यह वात कुछ ठीक जँचती नहीं। कारण यह है कि यदि सर्वथा असवद्ध वाक्यार्थ से हम व्यग्यार्थ निकालें, तो चाहे जिस किसी वाक्य से मनमाना व्यग्यार्थ हम प्रतिपादित कर सकते हैं। अत. यही मानना उचित है कि जिन अर्थों का व्यग्यार्थ से सवध होता है उसी से व्यग्यार्थ का सपादन उचित और व्यवस्थापूर्ण जान पड़ता है। यह सवध भी अनियत एव नियत दो प्रकार का हो सकता है। यदि व्यजक अर्थ का व्यग्यार्थ से कोई नियत सवध नहीं है, तव तो इसका अभिप्राय यह है किसी प्रकार से अनियत-मनमाना ढग से सवद्ध वाच्यार्थों में भी व्यग्य-व्यजक भाव संबंध स्वीकार कर लिया जाय और फिर यही करना हो, तो सर्वथा असंवद्ध वाला प्रथम विकल्प ही क्यों न मान लिया जाय? स्थिति तो दोनों जगह की एक ही है, अर्थात् मनमानी दोनों जगह करनी हैं, अव्यवस्था उभयत्र है। अत. इन अव्यवस्थाओं से मुक्ति पाने के लिए आवश्यक है, कि व्यजक एव व्यग्य अर्थों में नियत-सवध मान लिया जाय। नियत सवध या नियत साहचर्य 'व्याप्ति' ही है और जिन दो पदार्थों की 'व्याप्ति' होती हैं,

उनमें से एक अनुमापक तथा दूसरा अनुमाप्य होता है। यहाँ अनुमान प्रमाण द्वारा ही अनुमाप्य या अनुमेय अर्थ की प्राप्ति होती है। उक्त पद्धति से व्यंजक ही अनुमापक है और व्यंग्य अनुमेय। इस अनुमेय अर्थ की प्राप्ति के लिए व्यंजना व्यापार नहीं, किंतु अनुमान प्रमाण को ही माध्यम मानना चाहिए। अथवा 'व्यंजना' माननी भी हो, तो उसे अनुमान प्रमाण से भिन्न नहीं कहना चाहिए।

ऊपर की तीनों युक्तियों से जो बात सिद्ध है, वह यही है कि व्यंजक अर्थ अनुमापक है और व्यंग्यार्थ अनुमेय। व्यंग्यार्थ के किसी भी एक स्थल को लेकर उक्त लक्ष्य की अप्रमाणिकता स्थिर की जा सकती है। यह सत्य है कि व्यंजक एवं अनुमापक सामग्रियों में एकता जान पड़ती है, पर यह एकता आपाततः ही जान पड़ती है, विचार करने से यह आपाततः ही प्रतीत एकता विनष्ट हो जाती है। व्यंजक अनुमापक कभी एक नहीं हो सकते। जहाँ अनुमापक अपने अनुमेय का असाधारण चिन्ह होता है, वहाँ व्यंजक के लिये यह आवश्यक नहीं है। व्यंजक का संबंध अनेक से हो सकता है, पर अनुमापक में यह बात नहीं है। अनुमान का लक्ष्य वास्तविक ज्ञान उत्पन्न करना है, व्यंजक का लक्ष्य चमत्कार मात्र उत्पादन करना है, उनको सत्य एवं असत्य से कोई प्रयोजन नहीं। अनुमापक को हर तरह से सत् एवं प्रामाणिक होना चाहिए, व्यंजक के लिये वह आवश्यक नहीं है। इस प्रकार व्यंजक वस्तुतः अनुमापक से सर्वथा भिन्न है। एक उदाहरण लीजिए—

'कुच के तट चंदन छूट्यो सबै, अधरानहु पै न रहै अरुनाई।
दृग-कंजन कोर निरंजन मे, तनु अंगन में पुलकावलि छाई।

नहि जानत पीर हितून की तूं, अरी बोलिबो झूठ कहाँ पढ़ि आई।
इतसों गई न्हाइबे वापी ही तू, न गई तिहिं पापी के पास तहाई॥

प्रसंग यह है कि कोई मदन-विह्वल कामिनी थी, उसने अपनी दूती को नायक के पास इस उद्देश्य से भेजा कि वह उसके पास जाकर सारी स्थिति का निवेदन कर दे, ताकि नायक दयार्द्र होकर उसके साथ ही चला आवे। दूती ऐसी स्वार्थपरायण निकली, नायिका की स्थिति का निवेदन तो एक तरफ हो रह गया, वह स्वयं नायक से संभुक्त होकर अकेले लौट आई और नायक को साथ न ला सकी। नायिका ने खाली लौटी हुई दूती से जब नायक के न आने का कारण पूछा, तो निरुत्तर दूती को देखकर उस विदग्धा नायिका ने

सब रहस्य ताड़ लिया और कहा तुम 'तुम वस्तुत यहाँ से वापी स्नान करने के लिए चली गई थी, नायक के पास गई ही नहीं क्योंकि वापी स्नान के सभी चिह्न तुम्हारे शरीर पर एक एक करके लक्षित हो रहे है—इत्यादि।'

अब विदग्धा नायिका के इस कथन से व्यग्य यह हो रहा है—'दूती नायक के ही पास रमण करने के लिये गई हुई थी।' इस अर्थ की प्राप्ति में वापी स्नान के समर्थक जिनके कारण कहे गए है, वे ही व्यजक अर्थ है, और उनकी सहायता से 'पापी' पद उक्त व्यग्यार्थ के व्यजक में और सहायक है। कारण यह है कि यदि विदग्धा नायिका का उक्त कथन वस्तुत वाच्यार्थ का ही बोध कराने वाला होता तो इसका अर्थ स्पष्ट यही होता कि दूती वापी स्नान के ही लिये गई थी। ठीक है, पर नायक को वह अभी-अभी पापी क्यों कर रही है ? जिसके प्रति उसका इतना अनुराग था कि स्वय दूती को उसके पास भेजा था, अभी इतनी ही देर में उसे पापी कहने का कारण क्या है ? दूसरे यह कि दूती की इस तरह की क्रिया उसने कई बार देखी थी, इसलिये उसकी आकृति देखकर वह विदग्धा भाँप गई, कि उस दुष्ट ने अपनी आदत फिर से दुहराई है और नायक इस पाप कृत्य में सम्मिलित होने से परितृप्त हो गया इसीलिये हमारी प्रार्थना पर आया नहीं। पर इस तथ्य को बड़े वैदग्ध्य पूर्ण ढग से नायिका प्रकाशित करती है, क्योंकि वह विदग्ध है, अन्यथा अभिधा वृत्ति में ही सारी बात कह देती। उसने सभोग के सपूर्ण चिह्नों को वापी स्नान का कार्य बताया और उपालभ दिया कि तुम्हे जितना अपने स्नान समय की बेला के अतिक्रमण का भय है, उतना हमारी पीड़ा का नहीं। अर्थात् तुम बड़ी स्वार्थ-परायण हो।' इस वैदग्ध्यपूर्ण ढग से उसने सारी बातें दूती से कह दीं। दूती को काटो तो बदन में खून नहीं। अस्तु, विचार करना है कि यहाँ जो व्यजक सामग्री है, क्या वह अनुमान के अनुकूल हैं ? अनुमापक हेतु की सभी शर्तें इस व्यजक में हैं ?

अनुमापक होने की पहली शर्त यह है (१) कि वह अपने अनुमेय या साध्य से ही एकमात्र सबद्ध हो। प्रस्तुत व्यजक में यह स्थिति नहीं। वापी स्नान के जो अर्थ हैं—(क) कुचस्थल का चदन झड़ जाना (ख) अधरों की ललाई छूट जाना (ग) दृगचल का अजन विहीन हो जाना (घ अग अग में रोमाच हो आना। वे व्यजक होते हुए एक मात्र व्यग्य 'दूती-सभोग' के ही चिन्ह नहीं हैं, वापी स्नान के भी चिन्ह हैं। अत अनुमापक होने की पहली शर्त इसमें सर्वथा नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि वक्ता ऋजु प्रकृति का

होता और दूती सती होती, तो लाख सर पटकने पर भी ये हेतु 'सभोग' को व्यक्त न कर पाते। कहने का तात्पर्य यह कि अनुमापक चिन्ह को अपना कार्य करने में वक्ता एवं प्रकरण आदि के वैशिष्ट्य की अपेक्षा नहीं है, जबकि व्यजक का इनके विना स्वरूप ही नहीं वन सकता। इस प्रकार यह सिद्ध है कि जिस प्रकार अनुमेय एव अनुमापक का स्वाभाविक नित्य सबंध है, उसी प्रकार व्यजक का स्वभावत. व्यग्य ही से नित्य सबध नहीं है और नित्य या नियत सबंध का न होना व्याप्ति का न होना एक ही वात है। अत' व्यंग्य एव व्यंजक में 'व्याप्ति' न होने से वे अनुमाप्य एव अनुमापक नहीं हो सकते और तव व्यंग्य का ज्ञान अनुमान प्रमाण से होना सर्वथा दूर है।

दूसरे यह कि वस्तु तथा अलकार जहाँ व्यग्य होते है, वहाँ हठात् अनुमान मान भी लिया जाय, तव भी 'रस' स्वरूप व्यग्यार्थ तो कभी भी अनुमेय नहीं हो सकता। किसी तथ्य का अनुमान हो जाना अन्य वात है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव होना दूसरी वात है। 'रस' का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, कुछ अनुमिति स्वरूप परोक्ष-अनुभव नहीं। एक अन्य वात यह है कि जो वस्तु अनुमित होती है, वह अनुमान करने वाले में ही नहीं होती, वल्कि अन्य में होती है। वह अन्य चाहे, नट हो और चाहे अनुकार्य। इस प्रकार जहाँ एक ओर सारा सहृदय समाज उस 'रस' को 'स्वय अपने में अनुभूत मानता है, वहाँ अनुमितिवादियों के मत से वह वस्तुत. अन्यदीय ही सिद्ध होगा। निष्कर्ष यह कि व्यग्यार्थ किसी भी प्रकार अनुमेय नहीं माना जा सकता और न व्यग्यार्थ के लिये साधन-स्वरूप व्यजना अनुमान प्रमाण ही। व्यंजना अनुमान प्रमाण से पृथक् है।

वेदांती और वैयाकरण तथा व्यजना :—

वेदाती एवं स्फोटवादी वैयाकरण जव पारमार्थिक दृष्टि से विचार करते हैं, तो कहा करते हैं कि वाक्य 'अखड हुआ करते हैं और जैसे वाक्यों में किसी प्रकार का कोई खंड नहीं, वैसे ही वाच्यार्थ भी अखड'[1] होते है। अखड से तात्पर्य यह है कि न तो वाक्य में विभिन्न प्रकार के कारक एव क्रिया स्वरूप कई खड है और न वाक्यार्थ के भीतर ही क्रिया एव कारक रूप से खड-

---

१—संसर्गासगिसबधी हेतुता या गिरामियम्। उक्ताखडार्थता यद्वात-त्प्रातिपदिकार्थता। वे० प० प्र० परि० पृ० १०१।

खड पदार्थों की स्थिति है। यह तो हुई वैयाकरणों की धारणा। भर्तृहरि[१] ने इसकी पुष्टि में कहा है कि सामसिक पदों में जैसे उसके प्रत्येक अवयव निरर्थक होते हैं, पर पूरे समुदाय का एक अखंड अर्थ होता है, उसी प्रकार पूरे वाक्य के पृथक् पृथक् खंडों का कुछ भी अर्थ नहीं होता, बल्कि निखिल वाक्य से एक अखड अर्थ प्रतीत होता है।

इसी प्रकार वेदांतियों का कहना है कि परमार्थतः एक ब्रह्म ही सत्य है, वही अखड पदार्थ है। सारे वेद वाक्य अखड रूप से एक मात्र अखंड पदार्थ (ब्रह्म) का ही बोध कराते हैं। बीच की पद-पदार्थ-कल्पना मायिक होने के कारण असत्य हैं।

इस प्रकार दोनों ही मतों में न तो विभिन्न प्रकार के पद और न विभिन्न प्रकार के अर्थों की ही कल्पना सत्य मानी गई है। और शक्तियों की कल्पना इन्हीं विभिन्न पद पदार्थों के ही ऊपर निर्भर है। जब विभिन्न प्रकार के पद-पदार्थ ही नहीं, तो विभिन्न शक्तियों की कल्पना अपने आप निरर्थक सिद्ध हो जाती है। व्यजना का अस्वीकार इस ढंग से स्पष्ट सिद्ध है।

उक्त विचार शुद्ध पारमार्थिक दृष्टि से किया गया है, व्यावहारिक दृष्टि से नहीं किया गया है। अत उक्त विचार से व्यजना के विचार का सच पूछिए, तो कोई विरोध ही नहीं है। कारण यह है कि व्यजना व्यवहार दशा की वस्तु है, परमार्थिक दृष्टि से तो उसका विचार ही नहीं है। वे ही वैयाकरण एव वेदांती जब व्यवहार दशा में उतरेंगे, तब अभिधा के पैरों पर लोटेंगे। वाच्यार्थ मात्र समझनेवाली मोटी बुद्धि के लोगों से सूक्ष्म बुद्धि सपन्न विदग्ध जनों का अतर सिद्ध करने के लिये व्यंजना को अगत्या स्वीकार करेंगे ही। दूसरे वेदांती के लिए तो प्रसिद्ध ही है कि वे लोग व्यवहार दशा में भाट्ट दर्शन के अनुयायी[२] हैं। भाट्ट मतानुयायी मीमासकों को भी व्यजना माननी पडती है, यह 'मीमासक और व्यजना' वाले प्रसग में अच्छी प्रकार सिद्ध किया जा चुका है। और जब वहाँ व्यंजना भाट्ट मतवालों को मान्य है, तो व्यवहार दशा में उनके अनुयायी वेदांतियों को भी वह बात मान्य ही है।

१—ब्राह्मणार्थो यथानास्ति कश्चिद्ब्राह्मणकम्बले।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः। वा० प०।

२—'व्यवहारे भाट्टनयः।'

वैयाकरणों को तो व्यवहार दशा में वाक्य में पदों की ही नहीं, पदों में भी प्रकृति एवं प्रत्यय की कल्पना करनी पड़ती है। पदों के साथ साथ पदार्थ और पद-पदार्थ की विभिन्न रूपता स्वीकार कर लेने पर नाना प्रकार की शक्तियां भी माननी पड़ती हैं। उसी बीच व्यंजना की चर्चा उन्हें करनी ही पड़ती है। यद्यपि यह प्रकृति, प्रत्यय, पद एव पदार्थ असत्य ही हैं फिर भी इनके बिना हम मूल सत्य अर्थ तक पहुँच ही नहीं पाते। सारा ससार मिथ्या है, सभी कर्म मिथ्या हैं, तथापि उन्हीं के द्वारा हम 'सत्य' की प्राप्ति कर पाते हैं।[1] भर्तृहरि ने स्वीकार किया है कि सत्य के ज्ञान में असत् का भी सहारा लेना पड़ता है। इसीलिये व्यवहार दशा में वाध्य होकर दोनों को पद-पदार्थों एव उनकी शक्तियों की कल्पना चाहे भले ही वे मिथ्या हों—करनी ही पड़ती हैं।

भट्टनायक की भावना तथा भोग और व्यंजना—

भट्टनायक ने भी व्यजना व्यापार न मानकर[2] अभिधा, भावना एवं भोग नाम की तीन शब्द शक्तियों की चर्चा की है। इन शक्तियों का सामान्यतः परिचय प्रथम परिच्छेद में दिया जा चुका है। भट्टनायक का स्थान रसवादी आचार्यों में है। केवल रस की ही दृष्टि से इन्होंने काव्यशब्दों की तीन शक्तियाँ स्वीकार की हैं। इनकी दृष्टि से काव्य में सर्वत्र रस ही प्रधानत. काव्य के उपकरणों का साध्य होता है। भट्टनायक ने उन स्थलों में भी (गोदावरी कूल के कुञ्जों) में जहाँ प्रधानतः वस्तु ध्वनि है, इस ध्वनि ही स्वीकार करते हैं। व्यजनावादियों के समान भट्टनायक भी रस को वाच्य नहीं कहते, परतु वे शब्द श्रवण के अनतर अभिधा से निवेदित 'विशेष रूप में प्रतीत पदार्थों को रसोपयोगी बनाने के लि भावनाये व्यापार की कल्पना करते हैं। यह भावना व्यापार असाधारण रूप से अभिहित पदार्थों को साधारणी कृत रूप में ले आते हैं। फिर इन्हीं साधारणीकृत पदार्थों के माध्यम से

१—उपायाः शिक्ष्यमाणाना बालानामुपलालनाः। असत्येवर्त्मनि स्थित्वाततः सत्य समीहते।

२—व्यापारस्त्रिविधो बुधैरभिमतः काव्येऽभिधा भावना,
भोगोत्पादकतात्मना तदधिको नास्ति ध्वनिर्नामन.।
सिद्धाद्या व्यवहारभूमिषु विभावाधर्मसाधारणी—कारात्मा त्वपरा निरर्गल रसास्वादात्मिकै वान्तिमा।

के होते हैं और वे वाचक ही कहे जाते हैं, इसी प्रकार अर्थ भी एक ही प्रकार के होते हैं और उनको वाच्य ही कहते है। ये वाचक और वाच्य यद्यपि लोक में भी प्रसिद्ध हैं, तथापि काव्य के वाचक और वाच्य कुछ और ही होते है। यहाँ पर्यायवाची अन्य शब्दों के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक शब्द ही वस्तुत. शब्द कहलाता है अर्थात् अनेक पर्याय वाचक शब्दों के होते हुए भी उन सबकी अपेक्षा विलक्षणारूप से जो अर्थ को प्रकाशित कर सके, केवल वही शब्द काव्य मार्ग में शब्द कहा जाता है। इसी प्रकार सहृदयों को आनदित करने वाले अपने स्वभाव से सुदर पदार्थ ही काव्य मार्ग में वस्तुत अर्थ कहा जा सकता है। लक्षण एव व्यजनों का वाचक शब्द में और लक्ष्य तथा व्यग्यार्थ का वाच्य अर्थ में ही समावेश करते हुए उन्होंने यह भी कहा है कि वस्तुत. जिस प्रकार वाचक शब्द में 'अर्थप्रतीतिकारिता' है, उसी प्रकार लक्षक एवं व्यजक में भी, अत 'अर्थप्रतीतिकारिता'– इस साधर्म्य के कारण औपचारिक रूप से लक्षक एव व्यंजक को भी वाचक के ही भीतर समेट लेना चाहिए। इसी प्रकार 'प्रत्येयत्व' रूप समान धर्म के वल पर लक्ष्य एव व्यग्य अर्थों को भी वाच्य के परिवेश में ही समझना चाहिए [1]। इस प्रकार व्यग्य, व्यजक एव व्यजना को कुतक ने हडप कर डाला है।

कुतक के उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्यजना उनके अतर में काफी भीन उठी है, वे उसे पचा न पाने पर भी केवल शब्दच्छल से उसे छिपा जाते है। कुतक यह नहीं कहते कि व्यंजक या व्यग्य नहीं हैं, वे तो उसे स्वीकार करते हैं और 'वाचक' शब्द से ही लक्षणा वृत्ति के सहारे उसे लखा देते है। व्यग्य है भी तो ऐसा जो लखाया मात्र ही जा सकता है। आलोककार ने अपनी जिस प्रतिभा के 'आलोक' में वाच्यार्थ से अवगुठित व्यग्य को लक्षण से, उदाहरण से पृथक् करके स्थिर किया, कु तक ने फिर उसे ढँक दिया, पर ढँका ही, स्वयं लोप कर देने का साहस उन्हें भी नहीं हुआ। दूसरे यह कि जो काव्यमार्गी 'शब्द' का स्वरूप निर्देश किया है, वह ध्वन्यालोककार के

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुदरः॥ वही पृ० ८३

१—'ननु च द्योतकव्यजकावपि शब्दौ सभवतः। तदसग्रहान्नाव्याप्तिः। यस्मादर्थ—प्रतीतिकारित्वसान्यादुपचारात्तावपि वाचकावेव। एव द्योत्यव्यग्ययोरर्थ यो· प्रत्येयत्वसामान्यदुपचाराद्वाच्यत्वमेव—व० जी० पृ० ३७।

व्यंजक शब्द का ही स्वरूप तो है। ध्वन्यालोककार ने व्यंजक शब्द उसी को कहा है जो 'उक्त्यन्तरेण'[1] अशक्य चारुता का संपादक हो और कुंतक ने भी काव्य मार्गीय शब्द उसी को कहा है जो विवक्षित चारुता के संपादन में केवल एक हो। तीसरे यह कि कुंतक ने 'प्रतीयमान' तत्व की चर्चा अपने ग्रंथ में अनेकशः की है। 'विचित्र, मार्ग का सोदाहरण विवेचन करते एक स्थल पर उन्होंने स्पष्ट बताया है कि वाच्य तथा वाचक की वृत्ति से व्यतिरिक्त व्यंग्यार्थ की प्रतीति इस मार्ग में उन्मीलित होती[2] है। इस प्रकार अन्यत्र भी प्रतीयमान तत्व का उल्लेख मिलता है।

चौथे यह कि स्वयं महिम भट्ट ने वक्रोक्ति के खंडन में कहा है कि जो वक्रोक्ति काव्य की आत्मा मानी गई है, उसकी यदि चीर फाड़ की जाय, तो वह व्यंजना से भिन्न नहीं हो सकेगी। वस्तुत. काव्यमार्गीय शब्दों का लोक एवं शास्त्र में परम्परा से प्रयुक्त शब्दों से जो वैलक्षण्य है, वही वक्रता है। विचारणीय यह है कि इस वैचित्र्य या वक्रता के आधान का कारण क्या है? अथवा स्वयं यह वैचित्र्य है क्या? यह वैचित्र्य रस की दृष्टि से या तो शब्दार्थगत 'औचित्य' होगा (जो लोक एवं शास्त्र के शब्दार्थों में नहीं होता) अथवा 'प्रतीयमानार्थपरता'[3]। लोक एवं वेद के शब्द केवल वाच्यार्थ मात्र में प्राय. प्रवण दिखाई देते हैं, बहुत हुआ तो लक्ष्यार्थ तक चले जाते हैं। अतः लोक एवं शास्त्र के शब्दों से काव्यमार्गीय शब्दों की ये ही दो प्रकार की विचित्रताएँ हैं—रस की दृष्टि से औचित्य का निर्वाह अथवा प्रतीयमान अर्थों की ओर उन्मुख रहना। संक्षेप में यह वैचित्र्य 'औचित्य' अथवा 'प्रतीयमानपरता' ही हो सकती है। इन दोनों में से भी प्रथम पक्ष अर्थात् 'औचित्य' को तो 'वक्रता' का पर्याय नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि इनका 'काव्यमार्गीय' शब्द आलोककार का 'ध्वनि' ही है। जैसे व्यंजना युक्त विशेष शब्द ध्वनि है, उसी प्रकार 'वक्रोक्ति' से अलंकृत विशेष शब्द काव्यमार्गीय शब्द है। अत जिस प्रकार 'आनंद' का 'ध्वनि' विशेष काव्य है, उसी प्रकार

१—उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्। शब्दोऽभिव्यंजकताबिभ्रद्ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्॥ ध० आ० पृ० १४६, १५ वीं कारिका।

२—प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्यनिबध्यते। वाच्यवाचकवृत्तिभ्यामतिरिक्तस्य कस्याचित्। व० ज० पृ० २२५, का० ४०।

३—व्यक्ति विवेक, प्रथम विमर्श।

इनकी वक्रोक्ति समन्वित उक्ति भी विशेष काव्य है अर्थात् 'वक्रता' काव्य सामान्य से विशेष काव्य का व्यावर्तक धर्म है। इसी प्रकार 'प्रयीयमानपरता' भी सामान्य काव्य से विशेष काव्य का व्यावर्तन करती है। अब, 'औचित्य' का संबंध तो काव्य सामान्य से है। बात यह है कि काव्य वही हो सकता है, जो रसमय हो। रसमयता विभावादि की औचित्यपूर्ण योजना पर निर्भर है। अतः 'औचित्य' का सबंध काव्य-सामान्य से होने के कारण वह 'वक्रता' का पर्याय नहीं हो सकती, बल्कि काव्य-विशेष का चिन्ह जो 'प्रतीयमानपरता' है, 'वक्रता' कुछ वही है। इस प्रकार वक्रोक्तिकार को व्यजना माननी ही पड़ती है। आर्थी व्यजना का सप्रपच विचार यहीं समाप्त होता है।

———

षष्ठ परिच्छेद

लक्षणामूला व्यंजना

तृतीय परिच्छेद के अंत में शाब्दी व्यजना के जो भेद किये गए थे, उनमें से अभिधा मूल व्यजना का विचार तो हो चुका, सम्प्रति, लक्षणा मूला व्यजना का विचार आरभ किया जा रहा है। तृतीय अध्याय से पूर्व द्वितीय अध्याय में लक्षणा शक्ति का सामान्य परिचय देते हुए यह बताया गया है कि लक्षणा दो प्रकार की होती है—निरूढ़ा तथा प्रयोजनवती। लक्षणामूला व्यजना का सबध केवल प्रयोजनवती लक्षणा से है। वाचक शब्द ही जब जिस किसी विशेष प्रयोजन वश लक्षक का रूप धारण कर लेते हैं, तो उसी प्रयोजनांश की प्रतीति व्यजना व्यापार के द्वारा मानी जाती है। इस व्यजना के उल्लास में लक्षणा ही मूल है, अतः इसे लक्षणामूला व्यजना कहा जाता है। एक उदाहरण लीजिये—'पढ़ना हो तब तो काशी ही दौड़ आती है, पर हमारी विपत्ति में न कोई आता है और न कम से कम यही पूछता कि—'भाई! आप हैं कैसे? भयकर स्वार्थ ससार के पोर पोर में भरा है।' यह किसी परोपकारी एव विपन्न काशी के पडित का वाक्य है। इसमें 'काशी' 'संसार के पोर' और उसमें 'स्वार्थ' आदि ऐसे अभिधायक पद हैं, जो इस प्रसग में अपनी अभिधायकता या अभिधावृत्ति का परित्याग करके किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए 'लक्षक' बन जाते हैं और 'लक्षणा' व्यापार से वांछित अर्थ की निष्पत्ति कराने लगते हैं। 'काशी' पद का अभिधेय अर्थ है, 'काशी नगरी'। यह स्वय जड़ है और हाथ, पॉव से विहीन, अतः उसका दौड कर आना सर्वथा संभव नहीं है। अतः निश्चित है कि यहाँ 'काशी' पद कुछ ऐसे लोगों का बोध कराता है, जिन्हें हाथ, पाँव हैं। इस प्रकार काशी पद अपनी अभिधावृत्ति के निष्फल होने पर लक्षणा की सहायता से काशी वासियों का बोध कराता है। यद्यपि 'काशीवासी' अर्थ का वाचक शब्द है, फिर भी वाछित अर्थ के अवाचक शब्द का प्रयोग क्यों किया जाय? विपन्न पंडित कहसकता था 'अपने स्वार्थ से काशी के लोग चले आते है, और विपत्ति पर नहीं।' पर इस ऋजु कथन से काशी के अधिक से अधिक लोगों की स्वार्थवृत्ति पर जो रोष है, वह व्यक्त न हो पाता। वाचक शब्द से स्वार्थियों की संख्या गत

अधिकता न व्यक्त हो पाती, जो लक्षक शब्द से व्यक्त हो सकी है। 'स्नाथियों की इसी अधिकता' की प्रतीति कराना ही इस स्थल में लक्षणा का प्रयोजन है। यह प्रयोजनाश व्यजनावादियों के मत से व्यंजना व्यापार का फल है।

अब कुछ ऐसे लोग हैं, जो व्यजना के उक्त स्वरूप पर कुठाराघात करने के लिए बद्ध परिकर हैं। इस स्थल की व्यजना का जो लोग खडन करते हैं, उनके मुख्यरूप से दो ही तर्क हैं (1) एक तो यह कि 'काशी' पद की लक्षणा से 'काशीवासी' अर्थ की प्रतीति हो और फिर 'काशीवासी' अर्थ की लक्षणा से प्रयोजनाश की प्रतीति हो। उत्तरोत्तर लक्षणा वृत्ति ही दोनों अर्थों की प्रतीति करादे, क्यों ? (11) और दूसरा यह है कि एक ही बार में 'काशी' पद की लक्षणा शक्ति प्रयोजनाश से युक्त (लक्ष्य) अर्थ को विशिष्ट रूप में (पृथक् पृथक् नहीं) उपस्थित कर दे। उक्त रीति से प्रथम पक्ष के दोनों स्तर के अर्थों को पृथक् पृथक् रखकर क्रम से लक्षणा का बोध्य बनाना चाहता है, जब कि अंतिम पक्ष दोनों को एक साथ जोड़कर विशिष्ट रूप में एक ही बार लक्षणा शक्ति से प्राप्त करा देना चाहता है। दोनों पक्षों में व्यजनावादी दोष का उद्घाटन करता है।

प्रथम पक्ष का कहना है कि जिस प्रकार वाच्यार्थ के अनतर वाछित अन्वयोपयोगी अर्थ लक्षणा से आता है, उसी प्रकार इसके बाद प्रयोजनाश को भी लक्षणा से ही प्रतीत होना चाहिए। पर देखना यह है कि जिस प्रकार अन्वयोपयोगी (काशीवासी) अर्थ की प्राप्ति के लिए लक्षणा जिन उपकरणों की अपेक्षा रखती है, वे सबके सब उपस्थित हैं ? क्या वही स्थिति प्रयोजनाश की में भी है ? कदापि नहीं। अन्वयोपयोगी (काशीवासी) अर्थ की उपलब्धि से पूर्व लक्षणा के तीनो उपकरण उपस्थित हैं—'काशी' पद का वाच्यार्थ अन्वयानुपयोगी है, अतः मुख्यार्थ (के अन्वय का) बाध है ही, मुख्यार्थ एव लक्ष्यार्थ में आधाराधेय सबध भी है और उपर्युक्त प्रयोजन तो नि सदिग्ध है ही, इस प्रकार यहाँ तीनों उपकरण हैं। परतु अन्वयोपयोगी काशीवासी अर्थ की उपलब्धि के अनंतर न तो (१) अन्वय की अनुपपत्ति ही है। (२) न 'काशीवासी' से प्रयोजनाश का कोई सहृदय संमत सबध ही है और न 'काशीवासी' अर्थ की प्रयोजनांश के लिए स्वीकार की जाने वाली लक्षणा में कोई अवातर प्रयोजन ही लक्षित होता है। दूसरे यह कि 'काशीवासी' स्वरूप यदि मुख्यार्थ होता तब उसका बाध मुख्यार्थबाध कहा जाता। 'काशीवासी' तो लक्ष्यार्थ है।

इसे हठात् मुख्यार्थ मान भी लें, तो भी उसका अनुपयोग नहीं है। सारांश यह कि प्रयोजनांश की प्राप्ति के लिए लक्षणा के उल्लासक तीन कारणों में से जब कोई भी कारण नहीं है, तो बलात् कैसे मान लिया जाय कि 'काशीवासी' अर्थ की लक्षणा शक्ति से ही प्रयोजनांश की उपलब्धि हुई है और अकारण यदि कोई बात मान ली जाय, तो सारी व्यवस्था शिथिल हो जाती है। अत ऐसी बात जिससे एक व्यवस्थित पद्धति भी चली जाय और उसका कोई फल भी न हो, क्यों स्वीकार की जाय ?

द्वितीय तर्क है, 'प्रयोजनांश' से विशिष्ट 'अन्वयोपयोगी अर्थ में लक्षणा मान ली जाय। इससे एक 'व्यापार' कम करना पड़ेगा। पर यह पक्ष भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि 'काशीवासी' अर्थ लक्षणा का विषय है और 'आधिक्य' लक्षणा का फल। कुछ प्राचीन मीमांसक तथा मंमट आदि आलंकारिक लक्षणा को 'ज्ञान' स्वरूप मानते हैं। इस प्रकार यहाँ लक्षणा ज्ञान रूप है। और 'काशीवासी' उसका विषय। आधिक्य की प्रतीति उसका फल है। जिस प्रकार ज्ञान से ज्ञान का विषय भिन्न होता है उसी प्रकार ज्ञान से ज्ञान का फल भी। उदाहरण के लिए नैयायिकों की दृष्टि से प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय घट आदि [विषय] हैं और उस ज्ञान का फल है अनुव्यवसाय[1] मीमासक इसी प्रत्यक्ष ज्ञान का फल 'संवित्ति'[2] को मानते हैं। इन स्थलों में भी ज्ञान से ज्ञान का फल भिन्न है और उनकी प्रतीति भी भिन्न भिन्न काल में होती है। जब इन विषयों तथा फल की प्रतीतियां भिन्न भिन्न काल में होती हैं तो निश्चय ही उनके कारण भी भिन्न भिन्न होने चाहिए। क्योंकि यदि दोनों प्रतीतियों का कारण एक ही माना जायगा तब उसके कार्य रूप दोनों प्रतीतियाँ भी साथ ही होने लगेंगी और इससे होगा यह कि अनुभव साक्षिक क्रम नहीं बन पायगा। फलतः 'विशिष्ट' में लक्षणा स्वीकार करने वाला पक्ष भी अयुक्तियुक्त ही है 'तीर ज्ञान' एव उसके फल 'शैत्यादि ज्ञान' में भेद स्थिर रखने के लिए दोनों को भिन्न-भिन्न शक्ति का कार्य मानना चाहिए।

साराश यह कि प्रयोजनाश में शब्द (या अर्थ) का व्यंजना नामक व्यापार ही कार्य करेगा, लक्षणा किसी भी प्रकार उस कार्य में शक्त नही है।

१—'अनुव्यवसाय'—द्रष्टा के अंतःकरण में किसी विषय के ज्ञान अनतर उत्पन्न होनेवाला ज्ञान है। प्राथमिक ज्ञान का यह फल है।

२—'सवित्ति'—मीमांसक 'ज्ञान' का फल द्रष्टा में नहीं, दृश्य विषय में मानते हैं। इसे वे लोग 'प्रकटता' के नाम से भी पुकारते हैं।

इस अध्याय एवं पूर्व के अध्यायों में व्यंजना के जितने प्रकार चर्चित हुए है, एक तरफ यदि उन्हें रखें और दूसरी ओर अन्य शक्तियों को, तो इस दृष्टि से भी व्यजनामात्र अभिधा एव लक्षणा से कई माने में भिन्न ठहरती है। अभिधा एवं लक्षणा दोनो को अपना आश्रय बनाने के कारण व्यजना इन दोनो से भिन्न होगी। दूसरी बात यह है कि अभिधा एव लक्षणा सदैव शब्दाश्रित रहनेवाली शक्तियाँ हैं, व्यजना तो केवल शब्दों में ही रहती हो सो नहीं, उससे आगे बढ़कर वह चेष्टा एवं राग आदि में भी रहती है। अत इन दोनों की अपेक्षा व्यंजना एक व्यापक शक्ति है। इसका कार्य सहृदयों को निरतर अनुभूत होता रहता है। इसी व्यंजना के बल पर विदग्धों की गोष्ठी में अविदग्धों की कलई खुल जाती है। अतः न तो व्यंजना का अपलाप किया जा सकता है और न अन्य शक्तियों में अंतर्भाव ही। व्यंजना एक स्वतंत्र शब्दशक्ति है—इस सिद्धात में लेशमात्र भी संदेह नहीं है।

यहाँ तक व्यजना के तीनों रूपों—अभिधामूल शाब्दी व्यजना, आर्थी व्यजना तथा लक्षणामूला व्यजना—का उपपत्तियो के साथ सांगोपांग विचार समाप्त हुआ।

सप्तम परिच्छेद

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र और व्यंजना

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग से कुछ पूर्व तक योरुपीय साहित्यशास्त्र का संबंध मुख्य रूप से परंपराग्रस्त एवं रूढ़ विषयों—जैसे, शब्दों का चुनाव, रीति रचना आदि से ही था। फलतः साहित्यशास्त्र के सूक्ष्म प्रश्न अछूते ही रह गए, व्यवहार में उनका अवतार कतई न हो सका। तात्पर्य यह कि उन दिनों साहित्य का बाह्य पक्ष ही लोगों की विवेचना का विषय बना रहा, अतः आंतर पक्ष अनुद्घाटित ही रहा। फिर भी आरंभिक वाद विवादों में कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनसे व्यंजना का संबंध स्थिर किया जा सकता है।

काव्य के आधार शब्द हैं। काव्य शब्दों का उपयोग इस तरह करता है कि उनकी सहायता से हमारे भाव और विचार हमारी कल्पना में इंद्रियोत्तेजक अनुभवों के रूप नाचने लगते हैं। रचना कौशल द्वारा काव्य भाषा को आंतरिक अनुभव के समशील होने के लिये विवश कर देता है। भाषा की यह शक्ति कविता में अधिक दृष्टिगोचर होती है।

कविता भाषा में आंतरिक अनुभव का प्रतिरूप देती है, और इस उद्देश्य को वह शब्दों के अर्थतत्व एवं संगीत तत्व के मेल से पूर्ण करती है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्रियों का विचार है कि शब्दों के दो तरह के अर्थ होते हैं Grammatical (Logical) and Emotive (or Suggestive) सरल एवं प्रतीयमान। इन लोगों के विचार से किसी शब्द का सरल अर्थ वही है, जिसे हम अपने शब्द कोष में पाते हैं। भारतीय दृष्टि से ये अभिधेयार्थ हैं। कविता शब्दों का उनके सरल अर्थों में भी प्रयोग करती है, परंतु वह शब्दों के असरल मूल्यों पर अधिक एकाग्र होती है। शब्दों का असरल या काव्यात्मक मूल्य उनके अर्थ की असामान्य योग्यता के अतिरिक्त कोई दूसरी चीज नहीं है। यह असामान्य योग्यता विशिष्ट साहचर्यों में संदर्भ से व्यंजित होती है। शब्द को मूल्य देने में कवि उस शब्द को उसके सरल अर्थ से हटाकर उसे ऐसे अर्थ का व्यंजक करता है, जिससे

वह शब्द वैयक्तिक शक्ति और विशिष्ट जान पा जाता है। शब्दों के मूल्य का स्रोत है अनुभव। किसी शब्द का मूल्य जीवन के व्यापारों के संबंध में उसके प्रयोग से आता है। जीवन के कोई दो व्यापार एक से नहीं होते परन्तु उनको व्यक्त करने के लिये शब्द एक से हो सकते हैं। जीवन का कोई कार्य व्यापार अपने को नहीं दुहराता, पर भाषा अपने को दुहराती है। इसी कारण थोड़े थोड़े भिन्न कार्यों और व्यापारों के सम्बन्ध में प्रयुक्त होते होते शब्द अनेक विभिन्न अर्थों के सूचक हो जाते है। फिर, किसी शब्द से चिह्नित कोई कार्य दूसरे अनुभूत कार्यों से फँसा हुआ पुनः उपस्थित हो सकता है। इस प्रकार किसी शब्द की विभिन्न-व्यंजना एक ही कार्य से संबद्ध नहीं रहती, परंतु दूसरे अनुभवों से संबद्ध अवस्थाओं और परिस्थितियों तक बढ़ जाती है और धीरे धीरे उस शब्द में व्यंजकता की एक अद्भुत राशि इकट्ठी हो जाती है। ऐसे समृद्ध शब्दों में ही सौंदर्य की राशि पुंजीभूत रहती है। साहित्य सौंदर्य का उपासक है और वह इस कार्य में ऐसे शब्दों को ही माध्यम बनाता है।[1]

अरस्तूः व्यंजना

यों तो कवि को सभी शब्द प्रिय होते हैं, पर सुंदर शब्द अधिक प्रिय होते हैं। पुरातन आलोचक लाञ्जिनस ने कहा है कि सुदर शब्द भावों और विचारों के प्रकाश हैं। कवि ऐसे ही सुंदर शब्दों के साथ रहता है। वह उनके सासारिक एवं बाह्य गुणों से पूर्णतया परिचित होता है। कवि का जीवन आनंद ही शब्दमयी अभिव्यंजना है। ऐसे शब्द जो जीवन के विभिन्न कार्यों से संबद्ध होकर समृद्ध हो जाते हैं, पाठक को काव्यरस का आस्वाद कराते हैं। कवि कभी कभी शब्दों को उन्हें थोड़े से बदले हुए अर्थ में प्रयोग करता है और ऐसा करके उसे ऊपर उठा देता है। अरस्तू ने कवियों को यह संमति दी है—'तुम्हें अपने वाक्यांश को strange रूप देना चाहिए, क्योंकि शैली के संबंध में मनुष्य ऐसे ही प्रभावित होते हैं, जैसे वे दूसरे देशों के नागरिकों से प्रभावित होते हैं। प्रायः प्रयोगप्रवाह में अक्षुण्ण पद आकर्षक होते हैं। इसका कारण यह है कि वे अपरिचित होने के कारण विचित्र या

१—डा० लीलाधर गुप्त—पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत।

लोकोत्तर जान पड़ते हैं और लोकोत्तरता आनंद का स्रोत है[1]। आचार्य ने यहाँ स्पष्ट ही लोकोत्तर भाषा के प्रयोग का आग्रह किया है। यह लोकोत्तरता भारतीयों की 'वक्रता' ही है। इसी प्रकार अरस्तू ने एक जगह और भी कहा है कि अपरिचित शब्दों के प्रयोग से काव्यरीति विशिष्ट और रसमय हो जाती है[2]। 'व्यक्तिविवेक' में महिम भट्ट ने 'वक्रता' की जो परिभाषा दी है, जान पड़ता है वह अरस्तू के (that deviates from the ordinary modes of speech इस वाक्य का अनुवाद ही है। भट्ट जी ने वक्रोक्ति की परिभाषा देते हुए कहा है—[3]लोक और वेद के प्रसिद्ध शब्दबंध से पृथक् शब्द बंधगत वैचित्र्य ही वक्रता है। ऐसे वैचित्र्य से समन्वित उक्ति वक्रोक्ति है। अरस्तू ने अपने (पोइटिक्स, परि० २१) ग्रंथ में काव्य में प्रयुक्त होनेवाले संज्ञापदों के जो आठ भेद स्वीकार किए हैं, उनमें से प्रथम दो Ordinary word and strange word पूर्व चर्चित सरल एवं असरल या वक्रता विशिष्ट शब्द ही हैं।

भट्ट जी ने इस वक्रता की चीर-फाड़ करते हुए आगे सिद्ध किया है कि कुंतक की यह 'वक्रता' आनंदवर्द्धन की 'व्यक्ति' ही है, उससे भिन्न कोई तत्व

---

1. "They admire most what they know least. Hence it is proper to invest the language with a foreign air, as we all admire any thing which is out of the way, and there is certain pleasure in the object of wonder.'

The Rhetoric of Aristotle (Translated by D. E. C. Wildon), page. 329.

2. The diction becomes distinguished and non-prosaic by the use of unfamiliar terms, i. e. strange words, metaphors, lengthened forms and everything that devices from the ordinary modes of speech

Poetics' see 22, page 75.

3—'शब्दार्थौ सहितौ' इत्यादिना शास्त्रादि प्रसिद्ध शब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि यद्वैचित्र्यं तन्मात्रलक्षणं वक्रत्वं नाम काव्यस्य जीवितमिति,—व्यक्ति विवेक, प्रथम विमर्श, पृ० १२५,।

नहीं। कारण यह है कि यह वक्रता या विलक्षणता दो ही प्रकार की संभव है या तो वह काव्य की दृष्टि से शब्दार्थगत औचित्य है और नहीं तो प्रसिद्धार्थ अभिधेयार्थ या सरल अर्थ से हटाकर असरल या प्रतीयमान अर्थ की ओर शब्द को मोड़ देने से जो विलक्षणता उत्पन्न होती है, वह है। सिवा इन दोनों रूपों के वक्रता नाम[1] की वस्तु का और कोई अर्थ नहीं हो सकता। जहाँ तक औचित्य के अर्थ में 'वक्रता' के प्रयोग की बात है, वह इसलिये स्वीकार्य नहीं है कि उसकी इस रूप में कोई उपादेयता नहीं है। यदि वह नहीं भी कहा जाता, तो भी केवल काव्य की चर्चा मात्र से उसकी सत्ता साथ साथ लगी चली आती। क्योंकि औचित्य तो एक ऐसा तत्व है जिसके बिना काव्यत्व ही नहीं आ सकता। काव्यत्व के साथ उसका अन्वय व्यतिरेक है, अतः उसको काव्य में विशेषाधायक के रूप में कहना निरर्थक हो जाता है। बात यह है कि काव्य शब्द का व्यवहार वहीं हो सकता है जहाँ सरसता हो—जहाँ रस हो और वह रस वहीं हो सकता है जहाँ औचित्य हो, क्योंकि अनौचित्य रस भंजक होता है,[2] अतः औचित्य, रस, काव्यत्व सब एक दूसरे के बिना रह ही नहीं सकते, अतः ये सब तो काव्य के स्वरूप ही हुए, उसकी विशेषता नहीं। कुंतक ने 'वक्रता' को काव्य की विशेषता के रूप में कहा है, इसलिये वह औचित्य का पर्याय नहीं हो सकता, बल्कि उसे 'प्रतीयमानपरक ही समझना चाहिए अर्थात् इसे ध्वनि का ही प्रकारांतर से लक्षण समझना चाहिए। इस प्रकार यह वक्रता या विचित्रता व्यक्ति के संस्पर्श से आनेवाली वस्तु सिद्ध हुई। यही विचित्रता चमत्कार पैदा करती है। तभी तो रस गंगाधरकार का कहना है कि[3] प्रतीयमान से असंस्पृष्ट रहकर कोई भी अर्थ

१—यतः प्रसिद्धोपनिबन्धनव्यतिरेकित्वमिदं शब्दार्थयोरौचित्यमात्रपर्यवसायि स्यात्, प्रसिद्धाभिधेयार्थ व्यतिरेकि प्रतीयमानाभिव्यक्तिपरं वा स्यात्। प्रसिद्ध प्रस्थानातिरेकिणः शब्दार्थोपनिबन्धनवैचित्र्यस्य प्रकारान्तरासंभवात्। तत्राधस्तावत् पक्षोऽत्र न शंकनीय एव। तस्य काव्यस्वरूपनिरूपणसामर्थ्यसिद्धस्य पृथगुपादानं वैयर्थ्यात्। द्वितीय पक्षपरिग्रहे पुनर्ध्वनेरेव लक्षणमनया भङ्ग्याभिहितं भवति, अभिन्नत्वाद्वस्तुनः।'

व्य० वि०, प्र० वि० पृ० १२६।

२—'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्'। ध्वन्यालोक, तृ० उ०।

३—'न तादृशोऽस्ति कोऽपि वाच्यार्थ यो मनागनामृष्ट प्रतीयमान एव स्वतो रमणीयतामाधातुं प्रभवति।'

रसगंगाधर, प्रथमानन, छठा संस्करण, पृष्ठ २३।

चमत्कारावह नहीं हो सकता। अभिनव गुप्त ने भी इस वक्रता को लोकोत्तरता (प्रसिद्ध से पृथक्) ही कहा है[1]। व्यक्तिविवेककार ने इसे पुनः और स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि प्रसिद्ध मार्ग को छोड़कर जो अन्यथाभिधान है वही वक्रोक्ति[2] है। साराश यह कि यह वक्रता-विलक्षणता व्यक्ति या व्यजना से ही सिद्ध है। जिसने इसकी चर्चा की, उसने जाने, अनजाने व्यंजना की सत्ता मान ली। (डा० द्विवेदी का कथन है कि) अरिस्टाटिल वक्रता समन्वित शब्दों के प्रयोग की धारणा के कारण अर्थों के स्पष्ट प्रेषणीय गुण या सक्रमण वैशिष्ट्य से सतुष्ट नहीं था। परतु उसका लक्ष्य यह था कि प्रयोक्ता पाठक को लोकोत्तर, सामासिक पदावली, रूपकात्मक या आलकारिक प्रयोगों के माध्यम से प्रभावित करे।

अरस्तू ने एक तरह से और व्यजना की सत्ता मानी है। उसने 'स्टाइल' के दो गुणों एवं चार दोषों की चर्चा की है। वे दो गुण हैं—परसीपीक्यूटी (Perspicuity) एव प्रोप्राइटी (Propriety)[3]। प्रथम का सबध भारतीय 'प्रसाद' गुण से जान पड़ता है, जो सर्वरस साधारण है तथा दूसरे का सबध 'औचित्य' से। इस औचित्य की चर्चा भी व्यग्यार्थ के सद्भाव का समर्थन करती है। 'औचित्य' देखकर ही कवि शब्दों का चयन करता है। कवि किसी अर्थ को व्यक्त करने से पहले उसके तमाम पर्यायों पर दृष्टि डालता है और उनमें से किसी एक को चुन लेता है—उसमें वह अन्य पर्यायों की अपेक्षा कुछ और देखता है, बस उसे अपना लेता है। यदि सभी शब्द अभिधेयार्थ मात्र को ही देने वाले होते, तो 'कुछ और' का प्रसग ही समाप्त हो जाता है और फिर चयन की कहानी खतम। 'अत' 'प्रसिद्धावयवातिरिक्त' कुछ और मानना पड़ेगा, जो शब्दों की शक्ति से झलकता है। ऐसी ही शक्ति को आचार्यों ने व्यजना कहा है। यद्यपि कुछ लोग इस 'अर्थतत्व' (कुछ और) के अभाव में औचित्य का निर्णायक सगीततत्व (पदगत वर्णों के

१—'शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता, लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्। लोकोत्तरतैव चातिशयः।' (ध्वन्यालोक) लोचन।

२—प्रसिद्ध मार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्यसिद्धये।
अन्यथैवोच्यते सोऽर्थः सा वक्रोक्तिरुदाहृता ॥व्यक्ति०वि० पृ० १२६।

३ - Rehotoric, Book III Chapter II p.

मेल से उत्पन्न) को मान सकते हैं, पर इससे अर्थतत्व की असाधारणता का तिरोधान नहीं होता, उसे तो मानना ही पड़ेगा।

लाञ्जिनस सब्लीमिटी व्यञ्जना

प्रसिद्ध पुरातन आलोचक लांजिनस का विचार है कि कविता उसी को कहते हैं जो[1] हर्षोन्माद पैदा करे। १२ वीं शताब्दी में अरिस्टाटिल के शासनों के प्रति जो क्रांति फ्रांस में हुई थी, उस समय जूवर्ट ने इसे पुन. दुहराया था। लांजिनस की दृष्टि में काव्य का सर्वस्व है (सब्लिमिटी) औदात्य ? प्रश्न यह है कि 'सब्लिमिटी' का आविर्भाव कब होता है। जो[2] वस्तु साधारण से विलक्षण होती है वह श्रोताओं के मस्तिष्क को अनुकूल तथा ऋजु ही नहीं बनाती, प्रत्युत उसे आह्लाद मग्न कर देती है। और उसी समय इसी प्रभाव से औदात्य का अनुभव होता है। लेखक की यह उक्ति ऊपर वाली 'प्रसिद्धातिरिक्त' विचित्रता या वक्रता से मेल खाती है। अत: वे ही सारी बातें व्यजना की दृष्टि से यहाँ भी कही जा सकती हैं।

लांजिनस के मत से वही काव्य महत्त्वशाली है जो ऐसी वस्तुओं से परिपूर्ण हो जो नवीन एव विचारोत्तेजक हों और अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाती हों। औदात्य का यही निकष है कि वह प्रसाद एव प्रभाव का वास्तविक उपस्थापक हो[3]। विचार करें, तो एक तरह से यह वक्तव्य रस तत्त्व का निर्देशक है।

१—पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धात, लीलाधर गुप्त, प्र० स० पृ० स० १३३२।

2—For what is out of the common leads an audiance, not to persuasion, but to ecstasy or transport" 'On the Sublime'

3—"That is really great, which gives much food for fresh reflection, which is hard, nay impossible to resist, or which the memory is strong and indelible. You may take it that there are 'beautiful and genuine effects of sublimity which pleases always and which pleases all.' "On the Sublime"

यद्यपि अरस्तू ने भी उक्त विशिष्ट[1] सुख का उल्लेख अपने यहाँ किया था, पर इसके उत्थापक को काव्य का निकष नहीं कहा था। लाजिनस ने इस पर ध्यान दिया। उसने लिखा है कि साहित्य में औदात्य भाषा की उच्चता एवं वैशिष्ट्य है।[2]

साहित्य में अत्युदात्तत्व पांच स्रोतों से आता है।[3] पहला तत्व है महान विचारों के सोचने एव ग्रहण करने की शक्ति, जो ऊँची प्रतिभा का फल है। लाजिनस ने जो यह कहा है कि कोई कवि इसी गुण (सब्लिमिटी) के कारण महान् हो जाते हैं, उसका पूरा मेल ध्वन्यालोककार की इस उक्ति से हो जाता है कि 'उस अनिर्वचनीय तत्व को प्रवाहित करती हुई महाकवि की वाणी अलोक सामान्य प्रतिभाविशेष के परिस्फुरण को व्यक्त करती है, जिससे इस अति-विचित्र कवि परंपरावाही ससार में कालिदास प्रभृति केवल दो तीन या पाँच छह लोग ही महाकवि गिने जाते हैं।'[4] दूसरा तत्व है प्रबल एवं द्रुततर मनोवेग, जिसकी क्षमता भी प्रकृतिदत्त ही होती है। तीसरा तत्व है शब्दार्था-लंकार का युक्तियुक्त प्रयोग। ध्वन्यालोककार की दृष्टि से इसे हम ध्वनि काव्य का 'अपृथग्यत्न निर्वर्त्य[5] अलंकार' कह सकते हैं। चौथा तत्व है पद रचना—वाक्यशैली। पाँचवाँ तत्व है चमत्कारक प्रणयन। इन सब गुणों से युक्त औदात्य की पहचान यह है कि इसका आस्वाद होने पर सहृदय की आत्मा सत्वोद्रेक से आनन्दमय हो उठती है। यह विवेचन रस निरूपण परक भट्ट-नायक के रस-प्रभाव का अविकल अनुवाद जान पड़ता है। उसने भी 'भोग'[6] का स्वरूप यही माना है।

१—देखिए पृ०———प०———।

२—"A Treatise concerning sublimity."

३—On the Sublime

४—'सरस्वती स्वादुतदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महता कवीनाम्। अलोक सामान्यमभि व्यनक्ति परिस्फुरतप्रतिभाविशेषम्' ———ध्वन्या० पृ० ६१' येनातिविचित्रेऽस्मिन् कविपरम्परा वाहिनि संसारे द्वित्राः पचषा वामहाकवयो दृश्यते' लोचन।

५—ध्वन्यालोक, पृ० ६२

६—'सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्ति सतत्वेन भोगेन'—

काव्य प्रकाश, च० उ०, पृ० ६०।

भारतीय सौंदर्य (इस तत्व) रसमयता ही है—इतना तो निर्विवाद ही है। पश्चिमी लोग रसमयता को असुन्दर नहीं कहेंगे। आलोककार भव्यता एवं व्यजकत्व को मिलाते हुए कहते हैं—'शब्दविशेष[1] में' जो चारुता प्रतीत होती है, वह शब्द की व्यजकता के ही कारण है। व्यजकता एव चारुता—दोनों का साहचर्य नियत है। यद्यपि व्यजकत्व शब्द का धर्म है और चारुता (चारु—सुदर—) रस का, अतः दोनों के आधार भिन्न हैं, तथापि परपरया चारु के व्यजक होने के कारण उन शब्दों को भी चारु कहते हुए हम बार बार लोक में सुनते हैं और उसी लौकिक व्यवहार की वासना से वासित होकर यहाँ चारुता को शब्द में भी देखते हैं। निश्चित है कि इन रसमय स्थलों में अर्थ सामर्थ्य से आक्षिप्त रस के व्यजक होने के कारण ही वे शब्द चारु कहे गए हैं। कोई कह सकता है कि कुछ शब्द ऐसे हैं जो नीरस स्थल में भी प्रयुक्त होकर चारु प्रतीत होते हैं, उदाहरणार्थ शुद्ध प्रकृतिवर्णन परक कोई काव्य है, वहाँ कोई रस—निष्पादन इष्ट नहीं है और उस प्रसग में भी प्रयुक्त शीतकिरण, चदन, मलयानिल शब्द परम चारु जान पड़ते हैं, अथवा इन स्थलों में यदि आप किसी तरह रस-निष्पत्ति का सम्बन्ध जोड़ भी लें, तो भी जब हम इन शब्दों का एकदम बिना किसी रसमय प्रसंग के पृथक् पृथक् उच्चारण करते हैं, तब जो इनमें चारुता की प्रतीति होती है, वह व्यंजकत्व समनियत कहाँ है—वहाँ व्यजकत्व कहाँ है ? कहने का तात्पर्य यह कि व्यजकता रसपरक वाक्य में प्रयुक्त पद की एक शक्ति है, प्रसगहीन पृथक् स्थित पद की नहीं। कारण यह है कि व्यजकत्व व्यंग्यसापेक्ष एक शब्द है। व्यग्य रसादि हैं और वे किसी न किसी वाच्यार्थ के सामर्थ्य से ही आ सकते हैं, वाच्यार्थ वाक्य से आ सकेगा और इस प्रकार उस स्थल में व्यग्य की सत्ता रहने से परपरया वाक्यगत भिन्न भिन्न पदों को हम व्यजक कह सकते हैं। वाक्य से पृथक् पद में व्यजकता इसलिए नहीं रह सकती, कि वहाँ व्यंग्य की सभावना नहीं। सारांश यह कि व्यजकता और चारुत्व का साहचर्य परस्पर नियत नहीं है, अत भव्यता व्यजकत्व के साधक के रूप में जो ऊपर चर्चित है, वह ठीक नहीं है। इसका उत्तर देते हुए आलोककार ने कहा है कि ऐसे प्रसंग गर्भ शब्दों में हमें जो चारुता प्रतीत

१—'यत्रतु सा चारुव्यग्यप्रतीतिहेतुस्तदपि व्यजकत्वानुप्रवेशेनैव वाचकत्ववत्'

—ध्व० तृ० उ० ४३४ पृ०

होती है वह भी व्यंजकत्व के ही कारण है और वह यों है—इन उक्त शब्दों को रसमय प्रसगों में शतश. सुनते सुनते इन शब्दों के प्रति उसी रस व्यंजक संस्कार की वासना ग्राहक में दृढ़ रहती है और जब जब हम इन शब्दों को सुनते हैं, तब तब वही रस व्यंजक संस्कार उभड़ पड़ता है, और उसी व्यंजकता के कारण यहाँ अर्थात् रस-निरपेक्ष स्थल में भी चारुता की प्रतीति होती है, अतः सिद्ध हुआ कि चारुता और व्यंजकता दोनों का साहचर्य नियत है। कुछ लोगों का इस पर भी विचार है कि भव्यता या चारुता वाह्य नहीं है, अर्थात् शब्द एव अर्थ में नहीं है, यह ग्राहक के हृदय की विशेषता है, जिसके कारण सौंदर्य की प्रतीति होती है, कुछ शब्द की विशेषता नहीं है। अत. भव्यता का संबंध सहृदयता से है, शब्द द्वारा वैशिष्ट्य या व्यजकत्व से नहीं। आलोककार इसका भी समाधान करते हुए कहते हैं—'यह सहृदयता है क्या[1] ? वही न, जो (काव्यगत) चारुता का ग्रहण करा सके। प्रश्न यह है कि वह 'चारुता' क्या है ? वह कोई पारिभाषिक पदार्थ है—अर्थात् कुछ सहृदयम्मन्य व्यक्तियों के हृदय की काल्पनिक उपज है अथवा सर्व संवेद्य रसात्मकता है। जहाँ तक प्रथम पक्ष की बात है, वह ठीक नहीं क्योंकि इस प्रकार चारुता रसमयता से भिन्न यदि कुछ व्यक्तिगत कल्पना का प्रसव है, तो उसका स्वरूप भिन्न भिन्न व्यक्तियों की भिन्न भिन्न कल्पना अनियत या अनियंत्रित मानसिक शक्ति के कारण भिन्न भिन्न ही होगी, वह चारुता एक रूप से सबको गृहीत नहीं हो सकती, अत. वह चारुता व्यक्तिगत कल्पना प्रसूत तो नहीं है, किंतु उसका रूप नियत है। इस रसात्मक चारुता के समर्पण का सामर्थ्य ही शब्दों का 'विशेष' है, जो उन शब्दों को सामान्यवाचक शब्दों से पृथक् कोटि में स्थान दिलाता है। यही शब्दों का विशेष 'व्यजकत्व' है। इस प्रकार सिद्ध

१—"अन्य एवासौ सहृदय संवेद्य इति चेत्, किमिद सहृदयत्वं नाम ? किं रसभावानपेक्ष काव्याश्रित समयविशेषाभिज्ञत्वम्, उत रसादिमय काव्यस्वरूपपरिज्ञाननैपुण्यम्। पूर्वस्मिन् पक्षे तथापि सहृदयव्यवस्थापिताना शब्दाविशेषाणा चारुत्वनियमो न स्यात्। पुनः समयान्तरेणान्यत्रापिव्यवस्थापनसम्भवात्। द्वितीयास्मिंस्तु पक्षे रसज्ञतैव सहृदयत्वम्। तथाविधैः सहृदयैः संवेद्यो रसादि समर्पण सामर्थ्यमेव नैसर्गिक शब्दाना विशेषः इति व्यंजकत्वाश्रय्येव तेषा मुख्यं चारुत्वम्"

ध्व० तृ० पृ० ३५६।

हुआ कि दान्ते ने 'भव्यता' की सत्ता स्वीकार करते हुए 'व्यंजना' की सत्ता को छूने का पूर्ण प्रयत्न किया है।

इसी प्रकार पश्चिमी साहित्य में, लगभग १७, १८ वीं शताब्दी के, फ्रान्स में भाषागत एक आंदोलन हुआ और इसके फलस्वरूप भाषा में कुछ निखार हुआ। इस नव प्रसूत वाग्वैदग्ध्य को वहां wit की संज्ञा दी गई। विट् ('wit') को 'Refinement of speech in manner 'कहा है। इसको स्पष्ट करते हुए उन्होंने यह भी बताया है कि 'वह वाच्यार्थ के अप्रत्याशित एवं अंतर्निहित निगूढ़ आकूतों के प्रकाशन से संबद्ध है।' स्पष्ट है कि ये अंतर्निहित निगूढ़ आकूतों का प्रकाशन व्यंजना की ही करामात हैं।

यद्यपि 'विट' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है, किंतु प्रत्येक अर्थ में यह एक विशिष्ट प्रकार की चारुता से संबद्ध है। सामान्यत इसका जो अर्थ ऊपर दिया गया है, उस अर्थ में 'विट' शब्द का प्रयोग १७ वीं से १८ वीं शती तक होता रहा है। A man of wit से यह आशा की जाती थी कि उसके व्यवहार वार्तालाप अथवा साधारणतया कह सकते हैं कि आत्म-प्रकाश में सुरुचि और वैशिष्ट्य परिलक्षित होगा। 'विट' के उक्त सामान्य अर्थ के अतिरिक्त उसका विशेष संबंध वाणी अथवा वार्तालाप के परिष्कार से था। इस परिष्कार के द्वारा चमत्कार तथा प्रभावोत्पादन की क्षमता की सृष्टि होती थी। अनेक दार्शनिकों तथा लेखकों ने अपने ढंग से विट के स्वरूप और स्वभाव पर प्रकाश डाला है। हाब्स ने फैंसी और जजमेंट के मध्य में 'विट' की स्थिति मानी है। फैंसी अथवा इमेजिनेशन ये दोनों शब्द हाब्स के लिए पर्यायवाची है। फैंसी संश्लेषणात्मक है। इनके मत में इमैजिनेशन फैंसी से भिन्न नहीं है, यह तो ऊपर कहा ही जा चुका है। जजमेंट का आधार है—तर्क और विश्लेषण। 'विट' दोनों ही के बीच है और इसमें संश्लेषण तथा विश्लेषण दोनों ही प्रक्रियाओं का समावेश रहता है। इस प्रकार 'विट' अपना प्रभाव उत्पन्न करता है। लाक ने 'विट' के स्वरूप का विशद विवेचन किया है। उसका कथन है कि विभिन्न तत्वों को एकत्र करके उनकी नियोजना इस प्रकार की जाय कि उनके पारस्परिक साम्य अथवा विरोध का आभास चमत्कार पूर्ण रीति से मिल सके। और श्रोता के मन में प्रसन्नता तथा कौतूहल का संचार हो सकें। लाक के इस विवेचन की मान्यता बहुत दिनों तक बनी

रही और १८ वीं शताब्दी के प्राय. सभी विचारकों ने 'विट' की व्याख्या इसी दृष्टि से की। किंतु ध्यान देने की बात यह है कि यद्यपि सभी विचारक इस बात में एक मत हैं कि विट से एक विशेष प्रकार के सौंदर्य और प्रभाव की सृष्टि होती है तथापि किसी ने भी इस प्रभाव का स्पष्ट वर्णन नहीं किया है। केवल इस बात का सकेत दिया है कि यह अत्यंत चमत्कारपूर्ण और एक प्रकार के वैशिष्ट्य से समन्वित है। पोप ने अपने Essay on Criticism में 'विट' शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है और कतिपय विद्वानों का मत है कि उस काव्य में विट शब्द की व्याख्या छः या सात विभिन्न अर्थों में की जा सकती है, तब भी पोप का यह निम्नलिखित प्रसिद्ध वाक्य[1] विचारणीय है—

"True wit is nature to advantage dressed What oft was thought but never so well expressed"

कवि का अभिप्राय यह है कि जब साधारण विचार एक ऐसे अद्वितीय एवं अनुपम ढंग से व्यक्त होते हैं कि उनमें चारुता स्फुरित होने लगे, तब उसमें विट का प्रकाशन मानना चाहिए।

इस दृष्टि से देखने पर विट और व्यंजना में आंशिक साम्य अवश्य दिखाई पड़ता है उक्त विवेचन में 'चारुता' ही विट की सत्ता का उत्पादक कही गयी है। अभिनव ने ध्वनि के अभाववादियों के प्रथम विकल्प को स्पष्ट करते हुए कहा है—[2] 'अथ शब्दार्थयोश्चारुत्व स ध्वनि'। तथापि द्विविधं चारुत्वम्—स्वरूप मात्र निष्ठं, संघटनाश्रितं च। तत्र शब्दानां स्वरूप मात्र कृतं चारुत्व शब्दालंकारेभ्य', सघटनाश्रितं तु शब्दगुणेभ्य. एवमर्थानां चारुत्वं स्वरूपमात्र-निष्ठमुपमादिभ्यः। संघटनापर्यवसित तु अर्थगुणेभ्य इति न गुणालकारेभ्यो व्यक्तिरिक्त ध्वनिः' अर्थात् हमारे यहाँ चारुता दो प्रकार की कही गई है—शब्द एव अर्थ के स्वरूप मात्र में रहने वाली और सघटना में रहनेवाली। शब्द के स्वरूप मात्र से होने वाली चारुता का संबंध शब्दालकारों से तथा सघटनाश्रित चारुता का संबध वामनसम्मत शब्दगुणों से है। इसी प्रकार अर्थ के स्वरूप मात्र में होने वाली चारुता का सबंध अर्थालकारों से और सघटना में पर्यवसित होने वाले चमत्कार का वामनसम्मत अर्थ गुणों से हैं। सारांश

१—Essay on Criticism. Page 70

२—ध्व० आ०, लोचन, पृ० १६।

यह कि यहाँ अलकार एव गुण ही चारुता के आधायक माने गए। तात्पर्य यह कि इन्हीं चारुताधायक तत्वों की योजना में तत्पर अतःकरण का एक विशेष प्रकार का व्यापार (विट) है।

अब प्रश्न यह है कि ऐसी स्थिति में व्यंजना से 'विट' का सबध क्या है ? यदि 'विट' की साध्य चारुता अपने परिवेश में 'रमणीयता' का भी अतर्भाव कर सके तो यह[1] 'रमणीयता' प्रतीयमान या व्यंग्य के संस्पर्श को सिद्ध कर सकती है और इस प्रकार किसी तरह इस प्रसंग में व्यजना की चर्चा हो सकती है।

इसी प्रकार व्यंजक के समानांतर एक प्रयोग और पश्चिम में चलता है, जिसे Irony की समाख्या दी गई है। (Irony) आयरनी की परिभाषा निम्नलिखित है—As a form of destructive criticism that enforces an immediate judgement upon something by placing it without comment in a position to which it should not aspire"—अर्थात् यह एक निरासात्मक आलोचना प्रकार है, जिसमें आलोच्य को अज्ञात और अप्रत्याशित स्थिति में रखकर उसके प्रति कुछ निर्णय किया जाता हो – कुछ कहा जाता हो। वस्तुत' शुरू शुरू में रगमच से ही इस तत्व का विकास हुआ। अभिनेता की चेष्टाओं का अर्थ पीछे से एक पात्र इगित करता रहता था—बताता जाता था। इस प्रकार यही सकेत धीरे धीरे 'आयरनी' के रूप में परिवर्तित हो गया। यह कोई आवश्यक नहीं है कि यह आलोचना सदा खडनात्मक ही हो। शत्रुता या प्रतिद्वन्द्विता प्रदर्शन का यह एक आवश्यक साधन नहीं है। यदि तटस्थ ढग से इसका प्रयोग किया जाय तो यह औदार्य समन्वित भी हो सकती है। कोई आवश्यक नहीं है कि आयरनी का प्रयोग केवल सामाजिक नासमझियों को ही लक्ष्य कर किया जाय। मनुष्य के वैयक्तिक जीवन में बहुत सी (Amiable weeknesses) मधुरदुर्बलतायें और हास्यास्पद गलतियाँ हुआ करती हैं, जिसको लक्ष्य करके भी एक शिष्ट (Gentle) प्रसादपूर्ण व्यंग्य का

१—F Mac. D, C. Turner, 'Irony in Pride and Prejudice'
नामक लेखक विनोद नारायण सिनहा। अप्रकाशित लेख से।

(Playful Irony) का उपहासात्मक ढग से प्रयोग किया जा सकता है।[1] ब्रिटेनिकाकार ने भी इस तत्व पर ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ विचार प्रस्तुत किये हैं, जिसका सारांश यह है—'व्यंग्य वाणी का एक अर्थ है जिसके लियेप्रयुक्त शब्दों से वास्तविक अर्थ निगूढ़ अथवा विरोधी रूप में निकलता रहता है। इसका प्रयोग विशेषत. उपहास अथवा जुगुप्सा के लिये होता है।

इसके लिये प्रयुक्त ग्रीक शब्द का अर्थ एक प्रकार का दुराव (Dissimulation) होता था। इसका उदाहरणविशेष सुकरात के व्याज-अज्ञात में पाया जाता है जिसे उसने अपने विवादात्मक विधि (Diaectio Method) के लिये अपनाया था। सुकरात का व्यग्य, पात्र के द्वारा ऐसे शब्दों के उपयोग कराने का ढंग था, जिसका अर्थ उसके लिये कुछ दूसरा हो, तथा वास्तविक स्थिति जाननेवालों के लिये अन्य हो।'

यह 'Irony' कई प्रकार की होती है, Dramattic Irony, Verbal irony आदि। यहाँ हमें Verbal Irony से प्रयोजन है। जैन आस्टन का लिखा एक उपन्यास है 'Emma' उससे एक उदाहरण लीजिए—

1—"Irony—a form of speech in which the real meaning is concealed or contradicted by the words used. It is Particularly employed for the purpose of mockery or contempt.

The greek word was used for an understatement in the nature of dissimulation, It is especially examplified in the assumed,ignorance which Socrate adopted as a method of dialectio, the 'socratic Irony' is the device for making a character use words which mean one thing to him and another to those acquainted with the real issue.

Encyclopeadia, Britanica, Volume 12 (1947) p. 613.

"He made no answer, nearly looked and bowed submission, and soon after said, in a lovely tone "well, I have so little confidence in my own judgement, that whenever I marry, I hope somebody will choose my wife for me, will you (turning to Emma) will you choose a wife for me I am sure I should like anybody fixed on by you. You provide for the family, you know, (with a smile at his father). Find somebody for me, I am in no hurry.'' (p. 339-340)

'उसने कोई उत्तर नहीं दिया, आसपास दृष्टिपात किया, नम्रता से झुका और फिर शीघ्र अत्यंत मधुर स्वर में कहा—'अस्तु मुझे अपने निर्णय पर इतना कम भरोसा है कि जब कभी मैं विवाह करूँ, आशा है कि कोई न कोई मेरे लिये एक पत्नी चुन देगा। (एमा की ओर मुड़कर) क्या आप ऐसा कर देंगी क्या आप मेरे लिये एक पत्नी चुन देंगी ? मुझे इतना ज्ञान है कि जिस किसी को आप चुन देंगी, उसको मैं पसंद करूँगा। (अपने पिता की ओर मुस्कराकर) आप तो मेरे परिवार के लिये देती हैं, इसे भी आप जानती ही होंगी। किसी को मेरे लिये खोजिये। मुझे कोई शीघ्रता नहीं पड़ी है। (जेन आस्टेन–एमा–पृ० ३३९-३४०।)

स्थिति यह है कि कुछ शिष्ट व्यक्तियों का एक दल घूमने गया था। इसमें फ्रेंक चर्चिल एक नवयुवक है, जो उस समाज का प्राण है और एकाएक सुदरी एव शिष्ट युवती, जो फ्रेंक की ओर आकर्षित है, एवं तथोक्त उपन्यास की नायिका है। उन्हीं लोगों के साथ जेन फेयर फैक्स है, जो शिष्ट एवं सुदरी लड़की है। उससे फ्रेंक चर्चिल का विवाह बहुत पूर्व से ही निश्चित हो चुका था, जिसे उन दोनों के अतिरिक्त और कोई नहीं जानता था। उन दोनों के बीच अब कुछ कटुता एव सदेह के अंकुर उग रहे थे। फ्रैंक चर्चिल के पिता और माता श्री वेस्टन तथा श्रीमती वेस्टन भी साथ ही थे। इन दोनों का विवाह एमा ने ही कराया था। उपर्युक्त सभी व्यक्ति इस वाक्य से संबधित हैं। शेप व्यक्ति रहे जार्ज नाइटली, मिस बैट्स और मि० तथा मिसेज एल्टन। फ्रेंक चर्चिल एक ओर तो कह रहा है—कि उसे अपने निर्णय में विशेपतः विवाह-सबध-विश्वास नहीं है,

और दूसरी ओर उसने बिना किसी से बताये हुए जेन फेयरफैक्स से विवाह तय कर लिया था। अत. यह अन्य लोगों को भ्रम में डालने के लिए हुआ। इस प्रकार के व्यंग्य को नाटकीय व्यग्य (ड्रामेटिक आइरोनी) कहते है। फिर उसके इस वाक्य का भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न भिन्न अर्थ लगाते है। एमा समझती है कि फ्रैंक चर्चिल उसके मित्र हेरिट स्मिथ की ओर आकर्षित है और उससे विवाह करना चाहता है। इसी से वह उसे ही अपनी पत्नी चुनने को कहता है जेन फेयरफैक्स समझती है कि फ्रैंक उसके प्रेम के प्रति सच्चा नहीं है और इसीलिए दूसरी जगह अपना विवाह ठीक करना चाहता है। फ्रैंक के माँ बाप तथा अन्य व्यक्ति सोचते हैं कि फ्रैंक अपनी माँ पर ही हास्य करता हुआ, एमा को अपने प्रेम की सूचना दे रहा है। वह उसी से विवाह करना चाहता है। इधर फ्रैंक के मन में विनोदार्थ एक हास्यप्रद वस्तु के अतिरिक्त कोई बात नहीं है। अत. यह एक ही वाक्य विभिन्न अर्थ विभिन्न प्रसंगों से दे रहा है। यही व्यग्य का वास्तविक स्वरूप है।

कल्पना व्यापार भी व्यंजना के व्यापार से तुलना के लिए सामने रखा जा सकता है। कल्पना के समान व्यजना भी पदार्थ का प्रतिरूप मात्र नहीं उपस्थापित करती, प्रत्युत उसे एक नवीन आभा से दीप्त कर देती है।

'कल्पना' तत्व के सबध में पश्चिमी साहित्यशास्त्र बड़ा मुखर है, वह बहुत दिनों से बहुत कुछ इस सम्बन्ध में कहता चला आ रहा है। अस्तु डा०[1] नगेन्द्र ने एक जगह लिखा है—'कल्पना का कार्य है मूर्तिविधान या चित्र-विधान। कवि अपने मन की इन मूर्तियों या चित्रों को पाठक के मन तक प्रेषित करने के लिए निसर्गत. चित्र भाषा का ही प्रयोग करता है। चित्र भाषा का कलेवर सांकेतिक और प्रतीकात्मक शब्दों से बनता है और ये दोनों व्यजना की विभूतियां हैं।'

डा० साहब के उक्त विचार के अतिरिक्त भी हमें यह विचार करना चाहिए कि कल्पना आखिर व्यजना को कहाँ तक छूती है? इस प्रश्न का समाधान दोनों के 'स्वरूप' को स्पष्ट करके ही किया जा सकता है। 'कल्पना' के स्वरूप पर पश्चिम में 'साहित्य के सभी युगों ने कुछ न कुछ सोचा विचारा है, पर

१—ध्वन्यालोक, (हिंदी टीका का संस्करण) १९५२ वाला चौखमा का संस्करण। पृ० ४८

प्रतिष्ठित मत उसी युग ने किया, जिसने 'कालरिज' को जन्म दिया। 'कालरिज' ने कल्पना की परिभाषा देते हुए कहा है—'वह[१] मार्मिक एवं समन्वय-कर्त्री शक्ति, जिसको हम लोगों ने पूर्णत: एव उचित नाम कल्पना दिया है, अपने को परस्पर विरोधी एव असतुलित गुणों में संतुलन एव संभावना के रूप में प्रगट करती है······" कालरिज की इन पंक्तियों का बड़ा व्याख्यान हुआ है, तरह तरह के अभिप्राय लगाए गए हैं। प्रसग उस विवेचन की अपेक्षा नहीं करता है। आइ० ए० रिचार्ड्स कालरिज का बड़ा भारी पोषक है। उसने भी पुस्तक में (Principle of literary criticism) में कल्पना के छ: अर्थ दिए हैं। जो आलोचनात्मक वाद-विवाद में प्रचलित हैं। उसमें भी छठा और अतिम अर्थ कालरिज समत ही रखा है। कल्पना एक मानस-वृत्ति है, जो राग-प्रेरित होकर सचित संस्कारों का उपयोग करती हुई एक ऐंद्रजालिक रूपावरण खड़ा कर देती है, एक ऐसी नई सृष्टि का जन्म देती है, जहाँ भौतिक विरोध और असतुलन अपनी सत्ता खोए—खोए से पड़े रहते हैं।[२] ध्वन्यालोककार ने भी कवि की वाणी को इन्द्रजाल ही कहा है, क्योंकि वह अपनी महिमा से कुछ का कुछ दिखाती है। यह Magical power ही तो है। भारतीय दृष्टि से विचार करने पर ऐंद्रजालिक सृष्टि के निर्माण में कविप्रजापति की अतःकरण की चारों वृत्तियों का उपयोग होता है। क्योंकि इस सृष्टि में सस्कारों का जागरण, चुनाव के लिए सकल्प-विकल्प, एवं निर्णय का क्रम चलता है और तब एक विशिष्ट (व्यक्तिगत अहं वृत्ति के अनुरूप) आकार काल्पनिक सृष्टि को मिलता है। स्पष्ट है कि सस्कारों के जागरण में हृदय की अनुसधानात्मिका[३] चित्त वृत्ति जागरूक रहती है, अनुसधित संस्कारों में से किसे छोड़े और किसे ग्रहण करें—यह मन[४] की संकल्प-विकल्पात्मिका शक्ति है जिस पर निश्चयात्मिका बुद्धि हावी है,

---

१—Theat synthetic and magical power to which we have exclusively appropriated the name imagination, reveals itself in the balance or reconciliation of opposite or dicardent qualities

२—Literaria Bigraphia, Second Edition P. 12.

३—अनुसधानात्मकम् चित्तम्।

४—सकल्पविकल्पकात्मकं मनः।

उसी का निर्णय अंतिम निर्णय है। डा० रामअवध द्विवेदी के विचार से इस निर्णीत सामग्री की रागोत्तेजक रूप में योजना करने वाली शक्ति ही कल्पना है।

यह कल्पना शक्ति कर्ता और भावक दोनों में काम करती है, आचार्य शुक्ल के अनुसार कर्ता अपनी कल्पना का उपयोग विभाव-योजना में सर्वाधिक करता है और भावक उन शब्दाचित्रों द्वारा अर्थों के भावन में। भावक की यह शब्दार्थ-भावना भी कल्पना ही है। इस शक्ति के बल से चित्रों का जितना ही स्पष्ट और उज्ज्वल रूप अतः पट पर उभड़ेगा, रागों को उत्तेजना उसी मात्रा में मिलेगी। कदाचित् इसी 'भावना' का अर्थ रसगंगाधरकार ने 'भावना च पुन. पुनरन्वुसंधानात्मा' कहा है। वारवार काव्यानुसंधान भावना का कार्य है। इस प्रकार भावक या ग्राहक के पक्ष से भावना और कल्पना समान ही हैं। भावना शब्द साहित्य शास्त्र में दो अर्थों में आया है। (क) भट्टनायक ने 'भावना' को शब्द की एक शक्ति बताई है, जो अभिधानीत 'विशेप' को 'साधारणीकृत' के रूप में अनुभव कराती हैं और अभिनवगुप्त ने स्पष्ट ही इस 'भावना' और 'भोग' को 'व्यंजना' में ही समेट लिया हैं। इस प्रकार कल्पना-भावना-व्यंजना एक हो जाती हैं। परंतु एक बात स्मरणीय है कि यद्यपि भावना भी पदार्थ को इस रूप में उपस्थित करती है, कि वह पदार्थ किसी की भी चित्तवृत्ति को उत्तेजित कर दे, रसदशा जगा दे और कल्पना भी यही करती है, पर एक ज्वलंत अंतर फिर भी दोनों में वर्तमान है। 'भावना' के लिए यह नियंत्रण है कि वह पदार्थ को 'साधारणीकृत' रूप में ही उपस्थित करे, पर 'कल्पना' एक सर्वथा स्वतत्र शक्ति है, जो पदार्थ को किसी भी रूप में उपस्थापित कर सकती है, वह 'भावना' की भाँति नियन्त्रित नहीं है। यद्यपि कुछ लोग इस अंतर को मिटाने का प्रयास करते हुए 'साधारणीकरण' शब्द के अर्थ पर यह विचार प्रस्तुत करते हैं कि 'साधारणीकरण' का अर्थ यह नहीं है कि जो पदार्थ अपनी अभिधेया वस्था में पहले असाधारण (शकुंतला-व्यक्तिविशेप की कालविशेप में रहने वाली पत्नी) रूप से प्रतीत होता था, वह सर्वसाधारण का प्रतीत होने लग गया, क्योंकि इस प्रकार की प्रतीति तो 'वेश्या' के ही संबध में हो सकती है अर्थात् शृंगार का सर्वसाधारण विभाव 'वेश्या' ही है, इसीलिए उसे 'सामान्या' कहते भी हैं नायिका भेद की दृष्टि से, सो इस प्रकार 'साधारणीकरण' का अधिधेयार्थ नहीं लेना चाहिए, और न उसके बल पर 'कल्पना' तथा 'भावना' का अंतर

ही करना चाहिए। वस्तुत 'साधारणीकरण' का तत्पर्यार्थ इतना ही लेना चाहिए कि अभिधानता पदार्थ का वह सस्कार साधारणीकरण या भावना है, जिसके कारण पदार्थ में सर्वसाधारण के प्रति रागोद्रेचकता उत्पन्न हो सके। चाहे वह जिस किसी प्रकार हो, इस पर हमारा कोई नियत्रण नहीं। इस प्रकार 'भावना' और 'कल्पना' दोनों का स्वभाव अनियंत्रित हो गया और फिर दोनों एक ही हो गए। कदाचित् इन्हीं सब कारणों से शुक्ल जी ने 'भावना या कल्पना कहा है। इसी द्वैध में पड़कर प्रकाशकार ने 'साधारणीकरण' की कुछ ऐसी व्याख्या की है, जैसे वे उसकी व्याख्या ही नहीं कर सकते हों, उसे अनिर्वचीय कहना चाहते हों। (२) भावना शब्द का अन्यत्र प्रयोग रस गगाधर में है, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। यह अर्थ भी तात्पर्यत. उक्त अर्थ के मेल ही में है।

तो क्या, यह मान लिया जाय कि कल्पना-भावना-व्यजना पर्याय ही हैं? अनर्थान्तर ही हैं? कुछ लोगों का विचार यह कि 'कल्पना' मानस व्यापार है व्यजना (कम से कम प्रस्तुत स्थल में) एक शब्द व्यापार, अर्थात् एक शब्द में रहता है और दूसरा मन में, फिर दोनों की एक रूपता किस प्रकार हो सकती है? और विचारणीय है यहाँ इन्ही दोनों की एक रूपता अर्थात् क्या काव्य में व्यंजना और कल्पना भावक के पक्ष से एक ही पदार्थ है? विचार करने पर यह भेदक तत्व भी निस्सार जान पड़ता है, क्योंकि 'व्यक्ति' या 'व्यजना' तो शब्द व्यापार, पर वह आन्तरिक भी है, तभी तो रस रूप आन्तरिक 'विभावादिसवलित स्थायी भाव' और 'आत्मा का आनन्दाश' जो पहले अधकाराच्छन्न घट की भाँति अज्ञात से आवृत रहता है, प्रकाशित हो पाता है। रसगगाधरकार ने कहा है—'यथा' हि शरावादिना पिहितो दीपस्त-न्नि वृत्तो सनिहितान् पदार्थान् प्रकाशयति, स्वय च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्य विभावादिसवलितान् रत्यादीन्'—जिस प्रकार शराव से आच्छादित दीप शराव के हटा देने पर सन्निहित पदार्थों को प्रकाशित करता है और स्वय भी प्रकाशित होता है उसी प्रकार अज्ञानाच्छादित चिदश भी प्रकाश्य-विषयक आत्मावरण के भग हो जाने पर सन्निहित रत्यादि स्थायी भाव को प्रकाशित करता है। साथ ही वह योगाचार बौद्ध दार्शनिकों की भाँति अपने आप को अर्थात् 'आनन्दाश' को भी प्रकाशित करता है तब इसकी निष्पत्ति-प्रतीति होती है। यहाँ पर 'व्यक्ति' का अर्थ 'भग्नावरणाचित्' ही किया गया है। क्या यह 'चित्' शब्द का व्यापार है? नहीं यह भी कल्पना के समान

आंतरिक पदार्थ है। अतः दोनों कल्पना और व्यंजना एक ही हैं। पर यह पक्ष भी निर्दोष नहीं है, यहाँ तो कल्पना और व्यंजना आतरिक होते हुए भी परस्पर सर्वथा भिन्न है, क्योंकि कल्पना हृदय वा अतःकरण का एक व्यापार है और 'व्यक्ति' स्वय चित् ही है, अत दोनों का साम्य कैसा ?

कुछ लोगों का विचार है कि व्यजना को कोई एक निश्चित रूप नहीं है, वह न जाने कितने रूपों में अपने को प्रकाशित करती है, अत विचारणीय यह कि क्या किसी रूप में व्यजना कल्पना के समकक्ष ठहरती है या नहीं ? कोई एक ऐसा स्थान चुनिए, जहाँ भावना, कल्पना और व्यजना तीनों की सत्ता हो, और तीनों एक ही कार्य करती हों, यदि इस प्रकार का कोई स्थल मिल जाय, तो कहीं तो एक रूपता वन जाय। हाँ, स्थल है—एक वाक्य है 'सरोवर में इन्दीवर झूम रहा है'—इस वाक्य में प्रयुक्त इन्दीवर शब्द के दो प्रकार के अर्थों का उपस्थापन प्रातिभचक्षु के समक्ष हो सकता है एक तो सामान्य रूप में और दूसरे विशेष या प्रत्यक्षायमाण रूप मे। किसी भी वस्तु के ये दो रूप होते हैं, प्रथम रूप परोक्षज्ञान और द्वितीय प्रत्यक्षज्ञान का विषय है। परोक्ष-ज्ञान के विषयों की असाधारण विशेषताएँ व्यक्तिगत विशेषताएँ वनावट, वर्ण, निर्माण सस्थान तिरोहित रहती हैं, पर प्रत्यक्ष ज्ञान में ये सभी धर्म समक्ष रहते है। इस प्रकार पदार्थ के दो रूप स्पष्ट है-सामान्य और विशेष। आचार्य शुक्ल के शब्दों में कहे, तो प्रथम प्रकार से 'अर्थग्रहण' अभिप्रेत है और द्वितीय से 'बिम्बग्रहण'। यद्यपि शब्दों से जो ज्ञान होगा, वह परोक्ष ही होगा, तथापि ग्राहक के वैशिष्ट्य से शब्द कभी कभी अपना प्रत्यक्षायमाण रूप आँखों के समक्ष झलका देते है। ऐसे ही स्थलों में जो चमत्कार होता है, उसका कारण 'स्वाभावोक्ति' अलकार को माना गया है। व्यक्तिविवेककार[1] ने इनका बहुत ही अच्छा विचार किया है।

प्रश्न यह है कि ऐसे शब्दों से जो जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा रूप अर्थ ग्रहण होते हैं, वे तो अभिधा शक्ति के विषय भले ही हों, परन्तु 'बिम्बार्थ यदि शब्द का अर्थ है, तो उसे शब्द की किस शक्ति से लाया जाय ? इसे भी अभिधा-निवेदित कहा जाय, यह किसी प्रकार युक्ति-सह नहीं है। कारण यह है कि यदि इस विम्बार्थ को अभिधेयार्थ की कोटि में रखा जायगा, तो इस अर्थ की प्रतीति शब्द की शक्ति से सहृदय-असहृदय मात्र को अन्य सामान्य अभिधेयार्थ की भाँति अवश्य होनी ही चाहिए, पर ऐसा अनुभव सिद्ध नहीं।

१—व्यक्तिविवेक, द्वि० वि० पृ० ३६०।

यह साहचर्य का सिद्धांत कर्ता की प्रतिभा में परस्पर संबद्ध नव-नव भावों एव विचारों को जगाने में तो सहायक है ही, ग्राहक के मस्तिष्क में भी वाच्यार्थ से संवद्ध नव-नव विचारों, के जो वाच्यार्थ से अतिरिक्त हैं, ग्रहण में सहायक का कार्य करता है। व्यंजना भी तो ग्राहक के पक्ष से यही करती है।

सक्रमण सिद्धांत और व्यंजना-

व्यंजना से ही कुछ कुछ सवद्ध रखने वाला टालस्टाय का भी कला-सिद्धात है। मनीषी टालस्टाय की प्रसिद्ध पुस्तक 'कला क्या है'? (सन् १८९७-९८ ई० में लिखी गई है।) उनका मत है कि कला की सफलता मनुष्य तथा ईश्वर एव मनुष्य मात्र के पारस्परिक सबध को दृढ बनाना है। अत' कला धर्म तथा नैतिकता की आधारशिला पर स्थित है। धर्म और सदाचार को टालस्टाय ने अधिक महत्त्व देते हुए कलागत अन्याय मूल्यों की पूर्ण अवहेलना की है। पर इन्होंने धर्म तथा मैलिकता के शाश्वत एव सामान्य अंशों पर ही जोर दिया है।

इनके कला सिद्धात के दूसरे पक्ष का संबध रचना तथा उसके माध्यम से है। कला की परिभापा का उल्लेख करते हुए टालस्टाय ने लिखा है कि किसी व्यक्ति में, उसकी अनुभूति या भावना की जागर्ति होनी तथा उस जागृत भावना को गति, रेखा, रंग, ध्वनि या शब्दों के माध्यम से दूसरों तक इस प्रकार प्रेपित करना कि वे भी ठीक उसी प्रकार की भावना का अनुभव कर सकें-कला है। यही क्रिया-शीलता है। इसी रूप में कला एक मानव व्यापार है। कोई व्यक्ति भावातिरेक के कारण निश्चित वाह्य संकेतों द्वारा अपनी भावनाओं को, जिसमें वह विलास करता है, दूसरों तक पहुँचाता है, जिससे दूसरे व्यक्ति में भी उन भावनाओं का सक्रमण होता है एवं फलत वे भी उसी प्रकार की अनुभूति करने लगते हैं। सक्षेप में टालस्टाय की परिभाषा का उल्लेख यों किया जा सकता है—'कला रागों या मनोभावों की सक्रामक प्रेपणीयता है'—इस परिभापा में तीन प्रमुख विचारणीय विषय हैं—(१) कला प्रेपणीयता है (२) प्रेपणीयता सक्रामक है, (३) प्रेपणीयता का संबध रागों या मनोभावों से है। सक्रामक, प्रेपणीयता तथा राग या मनोभाव-ये तीन ही कला की परिभापा के केंद्र बिंदु हैं। प्रथम अश पर मिल की आपत्ति है कि कला प्रकाशन मात्र है, प्रेपण नहीं, पर डा० द्विवेदी का कहना है कि कला प्रकाशन है, पर प्रेपण के लिए। इसी प्रेपणीयता पर जोर देने के कारण विरन (Veran) से इनका मतभेद भी है। यद्यपि दोनों

मानते हैं कि कला मनोभावनाओं एवं संवेदनाओं की भाषा है, पर एक प्रकाशन मात्र मानता है और दूसरा प्रेषणीय। कला एवं व्याख्यान या वार्तालाप में यही अंतर है कि वार्तालाप एवं व्याख्यान में वक्ता अपने विचारों को भेजता है। जब कि कलाकार अपने रागों, मनोभावों एवं संवेदनाओं को भेजता है। टालस्टाय कला की यह शर्त मानते हैं कि उसे दूसरे को प्रभावित करना ही चाहिए, 'प्रकाशन' पक्ष में यह शर्त नहीं है। संक्रमण पर जो टालस्टाय ने इतना बल दिया है, उससे यह स्पष्ट है कि उन्हें 'प्रेषणीयता' कितनी मान्य है! टालस्टाय के अनुसार संक्रमण की क्षमता ही कलाकी श्रेष्ठता का मापदंड है और इस संबंध में उन्होंने तीन तत्व निर्धारित किए हैं, जिन पर यह आधारित करते हैं—(१) प्रेषक भावों की मौलिकता (२) प्रेषण की स्पष्टता (३) स्वयं कलाकार के मनोभावों की सचाई। रिचर्ड्स ने 'भावना' का संशोधन किया है अर्थात् जहाँ भावनाओं का प्रकाशन कहा जाता है, वहाँ उसने 'अनुभवों' का प्रकाशन कहना अधिक अच्छा समझा है, क्योंकि कला जीवन के संचित की अभिव्यक्ति है। संशोधित परिभाषा होगी 'कला मानव अनुभव का प्रेषण है।'

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कला भाषा द्वारा एक हृदय के अनुभव को हृदयांतरित कर देती है और यह कार्य होता है 'भाषा' के माध्यम से। भाषा में ही कला साकार होती है। कला अपना लक्ष्य अर्थात् भाव प्रेषण भाषा की शक्ति से ही संपन्न करती है। विचारों के संबंध में चाहे विवाद हो, पर जहाँ तक भावों के प्रेषण का प्रश्न है वह भाषा की वाच्यार्थ प्रदायक शक्ति से कभी संभव नहीं है। भाव या राग व्यंग्य हैं वाच्य नहीं और इस व्यंग्य का भाव की प्रतीति ग्राहक, भाषा की संक्रामक शक्ति अर्थात् अतिरिक्त अर्थदान की शक्ति से ही करता है। स्पष्ट है कि यह अतिरिक्त अर्थदान की शक्ति 'व्यंजना' ही है।

प्रतीकवाद और व्यंजना—

प्रतीकवाद मनुष्यजाति की लम्बी यात्रा में बहुत दिनों से उसकी मूल भाषा रहा है। प्रारंभ से ही यह माना गया है कि ठोस एवं दृश्य जगत् के पर्दे में एक आध्यात्मिक जगत् है, जो अपेक्षाकृत उससे भी महत्त्वपूर्ण है। आध्यात्मिक जगत् की सूक्ष्म तथा असीम एवं मूल्यवान् अनुभूतियाँ, जो व्यावहारिक भाषा में व्यक्त नहीं की जा सकतीं, प्रतीकों के द्वारा व्यक्त की जा सकती हैं। क्योंकि प्रतीकों में (पावर आफ सजेशन) व्यंजन की शक्ति

सामान्य शब्दों की अपेक्षा अधिक होती है। यही कारण है कि विश्व के विभिन्न देशो के धार्मिक ग्रंथों में (सिंबल्स) प्रतीकों को विशेष महत्व दिया गया है। क्रिश्चियन धार्मिक साहित्य जल, अग्नि, लिली (डौभ) कबूतर आदि प्रतीकों से भरा पड़ा है। त्रेत की भावना (ईश्वर, पुत्र, कपोत), लिली (पवित्रता) का प्रतीक आदि न जाने कितने प्रतीक क्रिश्चियन उपदेश में आरब्ध हुए थे और आज भी ग्रीक तथा रोमन चर्चों में प्रयुक्त होते हैं। सभी युगों में कवियों ने अपने तीव्र सवेगों के व्यक्तीकरण के लिये प्रतीकों का उपयोग किया है। उदाहरणार्थ ब्लेक ने अपने मिस्टिक विजन को व्यक्त करने के लिये इसका प्रयोग किया था।

'कुछ प्रतीकवादियों का कहना है कि प्रतीकवाद का उदय यथार्थवाद एव प्रकृतिवाद के विरोध में हुआ। उसने हीगल तथा शापेन हावर का जीवन दर्शन ग्रहण किया और रहस्यवृत्ति तथा अस्पष्टता को एक आवश्यक गुण माना। कुछ प्रतीकवादियों के अनुसार ऐसे सभी भाव जो हमारे हृदय में उठते हैं, प्रत्येक भाव जो पाँचों इन्द्रियों के माध्यम से हमें मिलते हैं और प्रत्येक क्षण जो कि हमारी मानस चेतना को एक विशिष्ट तरंग में झकृत कर जाते हैं, एक दूसरे से सहकर भी इतने विलग, अछूते, गतिशील तथा अग्राह्य होते हैं कि न तो हमारी अभिव्यक्ति उन्हें पकड़ पाती है और न स्मरण शक्ति ही उन्हें सहेज कर रख पाती है। प्रत्येक कलाकार इन अनुभवों को अपनी दृष्टि से देखता है और अपनी रुझान के अनुरूप अभिव्यक्ति में रग-प्रकाश की योजना करता है। व्यक्ति वैचित्र्य के साथ, अनुभूतियों, सवेदनाओं एवं अनुभवों में अंतर है और इसीलिये अभिव्यक्ति कौशल कोटियों में भी एक सामान्य भाषा इतनी विभिन्नताओं का भाव कैसे वहन कर सकती है ? अतः स्वभावतया प्रत्येक कवि को अपने विशिष्ट अनुभवों की अभिव्यंजना के लिए नवीन मार्गों का अनुसधान, नये शैलीशिल्प की अवतारणा, नये बिंबों की योजना और नये प्रतीकों का विधान करना पड़ा है, फिर भी अनुभूत विषय अग्राह्य, अनुपम एव अनाख्येय रह ही जाते हैं और तब उनका प्रतीकों द्वारा सकेत ही किया जा सकता है, अभिधान नहीं किया जा सकता। और शब्दों द्वारा कारयित्री प्रतिभा से दिए गए संकेत (भावार्थ) भी प्रतिभा से व्यजना द्वारा ही गृहीत हो सकते हैं। अतः प्रतीकवाद की चर्चा करते हुए व्यजना कैसे छोड़ी जा सकती है।'[1]

---

१ - राजनारायण विसारिया, 'आलोचना' व अ० 'आलोचनाक'।

डा० रिचर्ड्स का 'अर्थ सिद्धांत'¹ –

१९३० से रिचार्ड्स ने नवीन समीक्षा प्रणाली का सूत्रपात किया। रिचार्ड्स ने अध्यात्म का पल्ला छोड़कर मनोविज्ञान के ही सहारे सब कुछ समझना चाहा है। स्नायुमंडल की क्रियाओं के अध्ययन से जो निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं रिचार्डस उनसे बहुत प्रभावित हुआ है। रिचार्डस का मत है कि मनुष्य के विचारों एव भावनाओं में प्रारंभ ही से प्रकाशन अथवा प्रेषणीयता की संभावना निहित रहती है। युगों से मनुष्य सोचता और अनुभव इसीलिए करता है कि वह दूसरों से उसे व्यक्त कर सके। इस प्रेषणीयता का वास्तविक अर्थ है दूसरों के मन में समान अवस्था उत्पन्न करना। इस मत में व्यजना से सबद्ध वे सारी बातें कही जा सकती हैं जो ऊपर टालस्टाय से सबद्ध करके कही गई है।

अर्थ पर विचार करते हुए उसके प्रकाशक भाषा के सबंध में उनका कहना है कि भाषा ऐसे प्रतीकों का एक समूह है जो श्रोता अथवा पाठक के मन में ऐसी अवस्था उत्पन्न करते हैं जो वक्ता के मन की अवस्था के ही अनुरूप है। इस प्रकार भाषा का प्रतीकत्व वक्ता, श्रोता के बीच अखड मानसिक-व्यापार का माध्यम है। प्रतीकों में तथ्यों की सूचना के साथ साथ वक्ता की मानसिक प्रवृत्तियों का भी संकलन मिलता है। भाषा के प्रभाव के अनेक स्तर हैं। पहला प्रभाव है नाद का। इसके बाद है शब्दों के पहचानने की अवस्था। इन शब्दों से अत्यंत सरल विचारों तथा साधारण तथ्यों का ही बोध कराया जाता है। विचार एवं जीवन के अनुभव उत्तरोत्तर जटिल होते जाते हैं अत. इनके प्रकाशनार्थ जटिल प्रतीकों की अपेक्षा होती है, अत व्यक्ति वाचक संज्ञाओं तथा वर्णनात्मक वाक्यों से काम लिया जाता है। अभिप्राय समझने में व्याकरण सहायक होता है, पर उससे भी अधिक सहारा मनोविज्ञान की जानकारी से मिलता है, क्योंकि मन में उत्पन्न तथा विलीन होने वालों विचारों के परस्पर सबंध भाषा में निरतर व्यक्त होते रहते हैं। जब हम शब्दों के प्रतीकत्व के संबध में विचार करते हैं, तब यह पता चलता है कि प्रत्येक प्रतीक में तथ्यों की सूचना साथ ही साथ भाव चेष्टायें, संकेत

१—डा० रामअवध द्विवेदी 'आलोचनाक' 'आलोचना' व० अ० 'आई० ए० रिचार्डस के समीक्षा सिद्धात' शीर्षक लेख।

अभिप्राय इत्यादि सञ्चित रहते हैं। प्रतीकत्व की महत्ता इन्हीं सब विशेषताओं के लक्षित कराने में है। शब्दों का यह कार्य अन्य शब्दो के साहचर्य से ही सफल एवं सुचारु रूप से संपन्न होता है।

जहाँ तक उक्त धारणा एव व्यजना का सवंध है, स्पष्ट है कि प्रतीकों की सफलता निर्बाध रूप से प्रतीत होने वाले जिन भावों और सकेतों पर निर्भर है, वे व्यंजना शक्ति से ही प्राप्त किए जाते हैं। इसका प्रायोगिक पक्ष उत्तरार्द्ध में स्पष्ट है अर्थात् वहाँ प्रयोग द्वारा व्यजना का कार्य क्या है? यह स्पष्ट किया गया है। स्पष्ट है कि प्रतीकों से साध्यवसाना लक्षणा द्वारा अन्वय योग्य अर्थ की प्राप्ति की जाती है और साध्यवसाना लक्षणा प्रयोजनवती है अर्थात् साध्यवसाना लक्षण किसी न किसी प्रयोजन से की जाती है और यह प्रयोजन व्यंजना द्वारा प्राप्त किया जाता है।

डा० साहब का विचार यह भी है कि भाषा जीवन में सामान्य रूप से संवहन का कार्य करती है। अर्थ ग्रहण द्वारा ही हम प्रभावित होते हैं अत. अर्थ से क्या अभिप्राय है?—यह प्रश्न प्रमुख रूप से सामने आता है। मोटे ढग से रिचार्ड्स ने चार[1] प्रकार के अर्थों का निर्देश किया है—

सेंस (१) Sense—वस्तुस्थिति के परिचायक अर्थ

फीलिंग (२) Feeling—भाव अर्थात् विषय के प्रति लेखक अथवा वक्ता की चेष्टा

टोन (३) Tone—ध्वनि अर्थात् श्रोता अथवा पाठक के प्रति लेखक की चेष्टा।

इंटेंसन (४) Intention—लेखक अथवा वक्ता का अभिप्राय।

इन चारों के मेल से ही भाषा का संपूर्ण अर्थ व्यक्त होता है। किसी एक ही तत्व या अर्थ को लेकर चलने से भ्रम सभव है। प्रयोजन के अनुसार किसी विशेष पक्ष पर जोर हो सकता है। उदाहरणार्थ, एक मनोवैज्ञानिक का सबसे अधिक आग्रह यथातथ्य के उल्लेख अर्थात् नं० १ पर होगा। वह न० दो को अलग रखने का प्रयत्न करेगा। न० ३ के संबंध में वह अपने विचार ज्ञाताओं के विचारार्थ प्रेषित करेगा और उसका अभिप्राय होगा तथ्य का निरूपण। इसी प्रकार जनता को प्रभावित करने की इच्छा से वशीभूत वक्ता

१—Practical Criticism Page 181, 182,

नं० २ एवं न० ३ को अधिक महत्व देगा, यद्यपि वह नं० १ को भुला नहीं सकता। साहित्य में नं० २ एवं न० ३ को अधिक महत्व दिया जाता है, यद्यपि इस विषय में कोई कड़ा नियम नहीं बनाया जा सकता।

उत्तम काव्य में उक्त चार प्रकार के अर्थों का विवेकपूर्ण समन्वय अथवा संगठन मिलता है। इन लोगों ने सत्रहवीं शताब्दी के अध्यात्मवादी कवियों की प्रशंसा इसीलिये की है कि उनके काव्य में बुद्धि, भाव एवं ध्वनि आदि की पूरी व्यवस्था मिलती है। अलकारों एव रूपकों की सार्थकता विशेषतः इन्हीं के एकीकरण में है। रूपकों में भाव, सूचना, संकेत इत्यादि घनीभूत होकर विद्यमान रहते हैं। और इस भाँति वहाँ अर्थ के कई स्तर मिलते हैं, जिनको हम काव्य की अस्पष्टताएँ (एम्बीगिटीज) कहते हैं। कोरे यौक्तिक सबध तो तर्कगम्य होते हैं, पर जब एक ही बिंदु पर उक्त अर्थ निहित होते हैं, तो बड़ी अड़चन होती है। वहाँ ये शब्द प्रतीकों के रूप में शीघ्रलिपि या सकेत-लिपि का कार्य करते हैं। इनके अनुयायी (इम्पसन) आदि अब इसी दोष को गुण कहने लगे हैं। ऐम्पसन[1] ने तो इस (Ambiguity) के सात प्रकार बनाए हैं। इन्होंने Ambiguity शब्द के अर्थ में विस्तार किया है। उसके अनुसार भाषा की कोई भी परिणति, जो गद्य के सामान्य कथन में सूक्ष्म व्यजन (Nuance-subtle suggestion) देता है, वह Ambiguity की ही कोटि में आता है। यह तत्व दोषाधायक भी हो सकता है, पर वहाँ जहाँ यह किसी अन्य विवक्षित अर्थ की प्रतीति में व्यवधान या विरोध उत्पन्न करता हो। किंतु जहाँ यह स्वय विवक्षित है, जहाँ उसी की योजना में कवि की प्रतिभा का जोर दिखाई पड़ता है, वहाँ तो वह गुण है। उक्त सात प्रकार निम्नलिखित हैं—

(१) जब पद या वाक्य जो तत्काल कई प्रकार से प्रभावशालिता उत्पन्न करता हो।

(२) जब दो या उससे भी अधिक अर्थ लेखक के एक ही प्रतिपाद्य के सहायक हों।

(३) श्लेष की तरह जब एक ही शब्द या वाक्य में दो प्रकरणोपयोगी विचार सबद्ध हों।

1—Seven Types of Ambiguity—By Empson.

(४) जब एक ही वक्तव्य से प्रसूत दो परस्पर विरोधी वाक्यार्थ मिलकर लेखक की जटिल मानसिक दशा को व्यक्त करते हों।

(५) जब कोई ऐसी उपमा दी जाय, जो किसी को भी उपमित न करती हो, बल्कि दो चीजों के बीच में हो और ऐसी स्थिति में हो जब लेखक एक से दूसरी पर जा रहा हो।

(६) जब कि वक्तव्य ऐसा हो, जो आवृत्ति से, विरोधाभास से यत्किञ्चित् असंबद्ध कथन से व्यक्त न किया जा सकता हो तो लेखक बाध्य होकर असगत कथन से अपनी वैचित्र्य संवलित मन'स्थिति को व्यक्त करता है।

(७) जब शब्द के दो अर्थ प्रसग से बिल्कुल विरोधी जान पड़ते हों और ऐसे अर्थों से पाठक जो प्रभाव आत्मसात् करता है, उसमें वह ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचता हो कि लेखक का मस्तिष्क दो विरोधी सस्कारों में बँटा हुआ जान पड़े।

इस प्रकार आज की आलोचना पद्धति मनोविज्ञान की मान्यताओं तथा शब्द शक्ति और अर्थ के स्वभावनिरीक्षण पर आधृत हैं। अस्तु।

उक्त प्रबद्धक में रिचार्ड्स ने अर्थ के जो चार प्रकार बताएँ हैं—डा० द्विवेदी उनमें से प्रथम का सबध अभिधा से एव शेष तीन का व्यजना से बताते हैं। पडित रामदहिन मिश्र[1] तथा श्री बलदेव उपाध्याय[2] ने सेंस के अतिरिक्त इतर दो अर्थों को भी वाच्य की कोटि में रखा है, जो डा० द्विवेदी के मत से ठीक नहीं है। द्विवेदी जी ठीक कहते हैं कि यदि 'भाव' भी वाच्य हैं, तो काव्य का सर्वस्व फिर वाच्य ही हो गया।

अर्थ को उक्त विभाजन के अतिरिक्त (लाजिकल) सगत एव (इमोशनल) मनोवैज्ञानिक इन दो रूपों में भी व्यक्त किया है। दूसरा अर्थ स्पष्ट ही व्यजना व्यापार से साध्य है।[3] मीनिंग आफ् मीनिंग में भी इसी से मिलता जुलता विभाजन है। (रेशनल) विचारोत्तेजक एव (इमोटिव) भावोत्तेजक। दूसरा अर्थ व्यंजना द्वारा ही तो भाव का उत्तेजक हो सकता है।

१—काव्यदर्पण, स० १ पृ० ५२

२—भारतीय साहित्य शास्त्र, स० प्रथम पृ०।

३—'मीनिंग आफ मीनिंग' पृ०।

(Metaphor)[१] रूपक एव प्रतीक में स्पष्ट ही क्रमश· प्रयोजनवती गौणी सारोपा तथा गौणी साध्यवसाना काम करती है । लक्षणा के इन प्रभेदों में जो प्रयोजनाश होता है, वह व्यजना द्वारा ही प्राप्य है ।

एम्बीगिविटी में स्पष्ट ही शब्द के अतिरिक्त अर्थों पर वल दिया गया है, जो व्यजना का कार्य है ।

मनोविज्ञान और व्यजना

अव साहित्यालोचन के क्षेत्र में मनोविज्ञान ने वहुत ही अधिक प्रवेश पा लिया है । उसके ऐसे कई सिद्धान्त हैं, जिनसे व्यजना का सवंध स्थिर किया जा सकता है ।

मुख्यत· मनोविज्ञान का विषय है मानसिक व्यापारों का अध्ययन । मानसिक व्यापार तीन है—[Knowing, feeling, willing,] ज्ञान, सवेदन एव प्रयत्न । इन तीनों की मिलित प्रेरणा में ही काव्य सृष्टि का वीज निहित है । इन तीनों में भाव (फीलिंग) की ही महत्ता है । Feeling अर्थात् संवेदन भी दो प्रकार के हैं—Feeling as sensation (ii) Feeling as emotion उक्त तीनों क्रियायें मन की हैं । मस्तिष्क स्नायुमण्डल की क्रियाओं का उद्गम है । यह क्रिया वाह्य पदार्थों द्वारा प्राप्त उद्दीपन की आन्तरिक स्नायुमण्डल में होने वाली प्रतिक्रिया है । उद्दीपन एव प्रतिक्रिया के मध्य होने वाले समस्त व्यापार अनुभूति कहलाते हैं । उक्त प्रतिक्रिया ही काव्य के 'रस' में आश्रय का अनुभाव है । इन अनुभाव में हमारे ज्ञान एव सुख, दु.ख आदि के अनुभव मिले रहते है । इसी को ध्यान में रखकर 'सुख दु.खाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रिय मन.' कहा गया है ।

इस दृष्टिकोण से विचार करते हुए काव्य के सम्बन्ध में वडी ही उपयोगी वातें वहुत साफ होकर सामने आती हैं । जेम्स ने इसी दृष्टि से सोचते विचारते हुए चेतन की उपमा सरिता की धारा से दी है । उनका कहना है कि चेतना के मध्य में कुछ विचार तैरते हैं और कुछ तटपर ।

१—"Emotive Meaning Again" chapter iii
"The study of Metaphor, through metaphor, should become, I have suggesteda central and governing part of the study of language." P. 41,

इन्हें ही (सेन्ट्रल) केंद्रवर्ती एवं (मार्जीनल) तटवर्ती कहा गया है।

जब कवि अपनी रचना विशेष में तल्लीन हो जाता है, तब उसके विचार चेतना में केंद्र वर्ती होकर स्थिर हो जाते हैं। इस चेतना को कभी कभी आत्मा और कभी कभी आत्मा का धर्म भी कहा गया है। वस्तुत. चेतना (Ideas) प्रत्ययों की राशि है। ये प्रत्यय परस्पर अभ्यास (Frequency) नवीनता (Re^ency) तथा प्रबलता (Vividness) के नियमों से सबद्ध है। इस प्रकार Association Of Ideas का सिद्धान्त बनता है। इस सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रत्यय समुदाय को चेतना कहा जाता है, उसमें आकाक्षा मूलक एव विरागमूलक आवेग रहते हैं। चेतना आवेग विशिष्ट हैं और इन्हीं आवेगों में अनुभूति का केन्द्र है। चेतना एक समय एक ही अनुभूति करती है। उसकी यही विशिष्ट अनुभव शक्ति प्रतिभा या कल्पना है। जब कवि अपनी प्रतिभा के द्वारा प्रकृति के नाना पदार्थों या व्यापारों में वाह्म प्रेषण के सिद्धान्तानुसार अपनी चेतना में उत्तेजना का अनुभव करता है, तब उसकी विशेष अवस्थाएँ भाव कहलाती हैं। अब वृत्ति की यही तीव्रता चेतना का आवेग है। एक प्रतिभावान् कवि प्रत्यय समूहों के सिद्धान्तानुसार प्रतिपाद्य विषयों के अन्याय रूपों को त्याग कर उन्हीं रूपों का ग्रहण करता है, जो उसकी कल्पना के अनुकूल होते हैं। नवीन मनोविज्ञान कल्पना से चेतन मन का वह प्रयास समझता है, जिसके द्वारा वह चेतनोन्मुख मन से उन प्रतिभाओं को निकालकर अपने स्तरपर ले आता है, जो उसमें दबी पड़ी रहती हैं। जैसे रात को आकाश की ओर सामान्य दृष्टि से देखने से बहुत दूर के तारे नहीं दीख पड़ते, परन्तु जब गौर से देखते हैं, तो दीख पड़ते हैं। इसी प्रकार चेतनोन्मुख मन में पड़ी हुई प्रतिभाएँ चेतन मन के सकेन्द्रेण से चेतना में आ जाती हैं। ठीक इसी तरह भारतीय साहित्यशास्त्र में भी व्यक्ति या व्यजना को जो अंतश्चेतन में सोए हुए भावों को प्रकाश में लाता है, भग्नावरण चित् कहा गया है। पडित राज जगन्नाथ ने 'व्यक्त' स तैर्विभावाद्यै स्थायिभाव रस स्मृत.' की व्याख्या करते हुए कहा है— 'व्यक्तः—व्यक्त्या विषयी कृत.।' व्यक्ति श्च भग्नावरणाचिद्.' इत्यादि।

१—रसगगाधर, पृ० २६ स० पचम।

इसी प्रकार इन्हीं मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रकाश में सर्वथा व्यंग्य होने वाले 'रस' की भी व्याख्या की गई है और इसके साथ साथ सजेशन्' अर्थात् व्यंजना का भी।

रिचार्ड्स ने इस निष्पत्ति में काव्य की क्रमिक गति का परिचय देते हुए कहा है कि प्रथमत. शब्दों का परिणाम (विज़ुअल) होता है अर्थात् शब्दों का नाद कर्ण-कुहर द्वारा मानस में प्रवेश करता है और काव्य के बहिरग तथा अतरग का आभास देता है, फिर पाठक उसकी कल्पना करता है अर्थात् काव्य-वर्णित वस्तु के जो वाचक शब्द कान पड़ते हैं वह वस्तु कल्पना में दीख पडती है, फिर पाठक के मानस जगत् में विंबात्मक रूप में उसका प्रतिरूप स्वतत्र उपस्थित होता है और तब पाठक की अपरोक्षानुभूति उसको अपना गोचर करती है। इस क्रिया के फलस्वरूप पाठक की भावना (इमोशन) उद्दीप्त होती है और इसके फलस्वरूप जो एक वृत्ति उत्पन्न होती है, वही काव्य का 'रस' है।

इसी प्रकार मनोविज्ञान के ही प्रकाश में पी० एस० नायडू (अन्नामलाई-नगर) ने भी अपने एक लेख (The concept of suggestion in Hindu Aesthetic) में सजेशन के साथ साथ रस का भी विचार किया है और रस की परिभाषा यों दी है—"Rasa may be then defined as the mental counter part of the totality of experience generated in a cultured person by the sympathetic induction of blended emotions belonging to sentiments by excilant, of purely aesthetic origin." 'अर्थात् (डा० द्विवेदी के अनुसार इसका हिंदी अनुवाद यों है)। 'रस वह तादात्म्यानुभूति है, जो एक सुरुचिसंपन्न (निर्माता) व्यक्ति के मन में कल्पना चित्रों द्वारा प्रसूत और स्थायी भाव से सपृक्त, मिश्रित अनुभवों की सक्राति से उत्पन्न होती है।'

इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यजना (सजेशन) का भी विचार किया है और उसकी परिभाषा यों दी है—

"The term suggestion should be properly applied only to the sympethetic arousal of the

cognitive part of mental structure, sympathy to the centtral and imitation to the last aspect"

अर्थात् 'सजेशन' (व्यजना) का भी यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाय, तो उसके तीन अवयव होंगे (१) मस्तिष्क सस्थान के ज्ञानात्मक अश का सवादी उद्बोध (२) सवादी अनुभूति एव (३) क्रियात्मक पक्ष की अनुकृति।

इस प्रकार 'रस' एव 'व्यजना' दोनों ही मस्तिष्क के विभिन्न पार्श्वों के सम्मिलित रूप ही हैं अर्थात् दोनों में मस्तिष्क की बोध वृत्ति, भाव वृत्ति एव क्रियावृत्ति का सभेद रहता है। अतर इतना ही है कि व्यजना में बोध-पक्ष का तथा इसमें भाव एव क्रिया पक्ष की प्रधानता है।

इसी प्रकार मनोविज्ञान में एक 'साइनेसथीसिया' का सिद्धात है। जे० टी० शिप्ले ने इस सिद्धात का परिचय देते हुए कहा है कि 'सामान्य मनुष्य अभिधेयार्थ तक ही पहुँच पाते हैं, पर 'हाइपर सेंसिटिव' लोग शब्दों के रूप एव ध्वनि के अनुसार अनेक अर्थ लगाते हैं। एक ओर तो वे पुरातन सकीर्ण सवेदनाओं को उनके प्रचलित साहचर्य के कारण ले आते हैं और दूसरी ओर उद्वेग से प्रेरित अन्य अगों या ज्ञानेंद्रियों की भी सवेदनाओं को जगा देते हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि एक ओर दो विभिन्न संवेदनाएं साथ ही जगती हैं और दूसरी ओर उसी तरह विरोधी शक्तिशाली भाव। उदाहरणार्थ, दु:खात कथाओं में एक ओर भय और दूसरी ओर करुणा। एक से भगने की ओर दूसरी से आकृष्ट होने की विरोधी क्रियाए एक साथ रहती हैं। ऐसे स्थलों में सतुलन अपेक्षित है। इस प्रकार की दशा में न तो इच्छा ही होती है और न क्रिया ही, बल्कि एक सतुलित ज्ञान रहता है। उस समय चेतना घनी भूत रहती है, उसमें प्रतिमाएं समृद्ध एव सहचर बनी रहती हैं।

सौंदर्य एक तरह से विपयीगत अनुभूति है। प्रत्येक मनुष्य के लिए वही सुदर है, जो अधिक से अधिक उस प्रकार की उत्तेजना दे, जैसे ग्राहक के सस्कार हों। इस सिद्धांत के अनुसार किसी भी रचना का मूल्य उसकी सावेदनिक एव बौद्धिक जटिलता के उस सस्तर पर निर्भर करता है, जो ग्राहक में पैदा होता है।

यह सिद्धांत स्वीकार करता है कि एक प्रकार के ऐंद्रिक संस्कार दूसरे प्रकार के ऐंद्रिय सस्कारों में परिणत हो जाते हैं। इस प्रक्रिया के कारण प्रयोक्ता के शब्दों में एक भव्यता (डिलाइट) आ जाती है, पारमित्य सक्षेप एवं मुधुरता आ जाती है और उसके मामान्य शब्द चित्र इन विशेपताओं से नख-शिख भरे रहते हैं।

स्पष्ट है कि शब्दों की यह सुघरता वाच्यार्थ-बोध के कारण नहीं है, बल्कि वाच्यार्थ के अवगुण्ठन से झाकने वाला कोई अतिरिक्त अर्थ है यह व्यंग्य नहीं तो और है क्या ? और क्या इसके लिए व्यजना की आवश्यकता नहीं है ?

अभिव्यजना और व्यजना के सबध में यद्यपि सबसे पहली आपत्ति यह उठती है कि क्रोचे द्वारा सस्थापित अभिव्यजना आत्मा की आन्तरक्रिया है, और व्यजना बाह्य शब्द का एक व्यापार, अत' दोनों का कोई सबंध ही नहीं है, तथापि (डा० द्विवेदी का विचार है कि) कला और सौंदर्य पर विचार करता हुआ एक जगह क्रोचे स्वीकार किया है कि कृति या कला की सफलता इसमें है कि इसके द्वारा कारयित्री एवं भावयित्री का एकीकरण हो जाय, अर्थात् कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिमायें एक सा अ्रब अनुभव करने लगें, अर्थात् कारयित्री की मपत्ति भावयित्री में 'मक्रमण कर जाय। यद्यपि सौंदर्य-शास्त्र में 'कला' की इस सक्रामकता पर बड़ा विचार किया गया है, तब भी उसी सदर्भ में डा० साहब का विचार है कि[1] सौंदर्य शास्त्र सबधी विचार सरणि में कला की इस सक्रामकता का उल्लेख एक प्रकार मे अनेक विचारकों ने किया है। रचना मिद्धात में, जिसका प्लेटो ने जगत् को धुँधला परिचय दिया था तथा जिसे अरस्तू ने विकसित एव पल्लवित किया था, कला की प्रेपणीयता का तत्वनिहित है। सुप्रसिद्ध इटेलियन आलोचक क्रोचे के प्रतिभा एवं रस-ज्ञान सिद्धात में भी कला का यह विशिष्टतत्व पाया जाता है। क्रोचे के अनुमार कृतित्व की वह चरमावस्था होती है जब सहज ज्ञान की एक ही प्रक्रिया में कलाकार की मानमिक वृत्ति और सहृदय की सौंदर्यानुभूति एकाकार हो जाती है, जब प्रतिभा और रमज्ञान का व्यवधान तिरोहित हो जाता है,

---

१—'आलोचना' का 'आलोचनाक'।

जब दोनों एक ही मूर्त चित्र स्पर्श करने लग जाते हैं ।[1] काव्य के संबंध में भट्ट लोल्लट की भी उक्ति इस सिद्धात से कितना मेल खाती है—

'नायकस्यकवे श्रोतुः समानोऽनुभवस्तत. ।'

स्पष्ट है कि कलाकार एव सहृदय की तथाकथित एकाकारता में भाषा मध्यस्थ है और वह अपनी संक्रामक शक्ति से उक्त कार्य करती है । यह शक्ति किस तरह व्यजना से संबद्ध है, इसका उल्लेख टालस्टाय के सबध में विचार करते हुए सामने आ चुका है ।

सुर्रियलिज्म व्यंजना

अतिथयार्थवाद को भी व्यजना का अविनाभाव सबध स्थिर किया जा सकता है । पर इस सबध से पूर्व हम 'अतियथार्थवाद' का स्वरूप तो देख लें ।

वस्तुतः (Psycho-analysis और Marxism) अतश्चेतनावाद एवं मार्क्सवाद के योग से 'अतियथार्थवाद' का निर्माण हुआ है । साहित्य के क्षेत्र में आज जो अनेक सिद्धांत चल रहे हैं, उनमें उक्त दोनों सिद्धातों का प्रमुख स्थान है और ये दोनों भी अपना अपना कार्य सर्वथा पृथक् पृथक् कर रहे हैं । इन दोनों विरोधीवादों का एकीकरण करके साहित्य में लाना इस वाद का मुख्य लक्ष्य था, (इस वाद के प्रवर्तक थे एण्ड्रीब्रिटन) । इनका समय लगभग १९३३ के है । इस बाद ने मनुष्य के उद्वेगों तथा मानसिक क्रियाओं की अभिव्यक्ति में मौलिक स्वाधीनता दे रक्खी है । मार्क्स 'माइढ' को नहीं मानता, 'मैटर' को ही मनता है, उसी को प्रामुख्य देता है, उसी की दृष्टि से 'माइण्ड' की भी परख करता है, जबकि अतश्चेतनावादी 'मैटर' की जगह 'माइण्ड' को ही प्रमुख मानकर सारे व्यापारों के मूल में उसे ही मानता है । इन लोगों ने 'मैटर' तथा 'माइण्ड' को समन्वित कर दिया । इसका उद्देश्य (Reality) यथार्थता तथा (Fantasy) स्वाप्नस्थिति एव अतृप्त अभिलाषा का मिश्रण ही रहा । यद्यपि ये दोनों विरोधी हैं, तथापि इन दोनों के विरोध से जो (Disturbances) गड़बड़ी पैदा होती है, उसी को इन दोनों के सतुलन से ठीक करना ही कला का लक्ष्य है ।

१—ध्वन्यालोक, १९९७ वि० का चौखम्भा सस्करण, पृ० ९२
—लोचन

अतियथार्थवाद एक अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन था जिसका लक्ष्य था स्वाधीनता एवं सामाजिक न्याय का स्थापन। पर सामान्य जनता को राजनीतिक, आर्थिक, एवं वैयक्तिक शोषण तथा अत्याचार से विमुक्त करना चाहता है। फ्रायड से इन लोगों ने अर्धचेतन मस्तिष्क की क्रियाओं को लिया और मार्क्स से आर्थिक न्याय। इस प्रकार सामाजिक सीमा एव वैयक्तिक सीमा को सतुलित करने का प्रयास किया, Reality एव Fantasy को मिलाने में योग दिया। अंतश्चेतनावादियों का विचार है कि स्वप्न, Fantasy आदि अर्धचेतन मस्तिष्क की क्रियाओं से ही सर्जनात्मक कला प्रक्रिया की प्रकृति और स्वभाव निर्दिष्ट होता है। वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का प्रतिरोधक (sensor) रूढ़ि-प्रिय समाज की एक देन है, जो एक अत्याचार है। इसी कारण अतृप्त अभिलाषा एव स्वप्न उन्हीं अचेतन में पड़ी हुई विकल प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति है, यद्यपि उनमें (condensation) सक्षेपीकरण, (projection) आत्मक्षेपण एव (displacement) स्थानारण हो जाता है। यहाँ अवचेतन मन से अभिव्यक्ति का सीधा सबध है। स्वप्न में इस अतश्चेतना में रहने वाली भावनाओं की कुछ ऐसी क्रियाएँ होती हैं, जिनसे वे कभी कभी रूप परिवर्तन करके आती है और कभी कभी ज्यों की त्यों और कभी कभी विभिन्न (symbols) प्रतीकों के रूप में भी उतरती है। साँप, मछली आदि उदाहरण के लिए काम के प्रतीक है। (Psyco-analysis) मनोविश्लेषण इन्हीं सुप्त भावनाओं का स्वप्न एव फैंटेसी के आधार पर विवेचन करता है। इन लोगों के अनुसार स्वप्न लेखन तथा Automatic-writing अप्रयत्न साध्य लेखन (अथवा निसर्गजात-लेखन) पर इनका जोर होता है। अर्थात् प्रतिरोधक का नियन्त्रण अस्वीकार करके जो भावनाएँ जिस किसी रूप में भी अर्थात् संगत, असंगत, भली, भद्दी आदि किसी रूप की हों—उन्हे लिख मारते हैं। और (Aesthetic activity) सौंदर्य-प्रक्रिया सद्वातर्काश्रित ही नहीं होती। कभी कभी लेखक इसलिए नहीं लिखता कि उसे अपना एक तार्किक सिद्धात स्थापित करना है, बल्कि एक आतरिक प्रेरणा के कारण कुछ लिख जाता है। इस प्रकार वह प्रेरणा अपने आप में अनाख्येय है। इसमें Hypnotism के भी कुछ गुण होते है।

इस विवेचन से भी स्पष्ट है कि अतियथार्थवाद सगत अर्थ अर्थात् वाक्य के अबाधित अर्थ, निर्बाध अन्वित अर्थ पर ध्यान नहीं रखता अर्थात् वाच्यार्थ की उपेक्षा करता है, वह सदालक्षणा एवं व्यजना से ही अपने देय को प्रकाशित करना चाहता। है

इसी प्रकार 'व्यजना' पर प्रकाश डालने वाला एबरक्रांबे का यह कथन भी है कि Poetry is electrification of language with extrameaning' अर्थात् शब्दों में अतिरिक्त अर्थ करनेवाली भाषा ही कविता है। ग्रियर्सन ने भी पद्य एव गद्य का अतर बताते हुए कहा है कि—"Prose has tone, but poetry has over tones . ...अर्थात् कविता वाच्यार्थ से अतिरिक्त अर्थ पर बल देती है।

बीसवीं शती की कविताओं में इलियट ने भी एक नवीन वाद का प्रवेश कराया है और वह अभिव्यजक की नूतन पद्धति से संबद्ध है। उनकी पद्धति की विशेषता यह है कि मस्तिष्क में आए हुए भावों को सीधे न कहकर उसी के समशील बाह्य जगत् की कोई वस्तुद घटना या व्यापार के रास्ते व्यक्त करना चाहिए। इसी पद्धति को वे objective-correlative कहते हैं। इसकी यह विशेषता है कि जिस प्रकार स्वप्न में हमारे भाव सीधे न आकर रूप परिवर्तित करके अथवा अन्य वस्तु पर प्रतिक्षिप्त होकर आते हैं अथवा अपने सामान्य रूप में काँट-छाँट करके आते हैं उसी प्रकार यह बाह्य जगत् की वस्तुएँ भी हमारी भावनाओं की अभिव्यक्ति Association value से करती हैं। कवि किसी भाव की अभिव्यक्ति के लिए अपनी तात्क्षणिक चेतना धारा में (stream of concsiousness) आई हुई समस्त स्मृतियों एव विचारों को व्यक्त कर देता है। उन्हीं संकेतमयी रेखाओं के सहारे (किसी भौतिक घटना की द्योतक एक रेखा मात्र) पाठक मूल घटना का पुनर्ग्रहण करता है। इसी पद्धति को suggestion या dream association की पद्धति भी कहते हैं।

इस प्रकार यद्यपि यह तो नहीं कहा जा सकता कि योरुप में कोई एक सिद्धात व्यजना के समान प्रतिपादित हुआ है तथापि हम जो व्यजना के स्वभाव एव स्वरूप का विचार करते हैं, तो हमें ऐसा मालूम होता है कि ध्वनि से पूर्व जैसे व्यग्यार्थ सी वस्तु उनके मस्तिष्क में भी, पर वे व्यजना का नाम नहीं लेते थे, उसी प्रकार पश्चिमी समीक्षा क्षेत्र में भी बहुत सी ऐसी बातें हैं, जो व्यजना एव व्यग्य के मेल में आ सकती हैं।

— ——

उत्तरार्द्धः प्रथम परिच्छेद

विश्व वैचित्र्य की राशि है। अत. उसकी प्रत्येक व्यष्टि वैचित्र्य समन्वित है। जगत् के इस निखिल वैचित्र्य विधायक तत्वों में अभिव्यंजन पद्धति का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। दृष्टिकोण के आपेक्षिक सकोच से जैसे इस तत्व का व्यक्ति व्यक्ति में भिन्न-भिन्न रूप से दर्शन होता है, उसी प्रकार दृष्टिकोण के आपेक्षिक विस्तार से इसे देश-देश में भी भिन्न भिन्न रूप मे देखा जा सकता है। तात्पर्य यह कि विभिन्न देशों में सोचने की पद्धति भिन्न भिन्न होने से—विचारधारा के भेद से—अभिव्यंजन पद्धतियाँ भी भिन्न भिन्न हुआ करती हैं। यही कारण है कि भारतीय (Fareast) अभिव्यजन पद्धति मे योरुपीय अभिव्यजन पद्धति सर्वथा भिन्न है और (Neareast) ईरान. फारस आदि मुस्लिम देश इस माने में दोनों से पृथक् ही अपना अस्तित्व रखते हैं।

भारत का हिंदी-भूमि-भाग इस्लामी एव क्रिश्चियन सस्कृत की कारयित्री एव भावयित्री प्रतिभाओं से सदैव प्रभावित होता रहा है और इसके परिणाम-स्वरूप आज हिंदी की नवीन कविता में सभी अभिव्यंजन पद्धतियों के दर्शन होते हैं। विद्वानों का विचार है कि प्राच्य की अपेक्षा पाश्चात्य शैली लक्षणा को अधिक महत्व देती है।[1] आचार्य शुक्ल जी ने स्वीकार किया है कि अंग्रेजी भाषा में लाक्षणिक चापल्य अधिक है। अर्थात् वह लक्षणोन्मुखी है। भारतीय शैली व्यजनोन्मुखी है। भारतीय स्वभाव ही है ऊपर मे वाच्यार्थ की भाँति ऋजु भाव से रहना, पर सदा भीतरी तत्व (व्यजना-व्यक्ति-चित्तत्व) की ओर झुके रहना। पश्चिमी स्वभाव कुटिल ढग से भीतर की ओर मुड़ने वाला है। दोनों की प्रवृत्ति उनके अभिव्यजन में स्पष्ट लक्षित होती है। योरुपीय पूर्व को Far east एव Near east भागों में बाँटते हैं, 'नियर ईस्ट' इस्लामी देश है और फार ईस्ट भारत। नियर ईस्ट की साहित्यिक भाषा फारसी में निरूढ़ा एव प्रयोजनवाती दोनों प्रकार की लक्षणाएँ हैं, तथापि (वेस्ट) पश्चिम की भाँति उसमें प्रयोजनवती लक्षण पर उतना जोर नहीं होता, जितना निरूढ़ा

१—हिंदी साहित्य का इतिहास, आधुनिक काल

लक्षणा पर होता है। विचारपूर्वक देखा जाय तो इसमें (नियर ईस्ट में) निरूढ़ालक्षणा के आधार पर बने मुहावरेदार प्रयोगों का जो बाहुल्य है, यह कहीं भी नहीं है। हिंदी अपनी भारतीय प्रकृति से (व्यग्य-रस-परक दृष्टिसे) हटकर इन लक्षणा-प्रिय भाषा-भाषियों के ससर्गवश आज आधुनिक युग में बे-हिसाब आगे बढ़ी जा रही है। निरूढ़ा एव प्रयोजनवती लक्षणाएँ भारतीय शैली में भी थीं, पर इनकी अपनी एक मर्यादा थी, हिंदी की अनुकरणप्रिय प्रवृत्ति उस सीमा का अतिक्रमण करती हुई अब तक कविताओं में शतश दृष्टिगोचर हो रही है। आधुनिक या नवीन कविता से हमारा तात्पर्य विज्ञान-युग की नवीन कविता से है। सस्कृत साहित्य में 'आप मुहाविरों का प्रयोग प्रायः नहीं पावेंगे। हिंदी के प्राचीन साहित्य में प्रयोजनवती का यह अधानुकरण-प्रिय प्रचुर-प्रयोग भी नही पाएँगे। नैषधकार में मुहाविरों का कुछ सद्‌भाव संभव है इस्लामी सस्कृति के साहचर्य का फल हो। हिंदी साहित्य में—हिंदी के आधुनिक साहित्य में—आज आप उक्त तीनों पद्धतियों का अविरल प्रयोग देख सकते है। गुप्त जी में भारतीय, हरिऔध जी में 'अशत. फारसी और 'पत' जी में अग्रेजी की लाक्षणिक वक्रता आपको पदे-पदे मिल सकती है।

आत्माभिव्यजन के लिये मनुष्य के पास जितने साधन हैं, उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण साधन है—भाषा। भाषा की भी सबसे महत्वपूर्ण शक्ति है व्यजना और साहित्य इसका अपना क्षेत्र है। उक्त दो विभिन्न सस्कृतियों की व्यंजनापद्धति की चर्चा अवसर आने पर की जायगी। सम्प्रति, भारतीय व्यजना की व्यवस्थित प्रयोग-पद्धति एव प्रसार-भूमि की चर्चा करनी है।

भारतीय साहित्यशास्त्र के विचारकों ने वाङ्मय को काव्य एवं शास्त्र दो भागों में बाट रखा है। प्रयोजन की दृष्टि से चाहे इनके पार्थक्य में मतभेद हो, पर शैली की दृष्टि से पार्थक्य-स्थापन में कदाचित् ही दो मत हों, अर्थात् एक अपनी प्रतिपादन पद्धति में सरसता का ध्यान रखता ही है, जब कि दूसरा उस पर ध्यान रखने को बाध्य नहीं है। इस प्रकार काव्य में रस की सत्ता नितात अपेक्षित है और रस व्यंजना शक्ति का विषय है। इस दृष्टि से देखे जाने पर सपूर्ण काव्य व्यजना के प्रसार की भूमि है। परतु रसतत्व कहीं कहीं इतना दबा रहता है कि पाठक का ध्यान उस ओर से हटकर वाच्य-अलंकार के चमत्कारों पर टिक जाता है। कवि की प्रतिभा का संरभ शब्द-सौंदर्य या वाच्यार्थ वैचित्र्य पर ही दृष्टिगोचर होता है। काव्य की इस

स्थिति को ध्वनिकारों ने अधम कहा है। अधम काव्य में रस-प्रतीति की ओर ध्यान न जाने से व्यजना व्यापार का प्रश्न ही नहीं उठता। रस के अभाव (अनभिव्यक्ति) में वस्तु या अलकार की सत्ता रहेगी। ये भी यहाँ सदैव वाच्य-कोटि में ही रहते हैं, अतः इनकी प्रतीति के लिये भी व्यंजना-व्यापार का उपयोग नहीं हो सकता है। वस्तुत. इस अलकार और वस्तु की प्रतीति में भी व्यजना का प्रयोग होता है, पर वे स्थल कुछ और होते हैं।

दूसरे शब्दों में कहे तो कह सकते हैं कि यह व्यग्यार्थ यहाँ पर अस्फुट-तर रहता है। प्रकाशकार ने अधमकाव्य को, जो 'अव्यग्य'[1] कहा है, उसका तात्पर्य इसी में है, कुछ व्यग्य के अभाव होने में नहीं।

काव्य की दूसरी स्थिति वह है, और जहाँ व्यग्यार्थ रहता तो उभाड़ पर है, पर स्थिति की दृष्टि से या तो वह वाच्यार्थ के समकक्ष रहता है, या उससे अपकृष्ट रहता है। कभी कभी उसका उपस्कारक अथवा साधक होता है। भाव यह कि वह वाच्यार्थ की अपेक्षा सुदर नहीं होता। ऐसे स्थलों में व्यंग्य के इस गुणीभाव (अप्रधानता) को देखकर उसे गुणीभूत व्यग्य कहते हैं। गुणीभूत या अप्रधान व्यग्य की प्रतीति में उपाय होने के कारण यहाँ व्यजना की स्थिति भी गौण होती है। इसे मध्यम काव्य भी कहते हैं।

काव्य की एक तीसरी स्थिति वह होती है; जहाँ व्यग्यार्थ उभाड़ पर तो रहता ही है, स्थिति एव चमत्कार की दृष्टि से वह वाच्यार्थ की अपेक्षा सर्वथा प्रधान रहता है। अत. इस प्रकार के व्यग्यार्थ की प्रतीति का साधन होने से यहाँ व्यंजना व्यापार की प्रधानता होती है, इसे उत्तम या ध्वनि काव्य कहते हैं।

इस प्रकार काव्य में व्यंजना की दो स्थितियाँ होती हैं—प्रधान एवं गौण। अल्प श्रम साध्य होने के कारण पहले गुणीभूत व्यग्य में ही व्यजना की क्रिया देखनी चाहिये। ध्वन्यालोककार ने गुणीभूत व्यग्य के प्रभेदों की चर्चा तो अवश्य की है, पर वह अत्यंत बिखरा हुआ है। काव्य प्रकाशकार ने व्यग्य जितनी अवस्थाओं में जिन कारणों से गुणीभूत हो जाता है, उन सब का सग्रह कर दिया है। ये सब कारण सख्या में आठ निर्धारित किए गए हैं।

१—अव्यग्यं त्ववरं स्मृतम्—काव्य प्रकाश, प्र० उ०।

(१) उक्त आठ कारणों में से प्रथम कारण है व्यंग्यार्थ का अगूढ होना। इस कारण गुणीभूत व्यंग्य का जो प्रभेद होता है, उसका नाम है अगूढ़ व्यग्य। अगूढ़ का अर्थ है जो गूढ़ न हो, प्रत्युत स्फुट हो और इतना स्फुट कि वाच्यार्थ के समानतत्काल झलक जाय और असहृदय जन तक उसे समझ जायँ। यह अत्यंत स्फुट होने के कारण चमत्कारकारी नहीं होता। यहाँ विचारणीय यह है कि यह व्यग्य अगूढ़ हो क्यों जाता है? इसकी चर्चा किसी ने नहीं की। जहाँ तक स्वय अपनी ऊहा है, इसके दो कारण सूझते है, (I) प्रथम कारण तो यह जान पडता है कि ऐसे स्थलों के व्यजक पद निरतर प्रयोग में आते रहते हैं। चूँकि व्यवहार में इन व्यजक पदों का प्रचुर प्रयोग रहता है, इसीलिये उसका सस्कार इतना दृढ़ रहता है कि लोगों को वह शीघ्र प्रकाशित हो जाता है। यद्यपि निरूढ़ा लक्षणा के आश्रय पदों की भी प्रयोग प्रवाह में यही स्थिति रहती है, अर्थात् उसका भी प्रचुर प्रयोग होता है, तथापि दोनों में अतर यह है कि निरूढ़ा में प्रयोजनाश मृत रहता है जब कि यहाँ जीवित रहता है (II) दूसरा कारण उन व्यजक पदों के प्रयोग का प्रकार भी हो सकता है। यद्यपि ये पद प्रयोग में उतने चलते नहीं हैं, तथापि शैली की सरलता ही उन्हें उत्तानार्थक बना देती है, फलतः उन्हें अविदग्ध जन भी समझ जाते हैं। शैली की सरलता से तात्पर्य यह है कि उसके साथ वाले पद ऐसे हों, जो व्यजक पद के अर्थप्रकाश में बहुत सहायक हों। इन पदों से उपस्थापित पदार्थों के बीच वे पदार्थ ग्राहक की बुद्धि में तत्काल उतर आते हैं। परतु कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ के व्यजक पदों में प्रयोग-प्राचुर्य एव शैली-सारल्य दोनों हैं, तथापि उन्हें अगूढ़ व्यग्य के भीतर नहीं लेते, उदाहरणार्थ 'मैं कह रहा हूँ'—'वाह साहब, आपने तो ऐसा हमारा उपकार किया, कि वह जीवन भर भूला नहीं जा सकता' इत्यादि स्थलों में 'मैं' एव 'उपकार' आदि ऐसे पद हैं, जहाँ लक्षणा मूल व्यजना है, और यदि ये रसमय प्रसग के भीतर हों, तो आलकारिक ऐसे प्रयोगों को ध्वनि के परिवेश में सिमेट लेते हैं। ऐसे स्थलों में जो गुणीभूत व्यग्य का व्यवहार नहीं होता, उसका कारण है—स्वारस्य विशेप का सद्भाव। इस प्रकार के 'मैं' आदि पदों का सारा विवक्षित अर्थ उसी ग्राहक को परिज्ञात हो सकता है, जिसका अत'करण वक्ता, बोद्धव्य, प्रकरण आदि के वैशिष्ट्य से सुपरिचित हो। इस परिचय के लिये विशेष अतःकरण या 'हृदय' की आवश्यकता है, जो सहृदय जनों को ही प्राप्त है, असहृदय जनों को नहीं। यही कारण है कि इन स्थलों के निखिल विवक्षित अर्थों की प्राप्ति सहृदयों को ही हो पाती है, असहृदयों को नहीं। यही कारण

है कि ये प्रयोग ध्वनि की ही कोटि में आते हैं। इस प्रकार देखा जाय, तो साहित्य की सभी विशेषताएँ जिस त्रिकोण-वक्ता, विषय एवं ग्राहक से परिचालित होती है, उन्हीं का हाथ यहाँ भी है। प्रयोग-प्राचुर्य में विषय की शैली-सारल्य में वक्ता की एव स्वारस्य ग्रहण में ग्राहक की विशेषताएँ ही उन भेदों में व्यवस्था उत्पन्न करती हैं।

उदाहरण—(अर्थांतर सक्रमित) अगूढ व्यंग्य (उपादानलक्षणाश्रित)

द्वितीय अध्याय में शुद्धा लक्षणा के जिन चार प्रभेदों की चर्चा की गई है, उनमें से एक भेद उपादान लक्षणा के ही कारण वाच्यार्थ का अर्थांतर में सक्रमण कराया जाता है। यह सक्रमण कभी वाच्यार्थ की आश्रितावस्था में और कभी आश्रयावस्था में होता है। यहाँ तथाकथित द्विविध वाच्यार्थ कभी धर्म रूप अर्थांतर एव कभी धर्मी रूप अर्थांतर से संवलित होकर लक्ष्यार्थ में परिणत हो जाता है। उदाहरणार्थ-'सग सौध में हो शृगार मरण का शोभन, नग्न, क्षुधातुर, वास-विहीन रहें जीवित जन।'

आ० कवि 'ताज'—'पंत'

प्रस्तुत पक्तियों में 'मरण' शब्द का सबध 'शोभन-शृंगार हो' से विवक्षित है, पर 'मरण' का शृगार होना' कभी सभव नहीं, अत 'मरण' शब्द का वाच्यार्थ स्वय आश्रित बनकर 'मरणवाला' या मृतक (धर्मी) में सक्रात हो जाता है। यहाँ 'मरण' शब्द की उपादान लक्षणा 'मरणवाले' में है। 'मरण' वाच्यार्थ है, जो स्वय 'धर्म' बनकर 'वाला' इस 'धर्मी' का आश्रित हो जाता है। यही उपादान लक्षणा के सहारे वाच्यार्थ का अर्थांतर में सक्रमण है। इस प्रकार 'मरण+वाला' (वाच्यार्थ + अर्थांतर) दोनों मिलकर 'मरण' शब्द की उपादान लक्षणा से प्राप्त 'लक्ष्यार्थ' हुए। 'उपादान' शब्द का अर्थ ही है—ग्रहण। जितना है (वाच्यार्थ) उतना तो है ही, कुछ और ग्रहण किया जाता है, तब लक्ष्यार्थ का पूरा स्वरूप प्रतिष्ठित हो पाता है। यहाँ 'वाच्यार्थ' स्वयं 'और गृहीत' अर्थ में 'सक्रमण' करता है, इसीलिए इसे 'अर्थांतर सक्रमित' कहते है। ऐसे स्थलों में यदि लक्षणा का प्रयोजन गूढ न हो, तो वह अगूढ कहा जाता है। प्रयोजनाश किस प्रकार इन स्थलों में व्यजनावृत्ति द्वारा लाया जाता है, यह पहले ही बताया जा चुका है।[1] ऐसे ही अगूढ गुणीभूत व्यग्य का एक उदाहरण है—

१—देखिए 'लक्षणा मूल व्यजना'।

'साल रही सखि, मा की झाकी वह चित्रकूट की मुझको।
बोली जब वे मुझसे-मिला न वन न भवन ही तुझको ॥'
—साकेत

इस पद में 'भवन' शब्द ध्यान देने योग्य है। यहाँ उर्मिला के लिए कहा गया है कि 'न तुम्हे भवन हो मिला और न वन हो'। आप्त-प्रमाण से जब हमें ज्ञात है कि 'उर्मिला को भवन मिला' तब बुद्धि सीधे यह बात स्वीकार नहीं कर सकती कि उर्मिला को 'भवन नहीं मिला।' यहाँ 'भवन' शब्द का सामान्य रूप में जो अभिधेयार्थ है, उनकी उपादेयता बिलकुल नहीं है। परतु कवि ने अपने भावावेश में जिस 'भवन' के न मिलने का उल्लेख किया है, 'वह 'भवन' सामान्य नहीं, कुछ विशेप' है, जिसकी प्रतीति में अभिधा अशक्त है। अभिधा के अशक्त होने पर उपादान लक्षणा प्रस्तुत शब्द की प्रासगिक उपयोगिता बताने के लिए कुछ 'विशेप' देने का उपक्रम करती है—'भवन' शब्द के सामान्य अर्थ को अर्थांतर में सक्रमित करने को जोर मारती है। यहाँ 'भवन' शब्द का वाच्यार्थ स्वय आश्रय बन कर प्रासगिक उपयोगिता के लिए 'सुखमयता' रूप धर्म को और 'ग्रहण' करता है, इस प्रकार यहाँ 'भवन' का अर्थ 'सुखमय भवन' हो गया है। एक पतिव्रता स्त्री के लिए पति के साहचर्य से बढ़कर भवन की सुखमयता और कुछ नहीं है, उर्मिला के लिए वही तो नहीं है, फिर उसे 'सुखमय भवन' कहाँ मिला ? पति के अभाव में यदि 'भवन' दुःखमय है, तो उसका मिलना न मिलना बराबर ही है। वक्ता के इस ढग से कथन का प्रयोजन यही है कि उर्मिला (बोद्धव्य) के लिए, सप्रति, 'कहीं सुख नहीं' है। यह प्रयोजनाश इतना स्फुट है, कि किसी भी साधारण सचेत ग्राहक को वाच्यार्थ के समान सुनते-सुनते झलक जाता है। इसकी यही अतिस्फुटता 'अगूढ़' होने का कारण है।

(२) लक्षण लक्षणाश्रित अत्यंततिरस्कृत वाच्य स्थल के प्रयोजनाश की अगूढता—

लक्षणलक्षणा भी शुद्धाप्रयोजनवती लक्षणा का ही एक प्रभेद है। यहाँ 'उपादान' नहीं होता, बल्कि 'लक्षण' अर्थात् 'त्याग' होता है। इस लक्षणा के द्वारा वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार हो जाता है और उसकी जगह प्रसगोपयोगी वाच्यार्थ से सबद्ध सर्वथा एक नया अर्थ ही आ जाता है। वाच्यार्थ का अत्यत तिरस्कार होने के ही कारण इसे अत्यत तिरस्कृत वाच्य कहते हैं। उदाहरण के लिए—'आँचल में है दूध और आँखों में पानी'—गुप्त जी की

यशोधरा की एक प्रसिद्ध पंक्ति है। यहाँ 'आँचल' एवं 'दूध' का जो आधाराधेयभाव संबंध 'में' कारक चिह्न द्वारा सूचित किया गया है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वथा बाधित है अतः 'आँचल' शब्द का अभिधेयार्थ प्रकृत प्रसंग में सर्वथा अनुपयोगी है। अतः उस शब्द से कोई उपयोगी अर्थ प्राप्त करने के लिये वाच्यार्थ से संबद्ध अर्थ ढूँढ़ना चाहिए, वह अर्थ भी ऐसा हो जो दूध का आधार बन सके। निश्चित है कि वह इस व्यवस्था के आधार पर वाच्यार्थ संबद्ध अर्थ 'स्तन' ही है। वाच्यार्थ के साथ इसका 'समीप्य' संबंध भी है और 'दूध' की आधारता भी संभव है, जो प्रकरण को देखते हुए उचित जान पड़ता है। रंध्रों से भरे हुए आँचल में तरल दूध की आधारता कभी भी संभव नहीं है। इस लक्षक शब्द के प्रयोग का प्रयोजन है— 'स्त्रियों में मातृत्व पक्ष की जीवन-व्यापिनी प्रबलता।' लक्षण लक्षणा के स्थल में जब इसी प्रकार के प्रयोजनांश अगूढ़ होते हैं, तब प्रकृत व्यंग्य का वह लक्ष्य बन पाता है—

चूमता था भूमि तल को अर्द्धविधु सा भाल।
बिछ रहे थे प्रेम के दृग, जाल बन कर बाल॥

—साकेत

'चूमना' क्रिया की कर्मता का संबंध 'मुख' में ही आजकल प्रसिद्ध है। कामशास्त्र चाहे विभिन्न मर्म स्थानों में 'चुंबन' का विधान भले ही करता हो। दूसरे यह कि 'चुंबन' की कर्मता चाहे अन्यत्र भी रह ले, पर 'चुंबन' क्रिया के कर्तृत्व का ठेका तो एकमात्र 'मुख' ने ही ले रखा है, पर यहाँ 'चूमना' 'भाल' की क्रिया बताई गई है, जो सर्वथा व्यवहारविरुद्ध जान पड़ती है। फलतः यथाश्रुत संबंध की अनुपपत्ति लक्षणा को उकसाती है, और लक्षणा वृत्ति केवल 'संयोग' मात्र अर्थ उससे प्राप्त कराती है। 'चुंबन' भी तो एक प्रकार का संयोग ही है, जिसका कर्ता नियत (मुख) है। यहाँ विशेष संयोग वाच्य है और सामान्य संयोग लक्ष्य। अतः वाच्यार्थ का लक्ष्यार्थ से सामान्य विशेष भाव संबंध भी हुआ। अब रही बात, प्रयोजनांश की। यह विवक्षित अर्थ (संयोग) के वाचक शब्द (संयोग) के बावजूद भी जो अवाचक (चुंबन) शब्द का प्रयोग किया गया, उसका एकमात्र प्रयोजन है क्रिया की 'मधुरता एवं रति भाव' की झलक देना। वह 'माधुर्य एवं रतिभाव' 'चुंबन' शब्द के साहचर्य वश शीघ्र ही झलक उठता है, अतः अगूढ़ है। इसी प्रकार इसका एक और उदाहरण लीजिये—

'वियोगिनि ! यह विरह की रात ।
आँसुओं की बूँद ही में बह गई अज्ञात ॥'

—रा० कु० वर्मा

यहाँ 'रात' को 'बहाया' गया है । स्पष्ट है कि 'बहाना' क्रिया का प्रयोग तरल एवं द्रव पदार्थ के लिये होता है । रात्रि कोई तरल एवं द्रव पदार्थ नहीं है, जो बह जायगी । तार्किक 'स्यदन' क्रिया में 'द्रवत्व' को ही कारण मानते हैं, रात्रि में जब मूल गुण 'द्रवत्व' ही नहीं है, तो उसमें स्यदन-बहना आ कहाँ से सकेगा ? अतः यहाँ 'बहाना' से तात्पर्य है—'शीघ्रतापूर्वक बीत जाना ।' इस 'बीत जाने' की अतिशय 'शीघ्रता' ही व्यंग्य है । यह प्रयोजनाश भी तत्काल ही प्रतीत हो जाता है, अतः अगूढ़ व्यंग्य का उदाहरण हुआ ।

यहाँ वाच्यार्थ सर्वथा तिरस्कृत है । लगता है, जैसे वियोगी की इस 'रात' का कुछ करना हो, पर वह आँसुओं की बूंद में अर्थात् रोते रोते ही जाने कब हाथ से निकल गई हो और वह बाद इस कथन द्वारा बैठा हुआ पश्चात्ताप व्यक्त कर रहा हो । इस दृष्टि से यहाँ 'निरुपयोगिता का अतिशय' भी व्यंग्य हो सकता है ।

प्रस्तुत उदाहरण में 'अनुचितार्थत्व' दोष स्पष्ट झलकता है । यह दोष वहाँ होता है, जहाँ विवक्षित अर्थ या भाव के विरोधी अर्थ या भाव प्रतीत हों । यह विरोध जिस 'पद' की महिमा से व्यंग्य होता है, उसे 'अनुचितार्थ' पद कहते हैं । जैसे—

सेवहिं लषन सीय रघुबीरहिं ।
जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं ॥

अथवा 'वासर की संपति उलूक ज्यों न चितवत' वाला उदाहरण प्रसिद्ध ही है । इन स्थलों में जैसे 'वर्ण्य' राम के प्रति कवि अपनी उत्कृष्ट भावना व्यक्त करना चाहता है, पर 'अप्रस्तुत योजना' इन स्थलों में ऐसी अनुचित है, जिससे अप्रस्तुत गत 'तामसी भाव' विवक्षित 'सात्विक भाव' को दबा देता है और कुछ विरोधी भाव ही प्रकट करता है । यही स्थिति 'अप्रस्तुत' की क्रिया का प्रस्तुत से संबंध जोड़ देने पर होती है । आलोच्य पद से कवि व्यक्त करना चाहता है 'विरह वेदना का आतिशय्य । 'आँसुओं की बूँद' यही तो

कहती है, किंतु दूसरी ओर 'रात का अज्ञात रूप से शीघ्र बीत जाना' समय की दूभरता का अभाव व्यक्त करता हुआ सुखमयी स्थिति की प्रतीति कराता है। कवि की ओर से उक्त दोष का प्रतिवाद करते हुये कहा जा सकता है कि 'रात का अज्ञात रूप से बह जाना' वियोगी की वृत्ति की अंतर्लीनता, वेदना का घनी भाव व्यक्त करता है। पर हमारा कहना यह है कि यदि वेदना का आतिशय्य ही व्यक्त करना है तो रात एवं दिन दोनों को अज्ञात रूप से बिता देते। इस पर भी कवि अपने समर्थन में कह सकता है कि वियोगी का दिन तो कार्यांतर में व्यस्त रहने के कारण किसी तरह बीत जाता है, वियोगवृत्ति अन्य वृत्तियों से तिरोहित होती रहने के कारण कुछ सह्य रहती है, पर कार्यांतर के अभाववश रात्रि में वियोग वृत्ति एकनिष्ठ हो जाती है, साथ ही वातावरण के प्रभाववश अत्यधिक उद्दीप्त भी हो जाती है, अतः 'रात' ही उस अंतर्लीनता की स्थिति में अज्ञात भाव से बीतती है, दिन तो ज्ञात रहकर बीतता है। अतः उक्त कथन ही सर्वथा युक्ति संगत है। पर इन तर्कों के साथ साथ यदि भारतीय वियोग-वर्णन की परंपरा देखी जाय और अनुभव को साक्षी माना जाय तो कहा जा सकता है कि वियोग की स्थिति में एक क्षण भी दुर्वह हो जाता है, और दुर्दैव वश वह समय भी रात्रि का हो, तब तो कुछ भी कहने की गुंजाइश नहीं रह जाती। परंपरा वेदना के आतिशय्य को समय की दुर्वहता बताकर ही व्यक्त करती है, कुछ उक्त पद्धति द्वारा नहीं। यही परंपरा विरोध महादेवी वर्मा की 'रोती[1] है उजियाली'—इस प्रयोग में भी अन्य विद्वानों ने देखा है। यहाँ उजियाली 'को वेदना-विद्ध कवयत्री ने रुदन के व्यक्त रूप में देखा है, जबकि परंपरा में वह सदा 'हँसती' आई है।

प्रस्तुत आलोच्य पद के संबंध में एक बात और कहनी है—कोई भी वस्तु यदि धारा में 'बहाई' जाय, तो ठीक भी है, पर यह कहाँ का वियोगी है? जिसकी रात इतनी क्षुद्र एवं हल्की है कि वह बूँदों में ही बही जा रही है? बल्कि बूँदों में क्यों, 'बूँद' में ही इसलिए कहना ही था, तो कह देते कि—

'आँसुओं की धार ही में बह गई अज्ञात'

पंडित रामदहिन मिश्र ने अपने 'काव्यालोक' में 'अगूढ़ व्यंग्य' का एक उदाहरण दिया है—'बीती विभावरी जाग री।

अम्बर पनघट में डुबो रही ताराघट उषा नागरी।

१—हिंदी साहित्यः बीसवीं शताब्दी

और समर्थन में उनका कहना है—'यहाँ ऊषा नागरी द्वारा आकाशरूपी पनघट में तारारूपी घड़ों का डुबाना वाच्यार्थ है। लक्ष्यार्थ होता है ऊषा के आगमन से आकाश के तारों का लुप्त होते जाना और इसका-व्यंग्यार्थ' जो रात्रि का बीत जाना है' वह ऊषा और उसके व्यापार से स्पष्ट है। 'बीती विभावरी' कथन से तो वह और स्पष्ट है, अतः अगूढ़ व्यंग्य है।'[१]

विचार करने पर पंडित जी का उदाहरण एवं उनके समर्थक उद्‌गार दोनों असंगत एवं अशुद्ध प्रतीत होते हैं। वस्तुतः यहाँ 'शुद्ध परंपरित' रूपक के नियोजन में ही कवि की प्रतिभा का संरंभ लक्षित होता है, अतः यह 'अवरकाव्य या 'चित्रकाव्य' है, गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण कहना सर्वथा ठीक नहीं है यहाँ, ऊषा पर नागरी का, अंबर पर पनघट का एवं ताराओं पर घट का आरोप किया गया है। यहाँ के उपमानोपमेय कवि परंपरा गृहीत नहीं है, बल्कि 'नवयुगी' कवि के स्वयं कल्पित हैं। फलतः उक्त तीनों आरोप असिद्ध हैं। असिद्धि का कारण यह है कि आरोप उन्हीं पदार्थों का सिद्ध माना जा सकता है, जिनकी उपमेय से अति समानता हो और अतिसमानता 'साधर्म्य पर निर्भर है। जिन दो पदार्थों में समानधर्म होता है, उन्हीं में साम्य संभव है। ये साधारण धर्म या तो कवि परंपरा से सिद्ध होने के कारण अतिप्रसिद्ध हों (अतः प्रसिद्धि वश उनका कथन शब्दतः नहीं किया जा सकता है) या कवि की प्रतिभा की ताजी उपज हों। इस स्थल में प्रथम पक्ष संभव नहीं है, अतः दूसरा पक्ष ही हो सकता है अर्थात् कवि की प्रतिभा से ही वे निर्मित माने जा सकते हैं। निर्मित तो हों ही, साक्षात् शब्द द्वारा उनका कथन भी होना चाहिए, अन्यथा पाठक को उनका ज्ञान कैसे हो सकेगा? प्रस्तुत स्थल में तीनों प्रस्तुतों एवं अप्रस्तुतों का साधारण धर्म कहीं भी पृथक् शब्द से कहा नहीं गया है, अतः समान धर्म के अभाव से सादृश्य का अभाव और सादृश्य के अभाव में आरोप की असिद्धि स्पष्ट ही है।

वस्तुत. ऐसे स्थलों में एक आरोप दूसरे आरोप की सिद्धि में साधन का कार्य करता है और जहाँ यह स्थिति होती है, वहीं परंपरित रूपक होता है। एक आरोप दूसरे आरोप की सिद्धि में किस प्रकार उपाय बनता है, अवसर आने पर आगे विचार किया जा सकेगा। रामचंद्रिका का निम्नलिखित अंश भी इसी प्रकार परंपरित रूपक का उत्तम उदाहरण है—

१—काव्यालोक, द्वि० भाग

'चढ्यो गगन तरु धाय, दिनकर बानर अरुण मुख ।
'कीन्हों झुकि झहराय, सकल तारका कुसुम बिनु ॥
रा० च० प० प्र०

यहाँ गगन पर तरु का, दिनकर पर अरुण मुख (बानर) का एवं तारिकाओं पर कुसुम का आरोप है । साराश यह कि मिश्र जी का उदाहरण परपरित रूपक का ही है, गुणीभूत व्यग्य का नहीं । वस्तुत व्यवहार उसीका होना चाहिए, जिससे चमत्कार की प्रतीति होती हो ।

दूसरे यह कि मिश्रजी ने जो संपूर्ण वाक्य को लक्षक बना दिया है, वह भी युक्तियुक्त नहीं है । यह वाक्य लक्षक तब होता, जब संपूर्ण वाक्यार्थ असगत होता—बाधित होता । यहाँ किसी प्रकार की असगति ही नहीं है । यहाँ तो कवि का सीधा कथन है—'ऊषा नागरी अम्बर-पनघट में ताराघट डुबो रही है ।' यहाँ क्रमश. ऊषा, अंबर तथा तारा नागरी, पनघट एवं घट से अभेद प्राप्त करते हुए निर्बाध ढंग से 'डुबो देना' क्रिया में अन्वित होते हैं । रूपक स्थल में 'उपमान' की प्रधानता होती है, और उपमेय उसी उपमान का आवरण पहन लेता है । जब यहाँ किसी प्रकार का बाध या असगति ही नहीं, तो फिर क्या कारण है, कि लक्षणा वृत्ति की उपासना की जाय ? 'नागरी पनघट पर घट डुबो रही है—इस वाक्य में मिश्रजी को ही असगति प्रतीत हो सकती है, क्योंकि उन्होंने तो इसे 'लक्षणा' की आखों से देखा है । बहुत यत्न किया जाय तो इस सपूर्ण वाक्य के अवयवों में लक्षणा मानी जा सकती है । इस वाक्य में जितने अवयव भूत रूपक हैं, वहाँ सारोपा लक्षणा अवश्य है । यहाँ का 'नागरी' से वाछित अभेद सम्सर्ग असगत है, अतः उसकी सगति के लिए उपमान वाचक 'नागरी' प्रभृति शब्द 'सदृश' अर्थ में लाक्षणिक हो जाते हैं, और तब 'नागरी सदृश' इस लक्ष्यार्थ से 'ऊषा' का अभेद बन जा सकता है । यद्यपि अप्पय दीक्षित ने तो ऐसे स्थलों में भी लक्षणा नहीं माना है । उनका तर्क है कि शब्दों की यह सामर्थ्य है कि वे अत्यत असत् अर्थों का भी बोध करा ही देते हैं ।[१] शब्द प्रमाण से ज्ञात होनेवाले अर्थों में बाध होता ही नहीं । अतः यदि इनके मत को स्वीकार किया जाय, तब तो वाक्य के अवयवों में भी लक्षणा की गुजाइश नहीं है वाक्य तो दूर रहे । अस्तु ।

१—'अत्यतासत्यपि ह्यर्थे शब्दः ज्ञान करोति हि' ।
रस गं० द्वि० आ० पृ० १६२ ।

सम्प्रति, देखना यह है कि यहाँ एक आरोप दूसरे आरोप की सिद्धि में किस प्रकार साधन बनता है? आलोच्य पद के प्रत्येक रूपक में जो उपमान एवं उपमेय है, वे कवि परपरा से गृहीत नहीं हैं, अतः यहाँ आरोप के लिए अपेक्षित सादृश्य जिन समान धर्मों की अपेक्षा करते हैं, उन्हें कवि को स्वय कहना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, 'उषा' पर 'नागरी' का जो आरोप है, उसमें अपेक्षित 'सादृश्य' का साधक समानधर्म 'अंबर' पर 'पनघट' के आरोप से ही प्राप्त होता है। आरोप के माध्यम से जब हम अवर एव पनघट' को अभिन्न मान लेते हैं जब दोनों एक हो जाते है, अर्थात् इस प्रकार उषा एव नागरी दोनों के आधार एक हो जाते हैं और आधार के एक हो जाने पर 'पनघटाभिन्नांवर-वृत्तिता' एक ऐसा धर्म हुआ, जो उषा में भी हैं और नागरी में भी। अतः यही साधारण धर्म हुआ। इसी कारण दोनो में सादृश्य सिद्ध हो जाता है और सादृश्य के सिद्ध हो जाने पर मूल आरोप स्वतः सिद्ध हो जाता है। यही क्रम तीनों या जितने भी आरोप परम्परित रूपक में हो, सब में माना जाता है। आलकारिकों के मत से अप्पय दीक्षित के उक्त मत के विरोध में जो लक्षणा होती है, वह प्रयोजनवती गौणी सारोप लक्षणा है। पर मिश्र जी ने यहाँ 'लक्षणलक्षणा' की चर्चा की है, जो न तो वाक्यार्थ की हो सकती है और न पदार्थ की ही।

एक अन्य बात और भी है कि मिश्र जी का कथन तब सुसगत होता, जब पहले प्रात काल की व्यजना सामग्री का ही कथन होता और बाद में 'बीती विभावरी' का। पर यहाँ सारी बात उलटी है। यहाँ तो पहले यही बताया गया है—'बीती विभावरी'। इससे स्पष्ट है। इससे स्पष्ट है कि यही विभावरी का बीतना कहकर प्रात काल का ही वर्णन प्रकात है। इसी प्रकात विषय का आगे आलंकारिक भाषा में वर्णन किया गया है।

यहाँ तक लक्षणामूल अगूढ़ गुणीभूत व्यंग्य के उदाहरण का विवेचन हुआ। अब अभिधा मूल 'अगूढ़' की चर्चा सोदाहरण की जायगी। यह प्रभेद वहाँ होता है जहाँ निर्बाध एव संगत वाच्यार्थ के सुनते-सुनते ही प्रतीयमान की झलक मिल जाती हो। यह झलक इतनी स्फुट हो कि साधारण जन भी उसे सलक्ष लें —

करो किसी की दृष्टि को शीतल सदय कपूर।
इन आँखों में आप ही नीर भरा भरपूर॥

— साकेत नवम सर्ग

यहाँ वियोगिनी उर्मिला वक्ता है, जो वियोग की स्थिति में कपूर से निवेदन कर रही है कि वह किसी अन्य की आँखों को शीतल करे, उसकी स्वयं अपनी आँखें तो सदैव जलमय रहने के कारण शीतलता अनायास पाती ही रहती हैं। कपूर का उपयोग उसके लिये कुछ भी नहीं है।

यहाँ पर 'किसी की' कहने से यदि वक्ता का अभिप्राय 'जिस किसी से होता तो, तब तो उस परिधि में उर्मिला स्वय आ सकती है। कहा जा सकता है कि निचली पक्ति (इन आँखों) से उर्मिला 'किसी की' परिधि से स्पष्ट बाहर है, तो इसमें हमारा कोई विरोध नहीं है। हमें कहना इतना ही है कि यदि उर्मिला से भिन्न लोग भी सामान्यत. 'किसी की' परिधि में हों, तो यह अर्थ वाच्यार्थ कोटि तक ही रह सकता है। निर्बाध ढंग से वाच्यार्थ की प्रतीति हो जाने के अनंतर जब प्रकरण एवं वक्ता की विशेपता पर ध्यान दिया जाता है, तो ऐसा लगता है कि वक्ता का कोई विशेष एवं नियत व्यक्ति अभिप्रेत है, जो 'किसी' द्वारा संकेतित है। यह विशेप या नियत व्यक्ति (अथवा व्यक्ति की आँखें) निश्चय ही वियोग व्यथा से अपरिचित जन है। जो उपालंभ का पात्र है, अत' यहाँ किसी की अर्थात् वियोग व्यथा से अपरिचित जन की आँखों को शीतल करो—यही अर्थ अभिप्रेत जान पडता है विचार करने से यह और स्पष्ट होता है। जहाँ व्यक्ति सामान्य-परक[1] कोई बात कहता है, वहाँ उसके तह में कोई न कोई व्यक्ति विशेप अवश्य बैठा रहता है। इस न्याय से यहाँ के सामान्य कथन द्वारा निश्चय है कि यह व्यक्ति 'लक्ष्मण' है। इस प्रतीयमान को उसके सामान्याभिधायी सर्वनाम से वाच्य कल्प बना दिया गया है, यही कारण है कि यहाँ का व्यग्य अगूढ़ हो गया है। यदि यहाँ 'किसी की' शब्द का प्रयोग न होता और विशेप जन की प्रतीति कराने वाले कोई समर्थ शब्द होते तो निश्चय ही यहाँ ध्वनि की स्थिति होती।

संस्कृत साहित्य के लक्षण ग्रथों में शब्द शक्ति मूल अगूढ़ गुणीभूत व्यग्य का उदाहरण प्रायः नहीं मिलता। हिंदी की आधुनिक कविता में भी इस प्रकार के शाब्दिक चमत्कार दिखाने की प्रवृत्ति नूतन कवियों में नहीं है। ये कवि तो अर्थ की लक्षणा एव व्यजना शक्तियों से खेलने वाले हैं। हाँ, यदि कहीं कोई ऐसा पद मिल जाय कि एक ही पद की अभिधा प्राकरणिक तथा अप्रा-

---

१—निर्विशेप न सामान्यं भवेच्छश विपाणवत्।

करणिक दोनों अर्थों के उपयोग में आने योग्य हो, तो वहाँ शब्दशक्तिमूल गुणीभूत व्यंग्य का व्यवहार हो सकता है—उदाहरणार्थ—

विकल जीवन व्यर्थ वहा वहा।
सरस दो पद भी न हुए अहा।'

—साकेत

यहाँ स्पष्ट ही 'जीवन' शब्द का प्राकरणिक अर्थ 'जिंदगी' है पर दूसरा अप्राकरणिक अर्थ 'जल' भी है, जो 'वहा वहा'—इस क्रिया के साहचर्य से शीघ्र ही झलक जाता है। अत. किसी प्रकार यह उदाहरण संगत हो सकता है।

(२) अपरांग व्यंग्य—यह प्रभेद उस स्थल में सभव है, जहाँ व्यग्यार्थ 'अपर' का अग हो। यहाँ 'अपर' शब्द से प्रधानत· प्रतीत प्रतीयमान के तीनों भेद—वस्तु, अलकार तथा रस—एवं वाच्यार्थ भी लिए जाते हैं। इस प्रकार 'अपर' शब्द के जितने अर्थ किए गए हैं, उन सब का जो व्यंग्यार्थ अग होता है, उसे अपराग गुणीभूतव्यग्य कहते हैं। 'अपर' का 'अग' बनने से तात्पर्य है 'अपर' का उपकारक बनने से। स्वत·सिद्ध 'अपर' को अगभूत 'व्यंग्य' यहाँ अलकृत करता है। वस्तुत. 'अंगभाव' दो प्रकार के अर्थ हो सकते हैं—उपकारक एव उपपादक। प्रथम प्रकार की अगता यहाँ होती है, और द्वितीय प्रकार की 'वाच्यासिद्ध्यग व्यग्य' में।

अपराग गुणीभूतव्यग्य के उदाहरण रूप में 'साकेत' काव्य का मगलाचरण लीजिए—

'जयति कुमार अभियोग गिरा गौरी प्रति,
सगण गिरीश जिसे सुन मुस्कराते हैं।
देखो अम्ब! ये हेरम्ब मानस के तीर पर
तुदिल शरीर एक ऊधम मचाते हैं।
गोद भरे मोदक धरे है सविनोद उन्हे,
सूँड़ से उठाके मुझे देने को दिखाते हैं।
देते नहीं, कन्दुक सा ऊपर उछालते हैं
ऊपर ही फेंककर झेलकर खाते हैं।'

मुख्यरूप से यहाँ कवि की देव विषयिणी रति ही व्यग्य है, अतः यही 'भाव' मुख्यत 'अपर' है, यही मुख्यत. उपकार्य है। इसकी अभिव्यक्ति

वात्सल्य वर्णन से की गई है। वस्तुतः गौरी एवं सगण गिरीश 'वात्सल्य' भाव के आश्रय हैं और गणेश तथा कार्तिकेय आलंबन। गणेश की क्रिया तथा कार्तिकेय की अभियोग गिरा उद्दीपन हैं। यथा स्वयं सगणगिरीश का मुस्कराना 'अनुभाव'। इस प्रकार अपने विभिन्न व्यंजक (विभाव एवं अनुभाव) उपकरणों से व्यग्य होता हुआ 'वात्सल्य' भाव मूल 'भाव' का उपकारक है। यहाँ एक 'भाव' का दूसरा 'भाव' अंग है, अत' 'अपरांगगुणी भूतव्यंग्य' हुआ।

श्री वृजकिशोर चतुर्वेदी जी ने अपनी पुस्तक में उक्त पद्यगत कई दोषों का उद्घाटन किया है। इस पद्य की 'शय्या' की गर्हा तो उन्होंने की ही है, इसके अतिरिक्त भी अन्य दोष दिखाए हैं।

उनका प्रथम आक्षेप यह है कि 'जयति कुमार अभियोग गिरा गौरी प्रति' से जो अर्थ कवि को विविक्षित है, वह शब्दों के सहज प्रवाह से नहीं निकलता। कवि का विवक्षत अर्थ यहाँ यह है—'गौरी के समक्ष 'गणेश के ऊधम का निवेदन करने वाले कुमार वाणी की जय हो। किंतु जहाँ तक प्रयुक्त पदों की बात है, उसके सहज प्रवाह में 'गौरी-पति'' का अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है—'गौरी के विषय में की गई कुमार की अभियोग—गिरा उत्कर्षशालिनी हो'। स्पष्ट ही यहाँ 'गौरी के प्रति' का अर्थ 'गौरी के विषय में' जितना सहज रूप से निकलता है, उतना सहज रूप से 'गौरी के समक्ष' वाला अर्थ निकलता नहीं प्रतीत होता। काव्य दोषों की दृष्टि से विचार किया जाय, तो यहाँ 'विरुद्ध मतिकृत्त्व' दोष है। यह दोष सामासिक पदों में ही होता हैं। यह दोष वहाँ होता है, जहाँ विवक्षित अर्थ से विपरीत अर्थ ही समास गत विभिन्न शब्दों से अनायास निकल आवे, यहाँ ऐसी ही स्थिति होती है। उचित था, कि यहाँ 'गौरी-पति' की जगह 'गौरी-समक्ष' ही कहा गया होता।

एक उल्लेखनीय बात 'ऊधम' के सबध में भी है और वह यह है कि वस्तुतः गणेश जी कुमार को चिढ़ा रहे है, कुछ 'ऊधम' नहीं मचा रहे हैं। यद्यपि 'ऊधम' भी एक प्रकार का चिढ़ाना ही है, पर सर्वत्र ये दोनों शब्द पर्याय की तरह प्रयुक्त नहीं हो सकते। 'चिढाने' के तो बहुत से प्रकार हो सकते हैं, चुपचाप रहना भी कभी चिढ़ाने का प्रकार हो सकता है, पर ऊधम के लिये यह स्थिति नहीं है। वस्तुत' तो 'ऊधम' शब्द का प्रयोग वहाँ क्रिया

जाता है, जहाँ कोई व्यक्ति शांतिपूर्वक बैठकर अपना कार्य कर रहा हो, और अन्य बालक अपनी चपलतावश खलल पैदा कर रहे हों। खलल डालने वाला बालक एक भी हो सकता है और अनेक भी। चतुर्वेदी जी का यह आग्रह बहुत रुचिकर नहीं जान पड़ता कि 'ऊधम' में समष्टि का योग होना ही चाहिए।

(३) वाच्यसिद्ध्यग व्यंग्य :—ऊपर बताया गया है कि अगभाव दो प्रकार का होता है उपपादक और उपकारक। वाच्यसिद्धि का जो व्यग्य अग होता है, वह उपपादक ही होता है, उपकारक नहीं। उपपादक एव उपकारक में अतर यह है कि प्रथम असिद्ध का साधक होता है और दूसरा सिद्ध का शोभाधायक। दूसरी बात इस प्रभेद में ज्ञातव्य यह भी है कि यहाँ का व्यंग्य, जिसका अंग (साधक) होता है, वह वाच्यार्थ मात्र है। व्यग्यार्थ इसी अपने आप में असिद्ध वाच्य की सिद्धि करता है। एक उदाहरण लीजिये—

'वह है भुवनापराजिता, निज मानस मग्न मीन में।
पर प्राप्त मुझे महदद्भुता, सुख था भरपूर तात को।

—साकेत १० वाँ सर्ग

उक्त पद्य के प्रथमार्द्ध का द्वितीय चरण ही वाच्यसिद्ध्यंग व्यग्य का उदाहरण है। यहाँ उर्मिला वक्ता है। अत में अर्थात् उर्मिला पर ही 'मीन' का आरोप हुआ। यह आरोप उपमेय पर उपमान का है, अतः यह गौणीसारोपालक्षणा का स्थल है और इस लक्षणा का उपयोग तो 'रूपक' में होता ही है, अतः यहाँ रूपक अलकार हुआ। यहाँ 'रूपक' अलकार वाच्य है। प्रस्तुत उपमान और उपमेय कवि परंपरा में गृहीत नहीं है, अतः यह 'रूपक' का भेद परपरित रूपक है। यद्यपि 'मीन' की उपमानता प्रसिद्ध है, पर यह प्रसिद्धि परपरा में 'आँखों' के साथ है, न कि किसी व्यक्ति के साथ। साराश यह कि इसे परपरित रूपक होने में कोई सदेह नहीं है।

पूर्व चर्चित (बीती विभावरी) परपरित रूपक की भाँति यहाँ भी आरोप के असिद्ध होने से वाच्य 'रूपक' भी असिद्ध ही है। असिद्धि का कारण यह है कि रूपक में उपमेय पर उपमान का आरोप होता है, परंतु यह आरोप तब सिद्ध माना जाता है, जब विषय (उपमेय) एव विषयी (उपमान) में सादृश्य हो और सादृश्य तब सभव है, जब दोनों में कुछ साधारण धर्म हो। पहले बताया जा चुका है कि यह समान धर्म दो तरह से प्राप्त किया जाता है। पहला यह कि दोनों उपमान एव उपमेय के परपरा गृहीत होने से इनके

समान धर्म अति प्रसिद्ध हों, चाहे उनका पथ में ग्रहण किया गया हो या न किया गया हो। दूसरे यह कि यदि वह समान धर्म परंपरासिद्ध नहीं है तो सर्वथा कवि निर्मित होने के कारण नवीन ही होगा। यहाँ के आरोप में तो प्रथम पक्ष समव नहीं है, अतः दूसरा पक्ष ही संभव हो सकता है। यही कारण है कि सर्वथा नवीन समान धर्म की निष्पत्ति के लिये कवि ने यहाँ अन्य आरोप का विधान किया है यह अन्य आरोप है मानसमग्नता। यही आरोप समान धर्म के निर्माण में उपाय है। यहाँ मानस (मनोजगत्) पर मानस (मानसरोवर) का आरोप है। यहाँ विषय तथा विषयी दोनों एक ही श्लिष्ट पद 'मानस' से उपस्थित हो जाते है। एक पद से दोनों अर्थों की प्राप्ति होने के कारण दोनों अर्थों में श्लेपमूलक अभेद निश्चय हो जाता है। दोनों अर्थों की अभिन्नता संपन्न हो जाने पर 'मानसमग्नता, एक धर्म हो जाता है और इस प्रकार यह 'मानसमग्नता' ऊर्मिला तथा मीन दोनों का साधारण धर्म बन जाता है। इसी साधारण धर्म से सादृश्य की सिद्धि होगी और सादृश्य से आरोप की। इस प्रकार जब आरोप सिद्ध हो जायगा, तो वाच्य रूपक की भी चतुरस्र प्रतिष्ठा हो जायगी अर्थात् उसकी पूर्ण सिद्धि हो जायगी।

इस प्रक्रिया में फिर भी एक प्रश्न शेप ही रह जाता है। यहाँ प्रधान आरोप की सिद्धि में दूसरा आरोप कारण बताया गया है, पर दूसरा आरोप अपने लिये उपमान एव उपमेय स्वरूप दो अर्थों की पृथक पृथक उपस्थिति चाहता है। यद्यपि उपमान (मानसरोवर) एव उपमेय (मनोजगत्) दोनों अर्थों की उपस्थिति एक ही 'मानस' शब्द मे होती है, फिर भी श्लिष्ट पदों से अनेक अर्थ अभिधा से वहाँ मिलते हैं, जहाँ ये अनेक अर्थ प्राकरणिक अथवा अप्राकरणिक ही होते हैं। प्रस्तुत स्थल में ऐसी बात नहीं है। यहाँ 'मानस' पद से उपर्युक्त प्रकार के जो दो अर्थ मिलते हैं, उनमें से एक अप्राकरणिक तथा दूसरा प्राकरणिक है। अत. 'मानस' पद की अभिधा से पहले वही अर्थ उपस्थित होगा, जो प्राकरणिक हो और यहाँ प्राकरणिक अर्थ है 'मनोजगत्' अतः 'मानस' पद की अभिधा पहले इसी अर्थ का उपस्थापन करती है, पर इस एक ही अर्थ से प्रधान आरोप का साधक अंगभूत आरोप सिद्ध नहीं होगा, अतः दूसरी बार शब्द की व्यजना शक्ति से 'मानसरोवर' स्वरूप उपमान भूत अर्थ की भी प्रतीति होती है। 'मानस' शब्द की प्रसिद्धि दोनों अर्थों में समकोटि की है, अतः यहाँ 'निहतार्थत्व' दोप भी नहीं है, सारांश यह कि 'मानस' पद की अभिधा शक्ति से प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति

हो जाने पर भी, जब तक शाब्दी व्यंजना से उपमाभूत 'मानसरोवर' की प्रतीति नहीं होगी, तब तक साधक आरोप का स्वरूप नहीं बन पायेगा और साधक आरोप जब तक नहीं बनता, तब तक प्रधानतः वाक्य रूपक सिद्ध ही नहीं होगा। इस रीति से यह स्पष्ट है कि वाच्य रूपक की सिद्धि में अप्राकरणिक व्यंग्य अर्थ की अपेक्षा है। इस स्थिति में व्यंग्यार्थ, वाच्य की सिद्धि में अंग या उपपादक है, अतः उक्त उदाहरण निर्विवाद रूप से वाच्य सिद्ध्यंग गुणीभूत व्यंग्य का लक्ष्य हुआ।

पंडित रामदहिन मिश्र ने जो निम्नलिखित उदाहरण दिया है, वह युक्तियुक्त न होने के कारण ग्राह्य नहीं है। उन्होंने निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

'खेलन सिखिये अलि भले चतुर अहेरी मार।
कानन चारी नैन मृग नागर-नरनु शिकार॥'

यहाँ पर पंडित जी ने 'नैन-मृग' इस प्रधान आरोप की सिद्धि में 'कानन-चारी' को उक्त पद्धति से साधक आरोप माना है। पर वस्तुत यहाँ परंपरित रूपक ही नहीं है। यहाँ 'नैन' एवं 'मृग' का उपमानोपमेय भाव संबंध कवि परंपरागृहीत है। कवियों ने अनेक स्थलों पर स्वयं मृग को नेत्रों का उपमान बनाकर प्रयुक्त किये हैं। अत यह कहने का अवकाश नहीं है कि उपमानोपमेय भाव केवल मृगनेत्र का ही मानवी नेत्रों से है, मृग का नहीं। इन दोनों का उपमानोपमेयभाव जब कवि परंपरा से गृहीत है, तो उनकी सिद्धि में अपेक्षित साधारण धर्म 'चापल्य' आदि प्रसिद्धि वश ही आ जायेंगे, उनके लिए द्वितीय आरोप के विधान की आवश्यता नही हैं। फिर यहाँ रूपक का कौन सा प्रभेद होगा? यह प्रश्न सहज ही उठ सकता है। उत्तर में निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यहाँ 'सावयव' या 'सांग' रूपक है। सांग रूपक से परंपरित रूपक में यही अंतर होता है कि सांग रूपक के 'रूपक' प्रसिद्ध उपमान एवं उपमेय को लेकर व्यवहृत होते हैं, जब कि परंपरित में कवि कल्पित।

(४) अस्फुट व्यंग्य—व्यंग्यार्थ की चार प्रकार की सत्ता का साहित्य में उपयोग है। सर्वप्रथम हम व्यंग्यार्थ की सत्ता को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं— स्फुट एवं अस्फुट। अस्फुट जब आगे बढ़ता है तो अतिस्फुट हो जाता है और अस्फुट जब आगे बढ़ता है तो अति अस्फुट। आचार्य ने स्फुट

एवं अस्फुट की सीमा निर्धारित करते हुए कहा है कि (१) वह व्यंग्य जो केवल सहृदय मात्र को अनायास ही झलक सके, 'स्फुट' कहा जाता है (२) और जिसकी प्रतीति सहृदयों को सायास होती हो, वह 'अस्फुट'। 'स्फुट' व्यंग्य (३) अति स्फुट की सीमा पर तब पहुँचा हुआ कहा जाता है, जब उसे असहृदय लोग भी शीघ्र पकड़ लेने लगें। (४) और अस्फुट व्यंग्य अस्फुटतर तब होता है, जब उसमें कवि की सर्वथा विवक्षा न हो, और इसीलिये सहृदयों के कष्टकर प्रयत्न से भी गृहीत न हो पाता हो। किस प्रकार 'व्यंग्य' स्फुट से अति अस्फुट की सीमा पर पहुँच गुणीभूत हो जाता है, उसी प्रकार 'स्फुट' से 'अस्फुट' होकर भी। 'अस्फुटतर' व्यंग्य की सत्ता का संबंध ध्वनिवादियों ने 'चित्र-काव्य' से सिद्ध किया है।

व्यंग्यार्थ की उक्त चार प्रकार की सत्ताओं में उसकी अस्फुट सत्ता का ही संबध इस प्रसंग में ग्राह्य है। एक उदाहरण लीजिए—

अगर मैं मिलता हूँ डरकर मिला है, यह शत्रु मेरे कहेंगे, नहीं यह मर्दानगी।

× × × ×

यदि लूँ तलवार तो धार पर बहेगा खून, दोनों ओर अपना ही।

—'शिवाजी का पत्र' (निराला)

इस युक्ति से सबसे पहले शिवा जी की 'बेवशी या लाचारी' ही व्यक्त होती है, पर प्रकरण आदि की सहायता से विचार करने पर शिवा जी का यह अतिगूढ़ अभिप्राय व्यक्त होता है—'जयसिंह! तुम उसका साथ छोड़कर हम जैसे गौ एवं ब्राह्मण की रक्षा करने वाले हिंदुओं के साथ हो जाओ।' इस व्यंग्य की प्रतीति सहृदयों के लिये भी कष्टसाध्य है, अतः इसे हम निर्विवाद रूप से अस्फुट व्यग्य कह सकते हैं।

(५) काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य—शब्द का अर्थ जब काकु की सहायता से किसी अन्य अर्थ का आक्षेपक बन जाता है, तो वहाँ का व्यंग्य काक्वाक्षिप्त कहा जाता है। इस प्रकार के व्यंग्यार्थ की स्थिति उत्तम, मध्यम एवं अधम तीनों प्रकार के काव्यों में होती है। काकु से आक्षिप्त व्यंग्यार्थ को विशेष दशा में 'ध्वनि' तो कहते ही हैं, गुणीभूत व्यंग्य भी कहते हैं और चित्र काव्य या अधम काव्य का एक भेद है—वक्रोक्ति अलंकार। इस वक्रोक्ति अलकार के काकुवक्रोक्ति में भी काकु से आक्षिप्त अर्थ का उपयोग है। अतः

काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यग्य को स्पष्ट रूप से समझने के लिये इतर दोनों काव्य-प्रकारों से इसका वैधर्म्य या पार्थक्य स्पष्ट समझ लेना चाहिए। गुणीभूत व्यग्य एवं ध्वनि स्थल के काक्वाक्षिप्त व्यग्यार्थ से 'काकु वक्रोक्ति' के काक्वाक्षिप्त व्यग्यार्थ में सबसे प्रधान अंतर यह है कि प्रथम दोनों प्रकारों का काक्वाक्षिप्त व्यग्यार्थ ज्यों का त्यों मूल वक्ता को अभिप्रेत होता है, पर 'काकु वक्रोक्ति' में जो अर्थ काकु से अक्षिप्त होता है वह श्रोता या ग्राहक की अपनी योजना होती है, वह अर्थ वक्ता को अभिप्रेत नहीं होता। दूसरा अतर यह भी है कि प्रथम दो प्रकारों में वाक्य में वस्तुत काकु होता है और प्रसंगोपयोगी अर्थ में उसकी सहायता अत्यत अपेक्षित है, जब कि काकु वक्रोक्ति में प्रयोक्ता के मूल वाक्य में वस्तुत काकु की योजना रहती ही नहीं है; बल्कि वहाँ तो काकु योजना ग्राहक अपने मन से कर लेता है। तीसरा अंतर काकु वक्रोक्ति का उनसे यह भी है कि यह वक्ता एव श्रोता के बीच होती है, जब कि इतर दोनों अपनी-स्वरूप-निष्पत्ति में श्रोता के अभिप्रेत अर्थ की अपेक्षा नहीं करते। गुणीभूत व्यग्य एव ध्वनि का काकुवक्रोक्ति से स्पष्ट अतर जान लेने पर, अब यह देखना चाहिए कि स्वय गुणीभूत व्यंग्य एव ध्वनि में क्या अंतर है ? काकु से आक्षिप्त अर्थ जहाँ वाच्यार्थ को सगत बनाने में उपयोगी है, वहाँ तो वाच्य का साधक होने से गुणीभूत हो जाता है, पर जिस काक्वाक्षिप्त व्यग्यार्थ के बिना भी वाच्यार्थ सगत प्रतीत हो, वह ध्वनि का विषय हो सकता है।

इन तीनों काव्य प्रभेदों के स्थलों का सोदाहरण स्थापना करने से पूर्व हम थोड़ा 'काकु' शब्द के अर्थ पर भी विचार कर लें। प्राय. हम बोलने में बहुधा स्वरों का सहज ढग से उच्चारण करते हैं, पर कभी कभी उसे विशेष अभिप्राय से विकृत करके भी उच्चरित करते हैं। यही विकृत स्वर या स्वर की विकृति काकु है। स्वर की इस विकृति से भी हम अपने कुछ हार्दिक भावों को व्यक्त करना चाहते हैं। यही अर्थ काक्वाक्षिप्त अर्थ कहा जाता है उदाहरणार्थ एक वाक्य है—'नहीं हैं'। यदि इसी वाक्य का उच्चारण सहज ढंग से एक ही झोंक में कर दें, तो स्पष्ट ही यह वाक्य किसी व्यक्ति की सत्ता का निषेध अभिहित करेगा उसी वाक्य के उच्चारण को प्रश्नात्मक ढग से विकृत कर दें तो उस व्यक्ति की सत्ता की जिज्ञासा व्यक्त होगी। उसी वाक्य को 'नहीं हैं' अर्थात् 'नहीं' के अंतिम स्वर पर थोड़ा ठहर जायँ और तब 'हैं' का उच्चारण करें, तो व्यक्ति के संबध में जो कुछ ज्ञात होगा, वह यह कि 'वह अवश्य हैं।' इस प्रकार स्वर के विकृत कर देने पर एक ही वाक्य से तरह तरह के अर्थ

व्यक्त हो सकते हैं। साराश यह कि एक ही वाक्य से नाना प्रकार की अर्थ-प्राप्ति में उपयोगिनी उच्चारण की विकृति ही 'काकु' है।

अब पूर्व-प्रतिज्ञा के अनुसार काव्य के तीनों प्रकारों में काकु की क्रिया की सोदाहरण व्याख्या अवसर प्राप्त है, अतः उसे देखना उचित है। काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण—

रसिक वाचक कामनाओं के चपल,
समुत्सुक व्याकुल पगों से प्रेम की।
कृपण वीथी में विचर कर कुशल से,
कौन लौटा है हृदय को साथ ले।
—'ग्रंथि' से

इस पद के चौथे चरण में वाछित अर्थ की प्राप्ति करने के लिये 'कौन' शब्द के उच्चारण में शब्द को विकृत करके उच्चारित करना पड़ता है, पर यहाँ स्वर को विकृत करना ही पड़ता है और विकृत करने पर भी वाच्यार्थ से कोई अतिरिक्त अर्थ नहीं मिलता। वाच्यार्थ भी 'प्रश्नपरक' है, जो 'क्या' से स्पष्ट है और काकु की सहायता से भी वही अर्थ आता है, अतः काक्वाक्षिप्तगुणभूत-व्यंग्य का यह उदाहरण हो ही नहीं सकता। वस्तुत' काकु से निकलने वाला अर्थ वह है, जिसका वाचक शब्द वाक्य में नहीं। वाचक शब्द के प्रयोग से तो वह अर्थ अभिधेय ही हो जाता है, व्यग्य नहीं। प्रस्तुत उदाहरण ऐसा ही है। यहाँ जो प्रश्न काकु की सहायता से प्रतीत होता है, वह 'क्या' शब्द का ही अर्थ है, जो इस काकु से थोड़ा और स्फुट हो जाता है।

इन गढ़ों में—रूप के आवर्त से—
घूम फिर कर, नाव से किसके नयन
हैं नहीं डूबे, भटककर, अटक कर,
भार से दबकर तरुण सौंदर्य के
—'ग्रंथि' से

यहाँ भी 'प्रश्न' का वाचक 'किसके' शब्द का मूल वाक्य में ही उपादान है, अत. यह उदाहरण भी ठीक नहीं है। काक्वाक्षिप्त का उचित ज्ञान करने के लिए इन प्रत्युदाहरणों की चर्चा की गई है। वस्तुतः काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य का निम्नलिखित उदाहरण है—

'प्रेम अर्चना यही, करें हम मरण को वरण ?
स्थापित कर कंकाल भरें जीवन का प्रागण
शव को दें हम रूप, रग आदर मानव का
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का ।'

—'ताज' (पंत का आ० क०)

इस पद्य की प्रत्येक पक्ति का काकु-निरपेक्ष अर्थात् अविकृत ढंग से उच्चारण किया जाय, तो निम्नलिखित वाच्यार्थ शब्द की अभिधा शक्ति से आ सकेगा। 'हम मरण (मृतक) का वरण करें यही प्रेम की अर्चना है। मृतक की प्रणयोपासना में हम इतने विभोर हो जायँ, उसकी समर्चा में हम इतने भौतिक वैभवों को बिखेर दें, उसे अरुणाभ बनाने में हम ससार को इतना चूस डालें, कि वह ककालों की ढेर से भर जाय। हम इस प्रकार की अंधोपासना से 'शव' के लिए तो संपूर्ण मानवीय आदर, रूप एव रंगों की राशि चढ़ावें और इस चरम-निष्ठा से उस ओर झुक जायँ कि स्वय मानव, शव का कुत्सित प्रतिरूप बन जाय।' एक ओर इस भाव को रखें और दूसरी ओर मरण के इस अपार्थिव पूजन से अत्यधिक संक्षुब्ध वक्ता की मन·स्थिति पर दृष्टिपात करें, तो स्पष्ट ही उक्त वाच्यार्थ की असंगति झलक जायगी। संक्षुब्ध व्यक्ति उन क्रियाओं में 'अनौचित्य' की चरम झलक दिखाना चाहता है, जो 'काकु' की सहायता से व्यक्त हो सकता है। काकु की सहायता से उक्त सभी पक्तियों के अर्थ प्रश्नात्मक हो जायँगे और शवोपासक के क्रूरतापूर्ण अनौचित्य को व्यक्त कर सकेंगे और वक्ता की मन स्थिति से परिचित व्यक्ति को यह अर्थ तत्काल भासित हो जायगा, अत स्फुटतर होने के कारण उतना चमत्कारी न होगा और इसलिए भी वह काक्वाक्षिप्त व्यग्य गुणीभूत व्यग्य की ही कोटि का होगा, वाक्यार्थ को सगत बनाने के कारण तो वह गुणीभूत है ही।

यह प्रकार वाच्यासिद्ध्यंग व्यंग्य से भी कुछ मिलता जुलता है। जिस प्रकार व्यंग्यार्थ यहाँ असगत वाच्यार्थ को सगत बनाने में उपयोगी है, वही स्थिति वाच्यासिद्ध्यंग व्यग्य की भी है। फिर भी दोनों की व्यजक सामग्री में अतर है। यहाँ 'काकु' शब्दार्थ की 'व्यंजना शक्ति का उत्थापक है, जब कि वाच्यासिद्ध्यगव्यग्य में नहीं।

काकुवक्रोक्ति का उदाहरण :—मान लीजिए किसी नव-वधू का नायक परदेश-गमन कर रहा हो, इस अवसर लज्जावश स्वयं तो नहीं, पर अपनी

किसी सहेली से उसने पुछवाया हो कि 'वे कब आयँगे ? मधुमास के उद्दीपक काल तक क्या लौटने की कृपा करेंगे ? और इस प्रश्न का उत्तर नायिका की सहेली को वस्तुत: न लौटने के ही अभिप्राय से नायक दे 'मैं उस समय तक नहीं आ सकता' और सन्निहित वधू भी इस वाक्य को सुन गई हो, फिर भी आशा-भरे शब्दों में सहेली 'पूछ ही बैठे—'कहो, क्या उत्तर दिया ? सुना, वे कह रहे थे 'उस समय तक नहीं आ सकता' क्या बात है ? 'सहेली नायिका को संतोष देने के लिए उक्त वाक्य में काकु की योजना करती है और समझाती है कि वस्तुत: उन्होंने कहा यह 'मैं इस समय तक नहीं आ सकता ? अर्थात् उस समय तक तो अवश्य ही आ जाऊँगा, संभव है पहले भी आ जाऊँ।' उक्त वाक्य का स्वर-विकार से ही दो अर्थ निकाला गया, पर द्वितीय अर्थ जो चतुर मध्यस्थ का भाप्य है, वह न तो वक्ता को अभिप्रेत ही है और न प्रकरण में असंगति का निवारक ही। गुणीभूत व्यंग्य में स्पष्ट ही यह स्थिति नहीं है।

(काक्वाक्षिप्त) ध्वनि का उदाहरण :—

'किती न गोकुल की वधू काहिन किहि सिखि दीन।
कौने तजी न कुल गली, ह्वै मुरली सुर लीन॥'

वि० स०

मुरली की मादक तान सुनकर कोई गोपिका उत्कंठा की चरम काष्ठा पर पहुँच चुकी है और लोक वेद की श्रृंखला को न मान कर भगवान से अभिसरण करने के लिए उद्यत है। इस स्थिति में कोई अन्य स्त्री उसकी इस लोक-गर्हित प्रवृत्ति पर आक्षेप करती है, समाज एवं शास्त्र की विविध व्यवस्थाओं को सामने रखती है, उसे तरह तरह से समझाती है, पर वह सारी शिक्षा हस्ति-स्नान से अधिक महत्व नहीं रखती। बार बार मनोविरोधी उपदेशों को सुनकर वह गोपी उलटे इतनी क्रुद्ध हो जाती है, कि वह उसकी उपेक्षा कर जाती है और सारे समाज की ही अपनी सी स्थिति बताकर अपनी प्रवृत्ति को भी मानवीय स्वभाव का दास बताती है—और अपना समर्थन करती है।

यहाँ प्रत्येक चरणों में तो काकु है ही, उनसे पृथक् समस्त पद्य-व्यापी काकु भी है। प्रथम काकु वाच्यार्थ के सगत बनाने में उपयोगी है, पर समस्त पद्य में रहने वाला 'काकु' वाच्यार्थ की संगति बैठ जाने के अनंतर एक और

अतिरिक्त अर्थ लाता है। यह अर्थ स्वतन्त्र एव चमत्कारकारी होने से ध्वनि का विषय बन जाता है।

प्रस्तुत पद्य के प्रत्येक पाद से जो भिन्न भिन्न व्यग्यार्थ निकलते हैं, उनका विवरण यों है (१) किती न गोकुल कुल वधू—अर्थात् गोकुल में प्राय. सभी कुलवधू ही तो हैं। (२) काहि न किहि सिख दीनः—सभी को सब ऐसी शिक्षाएँ देती रहती है (३) कौने तजी न कुल गली.—सभी ने कुल-मर्यादा छोड़ दी है। ये काक्वाक्षिप्त अर्थ ही प्रकरण के अनुसार वाक्यार्थ को सगत बना सकते हैं। विशेष ध्यान देने पर समस्त वाक्य व्यापी काकु से यह अर्थ निकलता है 'तुम मुझे अब ऊपदेश दे रही हो? क्या कभी मुरली मनोहर की मुरली की मनोहर ध्वनि सुनकर और मेरी जैसी दशा को प्राप्त होकर परोपदेश की शृ खला में अपने को बाँध सकी हो? क्या नंदकिशोर के पास जाने से अपने को रोक सकी हो? कदाचित् कभी नहीं। फिर इतना भुक्त भोगी होकर मुझे क्यों व्यर्थ उपदेश दे रही हो? ठीक कहा है, उपदेश दूसरों के लिए ही होते हैं—'वाच्यार्थ की सगति लग जाने के अनतर विशेष ध्यान देने से जो यह व्यग्यार्थ प्रतीत होता है, वह ध्वनि कहा जाता है।

इस प्रकार काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यग्य, ध्वनि एव काकु वक्रोक्ति के परस्पर अतर का निरूपण सागोपांग हो चुका।

(६) सदिग्ध प्राधान्यः—'आलोक' कार ने कहा है कि साहित्य में वही अर्थ प्रधान कहा जाता है, जो अपेक्षाकृत सबसे चारु हो। चारु वही होता है, जो सहृदय समाज को अधिक चमत्कृत करे। चमत्कारक रस, अलकार एव वस्तु इन इन तीनों में से कोई हो सकता है। जिस स्थल में व्यंजक एव व्यंग्य दोनों से एक ही तरह की चारुता निष्पन्न होती हो, तो यह कहना कठिन हो जाता है कि कवि की प्रतिभा का संरम्भ किस अर्थ पर है? और सरभ का निर्णय होने से प्रधान्य का निर्णय होता है। ऐसे स्थलों में इस सरभ का निर्णायक कोई प्रमाण या तर्क न हो और दोनों अर्थों का प्राधान्य का एक साथ कभी सभव न हो, तो ऐसे स्थल में यह संदेह सदा के लिए रह ही जाता है, कि किस अर्थ को प्रधानता दी जाय? व्यजक को या 'व्यंग्य को? अत. यहाँ का प्राधान्य संदिग्ध ही रह जाता है।

इंदु पर उस इंदु मुख पर साथ ही,
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से—
लाज से रक्तिम हुए थे, पूर्व को पूर्व था
पर वह द्वितीय अपूर्व था।

—ग्रंथि

प्रस्तुत पद में तरुण लेखक की स्मर्यमाण रति का वर्णन है। इसमें उसकी उस वासना से रगी हुई दृष्टि का वर्णन है, जो उसकी अपनी हृदय-रजना अनुरक्त प्रेयसी के मुख पर पड़ी हुई है। मुख ऐसा, जो लज्जा-प्रसूत अरुणिमा से नितात छबीला हो रहा है।

इस रागपूर्ण प्रेक्षण से यह व्यग्य होता है कि नायक प्रेयसी के मुख का चुंबन चाहता है, अन्यथा मुख का इतना उद्दीपक चित्र क्यों खींचता है? इस प्रकार 'रागपूर्ण-प्रेक्षण' एक अनुभाव है, जिससे 'चुंबन की इच्छा' व्यग्य होती है। इस प्रकार यहाँ अनुभाव वाच्य है और इच्छा व्यग्य।

यहाँ वाच्य अनुभाव दो प्रकार से शृंगार के स्थायी की चर्वणा कराने में समर्थ है—साक्षात् भी, परम्परया भी। परम्परया'—कहने का तात्पर्य यह है कि वाच्य अनुभाव 'चुम्बनेच्छा' को व्यक्त कर उत्सुकता का अतिरेक द्योतन करता है, जो स्थायी रति की चर्वणा में पर्यवसन्न है। वही वाच्य अनुभाव साक्षात् भी रति का अनुभाव होने के कारण रति स्थायी की चर्वणा करा सकता है। यदि साक्षात् वाच्यार्थ को स्थायी का प्रकाशक कहें, तब तो साक्षात् चमत्कार प्रयोजक होने से (चमत्कार प्रयोजकत्व स्वरूप) प्राधान्य वाच्यार्थ को ही प्राप्त है और यदि परम्परया अर्थात् 'चुम्बनेच्छा' रूप व्यग्यार्थ द्वारा उसे स्थायी का प्रकाशक मानेंगे, तो व्यग्यार्थ को ही (चमत्कार प्रयोजकत्व रूप) प्राधान्य मिल जायगा। अब यह निर्णय किस प्रकार हो सके? कि कवि को साक्षात् स्थायी की चर्वणा करानी वाछित है, या परम्परया? यही निर्णय न हो सकने के कारण (चमत्कार प्रयोजकत्व स्वरूप) प्राधान्य अनिर्णीत या सदिग्ध रह जाता है।

(७) तुल्य प्राधान्य— यहाँ भी वाच्यार्थ एव व्यंग्यार्थ दोनों समरूप से प्रतिपाद्य की सिद्धि में तत्पर होते हैं, पर सदिग्ध प्राधान्य वाले स्थल की भाँति यहाँ की स्थिति नहीं है। सदिग्ध प्राधान्य में वाच्य एव व्यग्य दोनों की चमत्कार-प्रयोजकता विवक्षित नही होती, क्योंकि दोनों में से प्रत्येक जब

समान कोटि का ही चमत्कार उत्पन्न करते हैं, तो निश्चित है, कि उनमें से कोई एक ही पथ कवि को विवक्षित है, पर यहाँ वाच्य एवं व्यंग्य भिन्न भिन्न ढग से प्रतिपाद्य की दोहरी पुष्टि करते हैं और प्रकरण की दृष्टि से दोनों पथ विवक्षित जान पड़ते हैं। दोनों अर्थों में कवि की विवक्षा होने से दोनों का सम-प्राधान्य होता है।

गूँज रहे मेरे कानों में
वन जागृति के अभिनव स्वर
दौड़ गई मेरे प्राणों पर
श्रम सत्ता की नई लहर
मैं कहता हूँ वर्ग चेतना
युग की प्रबल चुनौती है,
युग - युग के विकास की
विश्वासों की रुकी मनौती है।'

—अंचल

प्रगतिवादी कवि 'शोषक वर्ग' को लक्ष्य कर उसे सावधान हो जाने के लिए, अपनी शोषक प्रवृत्ति को मिटा देने के लिए यह सदेश देता है, कि 'वर्ग-चेतना' उन्हें अब चुनौती देती है। प्रस्तुत वाक्य का प्रतिपाद्य यही है 'शोषक अब अपनी शोषण-प्रवृत्ति का परित्याग कर दे' इस प्रतिपाद्य का प्रतिपादक वाच्यार्थ भी है। यहाँ वाच्यार्थ से केवल यह कहा जा रहा है कि अब शोषक की नहीं चल सकती, उसका कल्याण इसी में है कि शांतिपूर्ण ढग से अपनी अन्याय-प्रवण प्रवृत्ति छोड़ दे। यहाँ 'साम' रूप उपाय से प्रतिपाद्य की सिद्धि की गई है। इस वर्ग चेतना की चुनौती' से यह व्यग्य भी हो सकता है कि यदि शोषक अपनी प्रवृत्ति से नहीं हटा तो श्रमिक-वर्ग न्याय के लिए उनका दमन भी कर सकता है। इस प्रकार 'दड' नीति व्यग्य है। यहाँ 'साम' एवं 'दाम' दोनों ही प्रतिपाद्य की सिद्धि के लिये उपयोगी होने से कवि को विवक्षित हो सकते हैं, अत' दोनों अर्थों-वाच्य एवं व्यंग्य का सम-प्राधान्य है।

(८) असुंदर व्यंग्य—असुदर व्यग्य वह कहा जाता है जो सुदर न हो। भारतीय सौंदर्य आतर है और अंतर की वस्तु आत्मा है—रस है। अत. सुदर वही है, जो रसमय हो अर्थात् जो रस की अपेक्षाकर उत्कट प्रतीति कराता हो। कहीं कहीं व्यग्यार्थ ऐसा भी मिल जाता है, जो वाच्यार्थ की

अपेक्षा कम सुंदर कम रसमय होता है। ऐसा ही व्यंग्य 'असुंदर' कहा जाता है।

'ऐसे परुष वचन सुन पति के क्षुब्ध हुई वह बाला।
भ्रू मिस से उसने स्मर का सा चाप भंग कर डाला॥

—गुप्तकृत 'शकुंतला'।

यह वर्णन गर्भिणी शकुंतला की उस स्थिति का है, जब वह अपने धर्म बंधुओं एवं आश्रम माता के बीच भरे दरबार एक कोने में साधारणजन सी खड़ी कर दी गई थी और कपटी दुष्यन्त से धुआँधार अप्रत्याशित निरादर पर निरादर पाती जा रही थी, क्रूर व्यवहार सहती जा रही थी। दुष्यन्त के इन सारे व्यवहारों के उत्तर में केवल उसने अपने भोले मुख को क्रोध से रक्तिम बना डाला और भौंहों को ऊपर चढ़ा लिया। दुष्यंत के सारे व्यवहारों का उत्तर इसी अनुभाव में भरा हुआ था। इस अनुभाव से व्यंग्य होता है 'दुष्यंत! तुम कितने लपट एवं निर्दय हो, तुमने एक भोले हृदय के साथ जैसा अद्वितीय विश्वासघात किया है, उसे शब्दों से व्यक्त नहीं किया जा सकता।' उक्त अनुभाव से यह वस्तु व्यक्त होती है। पर क्रोध स्थायी भाव की जैसी रमणीय चर्वणा उक्त वाच्य अनुभाव से जिस कोटि की हो रही है, उस कोटि को व्यग्य वस्तु से नहीं। यहाँ की व्यक्त वस्तु दुष्यंत में अनिष्टकारिता की प्रतीति कराती है और तब अनिष्टकारी के प्रति क्रोध, जबकि अनुभाव साक्षात् क्रोध की व्यंजना करता है। अतः वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ असुंदर (कम सुंदर) हुआ। यही कारण है कि प्रस्तुत उदाहरण असुदर नामक गुणीभूतव्यग्य का उदाहरण हुआ।

गुणीभूत-व्यग्य के प्रकारों की चर्चा ध्वन्यालोककार ने यत्र-तत्र बिखरे हुए रूप में किया है। उक्त आठ प्रकार का सुयोजित विभाजन मम्मट के अपने परिश्रम का फल है। आलोककार ने तो सभी अलंकारों को गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण कहा है, क्योंकि ऐसा कोई भी अलकार नहीं है, जहाँ 'अति[1]-शयोक्ति' गर्भ में न हो। अतिशयोक्ति सभी अलंकारों का मूल है। इसी के कारण अलकार के उपकरणों में लोकोत्तरता का प्रवेश होता है और इसीसे

१—सैषासर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्या कविना कार्यः कोऽलकारोऽनयाविना।

—काव्यालकार

वैचित्र्य या चमत्कार की प्रतीति होती है। वैचित्र्य ही अलकार है। कुछ अलकारों में परस्पर गर्भता होती है, जैसे—उपमा स्थल में दीपक तथा दीपक स्थल में उपमा व्यंग्य रहती है। कुछ की नियत अलकारों में ही व्यग्य रूप से स्थित है, जैसे—विभावना, विशेपोक्ति आदि में विरोध व्यंग्य होता है। इनके अतिरिक्त कुछ अलंकार-पर्यायोक्त, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याजस्तुति, समासोक्ति—ऐसे भी हैं, जो वस्तुत: गुणीभूत व्यंग्य के ही प्रभेद हैं, उन्हे परंपरा के अनुरोध से ही अलकार कहा जाता है।

इस गुणीभूत व्यग्य के प्रकाशकार आदि के मत से ४२, सुधासागरकार के मत से ४५ भेद शुद्ध हैं इसके सजातीय भेदों एव विजातीय भेदों के संकर एव ससृष्टि से असख्य भेद हो जाते हैं। संक्षेप में गुणीभूत व्यंग्य के ये ही प्रभेद हैं। आज की नवीन कविता इस पुराने ढाचे को ध्यान में रखकर लिखी नहीं जाती, अत इनके उदाहरण बड़ी कठिनता से मिल पाते है। फिर भी उक्त उदाहरणों से यह सिद्ध है कि हिंदी में व्यंजना ने अपने प्रसार का पुराना मुख बद नहीं किया है।

———

द्वितीय परिच्छेद

'ध्वनि' के रूप में प्रसार

काव्य में व्यंजना की गौण स्थिति का विचार पूर्व प्रकरण में अभी अभी किया जा चुका है अब नवीन कविता में व्यजना की वह स्थिति देखनी है, जहाँ वह प्रधान रूप से प्रयुक्त हुई है या हो रही है। व्यजना की प्रधान अवस्था में उसे 'ध्वनि' या 'ध्वनन' व्यापार कहते हैं। जिस काव्य में उक्त स्थिति होती है, उसे ध्वनि काव्य कहते हैं। आनदवर्द्धन ने ध्वनि काव्य की परिभाषा यों बताई है—'जहाँ अर्थ अपने आपको एवं शब्द अपने अर्थ को अप्रधान कर किसी निर्बाध प्रतीत होने वाले अतिरिक्त अर्थ की व्यक्ति कर रहा हो, वहाँ ध्वनि-काव्य का व्यवहार होता है।'[1] यद्यपि व्यजक शब्द एवं अर्थ दोनों सदैव समुदित ही रहते हैं, तथापि अर्थ शक्ति मूल ध्वनि में इन दोनों व्यजकों में अपेक्षाकृत अर्थ का प्राधान्य रहता है और शब्द शक्ति मूल ध्वनि में अपेक्षाकृत शब्द का। यही कारण है कि परिभाषा में एक वार शब्द एव एक वार अर्थ की प्रधानत· व्यजकता कही गई है।

इस ध्वनिकाव्य के प्रधानत· दो भेद होते हैं - अभिधामूल एवं लक्षणामूल। अभिधामूल का ही दूसरा नाम है—विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि और लक्षणामूल का दूसरा नाम है—अविवक्षितवाच्य ध्वनि। अविवक्षित वाच्य ध्वनि के भी दो प्रकार होते हैं—अर्थांतर-संक्रमित वाच्य ध्वनि एवं अत्यत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि। इनमें से प्रत्येक पदगत एवं वाक्यगत होने से सब मिलकर लक्षणामूल ध्वनि चार प्रकार की होती है।

अभिधा मूल के भी प्रधानत. दो भेद हैं—संलक्ष्यक्रम व्यंग्य। असंलक्ष्यक्रम व्यग्य असंलक्ष्य क्रम 'रस' ही होता है, क्योंकि यहा व्यजक वाच्यार्थ एवं व्यग्य 'रस' की प्रतीति में वर्तमान (पूर्वापरीभाव का) क्रम लक्षित नहीं होता, जबकि 'वस्तु' एव 'अलकार' रूप व्यग्य की प्रतीति में क्रम स्पष्ट लक्षित होता

१—यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ। व्यक्तः काव्यविशेषः सध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।

—ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत।

है। शुक्ल जी ने इन दोनों में क्रमका ही नहीं, वलिक और अंतर भी वताया है और वह अन्तर 'यह है कि 'रस' का साक्षात्कार होता है—वह प्रत्यक्ष अनुभूति है, जबकि वस्तु एव अलकार शव्द प्रमाण से प्रतीत परोक्षज्ञान ज्ञान के विषय हैं। अर्थात् एक की प्रतीति प्रत्यज्ञात्मक है और दूसरे की परोक्षात्मक। असलक्ष्यक्रम स्वयं पद, पदांश, रचना, वाक्य, प्रकरण एव प्रबंध—इन छह प्रकार के व्यजकों के कारण छह प्रकार का होता है।

संलक्ष्यक्रम के प्रथमतः तीन प्रभेद होते हैं–शव्दशक्तिमूल, *अर्थशक्तिमूल एवं उभयशक्तिमूल। उभयशक्तिमूल केवल वाक्यगत होने के कारण एक ही प्रकार का होता है।

शव्द शक्तिमूल के भी पहले दो भेद किए जाते हैं—वस्तु से वस्तु एवं वस्तु से अलकार। फिर इन दोनों में भी प्रत्येक के पदगत एव वाक्यगत दो-दो भेद होते हैं। इस प्रकार शव्द शक्तिमूल ध्वनि भी सव चार प्रकार की होती है।

अर्थशक्ति मूल के ३६ प्रभेद हैं। सबसे पहले वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलकार तथा अलंकार से वस्तु एव अलकार से अलकार ये चार प्रभेद हैं। इन चारों स्थलों में व्यजक कभी स्वतः सम्भवी, कभी कविप्रौढोक्तिसिद्ध एवं कभी कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध होता है, अत. उक्त चारों में से प्रत्येक के तीन-तीन भेद और हो जाते हैं और फिर सब मिलकर बारह भेद हो जाते हैं। इनमें से भी प्रत्येक के पद, वाक्य एव प्रबंधगत होने से सब मिलाकर ३६ प्रभेद हो जाते है।

इस रीति से ध्वनि के सब (४ + ६ + १ + ४ + ३६) ५१ प्रभेद हुए। इनके सभी उदाहरणों का प्रदर्शन प्रबध को तुंदिल बना देगा, अतः सक्षेप में कुछ ही मूल प्रभेदों की चर्चा यहाँ की जा सकेगी।

लक्षणामूल ध्वनि या अविवक्षित वाच्य ध्वनि के उदाहरण—

१–अर्थांतर सक्रमित वाच्य ध्वनि—इस प्रभेद में उपादान लक्षणा कार्य करती है। वाच्यार्थ इस शक्ति से किस प्रकार अर्थांतर में सक्रांत हो जाता है, यह गुणीभूतव्यग्य के प्रभेद-निरूपण में हम अच्छी तरह दिखा चुके हैं। इस प्रयोजनवती लक्षणा का प्रयोजनाश यहा गूढ होता है, अत. इसे लेकर ध्वनि काव्य का व्यवहार होता है। यहाँ प्रयोजनाश चमत्कारकारी होने के

कारण प्रधान होता है अतः इस प्रधान व्यंग्यार्थ के प्रति उपयोगी व्यंजना शक्ति 'ध्वनन' शक्ति कही जाती है।

'विकृत परंतु प्रकृत परिचय से, डरा सकेगी तू न हमें।
अवला फिर भी अवला ही है, हरा सकेगी तू न हमें।'

—पंचवटी

उत्तरार्द्ध का द्वितीय 'अवला' पद अर्थांतरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का उदाहरण है। यहाँ द्वितीय 'अवला' शब्द यदि सामान्यतः अपने (अभिधेय) नारी अर्थ के लिये ही माना जाय, तो प्रस्तुत वाक्य में उसकी कोई उपयोगिता नहीं प्रतीत होगी। यह कौन नहीं जानता कि अवला अवला है ? अवला कोई ईंट, पत्थर तो समझता नहीं, कि उसे समझाया जाय कि अवला, अवला ही है, ईंट, पत्थर नहीं। दूसरे यह कि जब इस 'अवला' पद का अर्थ विधेय है तो उसे निश्चय ही उद्देश्यभूत अर्थ 'अवला' से कुछ भिन्न होना चाहिए और भिन्न अर्थ होने का एक ही रास्ता है कि यहाँ अभिधा का कोई उपयोग न देखकर लक्षणा शक्ति की ही स्थिति मानी जाय। लक्षणा शक्ति से 'अवला' शब्द का लक्ष्यार्थ हुआ 'वलहीन'। विवक्षित अर्थ के वाचक शब्द के रहते हुए भी जब उसके अवाचक (लक्षक) शब्द का प्रयोग किया है, तो वह अवश्य किसी न किसी विशेष प्रयोजन से ही किया गया है, जो व्यंजना व्यापार का विषय है। वह प्रयोजन है—'पुरुष की अपेक्षा नारी में शाश्वत एवं सहज वलाभाव का योग।' इस अर्थ को लेकर ध्वनि का व्यवहार बड़ी अच्छी तरह से किया जा सकता है।

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण भी है—'अथवा ग्राम ग्राम है।' यहाँ दूसरा 'ग्राम' पद अर्थांतरसंक्रमित ही है। अथवा विद्यापति की एक पंक्ति है—

आज मम गेह गेह कर जानलु
आज मोर देह भेल देहा॥

कवि को इन दोनों स्थलों में अभिधा से प्रतीत होने वाले सामान्य अर्थ की अपेक्षा अवश्य कुछ विशिष्ट अर्थ अभिप्रेत है।

अत्यंततिरस्कृतवाच्य ध्वनि—इस प्रभेद में लक्षणलक्षणा किस तरह कार्य करती है, यह 'अगूढ़' व्यंग्य के उदाहरण में दिखाया जा चुका है,

फिर भी इतना ही अंतर है कि अगूढ़ स्थल में प्रयोजन अति स्फुट होता है और यहाँ इतना ही स्फुट रहता है, ताकि उसे केवल सहृदयजन ही ठीक २ ढग से ग्रहण कर सकें—

'उल्काएँ सब ओर प्रभा सी पाट रही थीं।
पी-पीकर पुर तिमिर जीभ सी चाट रही थीं।'

—साकेत प्रथम सर्ग

यहाँ उल्काएँ पुर का तिमिर पान करने वाली बताई गई हैं, पर स्पष्ट है कि न तो उल्काओं में 'पान' क्रिया की कर्तृता सभव है और न 'तिमिर' में कर्मता ही है। 'पान' वही कर सकता है, जिसमें 'पान' कर्त्री कर्मेंद्रिय हो, भला उल्काओं और पानकर्त्री इंद्रिय का क्या संबंध ? इसी प्रकार 'पान' का कर्म कोई तरल अथवा द्रव पदार्थ ही हो सकता है, तिमिर में तरलता कहाँ ? तिमिर पेय पदार्थ नहीं है। यहाँ तिमिर एव उल्का का तो वाच्यार्थ ही वाछित है परंतु 'पीना' क्रिया औपचारिक है, अत लक्षणा वृत्ति से 'पान' क्रिया का ही कोई प्रसगोपयोगी अर्थ होना चाहिए। यदि 'पीना' का अर्थ 'विनाश' कर दिया जाय, तो इसकी कर्तृता उल्का में और कर्मता 'तिमिर में निर्वाध उपपन्न हो जायगी अतः यही अर्थ हुआ। अंधकार की निःशेषता का अतिशय ही यहाँ व्यग्य है। इसी अर्थ को लेकर ध्वनि का व्यवहार हो सकता है।

ख—अभिधामूल ध्वनि के उदाहरण—

(i) असलक्ष्यक्रमव्यग्य—प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार के होते हैं, यह पहले ही बताया जा चुका है और यह भो बताया गया है 'कि 'रस' रूप अर्थ ही व्यग्य होता है, साथ उसकी असलक्ष्यक्रमता का भी कारण बताया गया है। 'रस' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है—(१) नव रस—जो 'रस' पद की रूढ़ि शक्ति से आते हैं (२) दूसरे 'रस' पद की योग शक्ति से (रस्यत आस्वाद्यतेऽसौ रस.) भाव, भावाभास, रसाभास भावसधि, भावोदय, भाव शाति एव भाव-शवलता—ये अर्थ भी लिए जाते हैं।

'हाथ लक्ष्मण ने तुरंत बढ़ा दिए, और बोले—'एक परिरभण प्रिये।'
सिमिट सी सहसा गई प्रिय की प्रिया। एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया।
किंतु घाते में उसे प्रिय ने किया। आप ही फिर, प्राप्य अपना ले लिया।''

१—साकेत प्र० स०।

यहाँ संभोगश्रृंगार[१] रस है। यह श्रृंगार 'नायकोत्थ' अर्थात् नायक की ओर से उत्थापित है। यहाँ श्रृंगार का स्थायी भाव रति है, जिसके आश्रय में, लक्ष्मण एवं आलंबन है उर्मिला। उर्मिला अर्थात् आलंबन की चेष्टाएं— अपांगवीक्षण आदि उद्दीपन विभाव हैं तथा लक्ष्मण अर्थात् आश्रय की परिरंभण की माँग, घाते में करना आदि वाचिक तथा आंगिक चेष्टाएँ अनुभाव हैं। उर्मिला के 'सिमटने' से श्रृंगार का संचारी भाव 'लज्जा' व्यंग्य है। इस प्रकार श्रृंगार अपने संपूर्ण अवयवों के साथ पुष्कल रूप में वर्तमान है।

अन्य सभी रसों की प्रचुर उपलब्धि के कारण उन्हें सर्व-सुलभ समझकर छोड़ दिया जा रहा है।

रसाभास का उदाहरण.—

कुछ लोगों का विचार है कि जहाँ किसी (रस के) स्थायी भाव के आलंबन में सामाजिक दृष्टिकोण से अनौचित्य की गंध मिले, वहाँ रसाभास समझना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि कलहशील कुपुत्र को शोक का आलंबन बताया जाय, तो यहाँ स्पष्ट ही अनौचित्य प्रतीत होगा। इसी प्रकार यदि वीतराग मुनि में शोक का वर्णन किया जाय तो इसे भी कोई उचित न कहेगा। साराश यह कि ऐसे स्थानों में 'रस' नहीं, 'रसाभास' का ही प्रयोग उचित है। कुछ लोग रसाभास की इस उक्त परिभाषा को सर्वग्राही या व्यापक नहीं मानते और कहते हैं कि यदि किसी नायिका को बहुनायकविषयिणी रति का आश्रय बताया गया हो, तो लौकिक दृष्टि से अनौचित्य आश्रय नायिका में नहीं, किंतु 'रति' में ही प्रतीत होता है। अतः उक्त परिभाषा यहाँ ठीक नहीं बैठती। यही कारण है कि ये लोग उक्त परिभाषा का संशोधन करते हुए बताते हैं कि वस्तुत 'रसाभास' वहाँ होता है जहाँ स्थायी की प्रवृत्ति में अनौचित्य झलकता हो। इस दृष्टि से देखें तो, नायिका की वह रति जो बहुत मे नायकों को आलंबन बनाकर प्रवृत्त होती है, स्पष्ट ही रसाभास की जननी है और कलहशील कुपुत्र के लिये प्रवृत्त शोक को कौन उचित कहेगा? वह 'हास' जो गुरुजनों को आलंबन करके प्रवृत्त हुआ हो, क्या मर्यादापूर्ण शिष्टता का लेश वहाँ मिल सकेगा? कभी नहीं, तात्पर्य यह कि यह द्वितीय परिभाषा ही युक्तियुक्त एवं व्यापक जान पड़ती है। रसाभास का एक उदाहरण लें—

१—अनुकूल निषेवेते यत्राऽन्योन्य विलासिनौ।
दर्शनस्पर्शनादीनि स संभोग उदाहृतः।

'इन्हें देख मन हुआ कि इनके आगे मैं उसको धर दूँ।
वह मन जिसे अमर भी कोई, कभी क्षुब्ध कर सका नहीं।
उन्हें देखती हुई आड़ में वडी देर मे खड़ी रही।
फिर मानों मन के सुमनों से माला एक वना लाई।
इसके मिस अपने मानस की भेंट इन्हे देने आई।
पर ये तो बस 'कहो, कौन तुम ?' करने लगे प्रश्न छूछा।'

—पचवटी

यहाँ रति भाव का आश्रय स्वयं शूर्पणखा है और राम आलबन। कहाँ एक ओर एक पत्नीव्रत मर्यादा पुरुषोत्तम राम और कहाँ दूसरी ओर स्वैराचार शील राक्षसी शूर्पणखा ? कितनी विषमता है ? क्या शूर्पणखा की रति उचित ढग से प्रवृत्त है ? नहीं और इसीलिये यहाँ रसाभास है। यद्यपि यहाँ शृंगार के सभी उपकरण वर्तमान हैं—राम एवं शूर्पणखा शृगार के क्रमशः आलंबन एव आश्रय हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ उद्दीपन विभाव है ज्योत्स्नाचर्चित रजनी एव विजन प्रांत। अनुभाव है शूर्पणखा का चिर-वीक्षण ऐसा लगता है जैसे वह अनन्य सामान्य सौंदर्य मे आकृष्ट होकर स्तब्ध हो गई हो और स्पदहीन तथा निर्निमेष नयनों से उन्हे देख रही हो। उस सौंदर्य को देखकर उसके मन की जो अवस्था हुई, उसका वर्णन सीता से कर सकने में वह स्वयं अशक्त है, कवि की तो बात ही दूर है। तीव्रतम अनुभूतियाँ होती ही ऐसी हैं, जिसे' व्यक्ति को कौन कहे, उसका मन भी दूसरे क्षण में पूर्वानुभूत अनुभूतियों को ठीक ठीक पकड़ सकने में अशक्त हो जाता है।

यहाँ रसाभास होने का एकमात्र यही कारण नहीं है, प्रत्युत अन्य कारण यह भी है कि यहाँ की रति सम (उभयनिष्ठ) नहीं है। अलौकिक दृष्टि से चाहे यह श्लाघ्य हो, पर लौकिक शृंगार की दृष्टि से ऐसी अनुभय निष्ठ रति उचित नहीं कही जाती। एक ओर तो शूर्पणखा की यह स्थिति है कि वह अपने आपको रति के उद्रेक में भूल सी गई है, जबकि दूसरी ओर आलबन उससे इतना तटस्थ एव अलग है कि उसे सामने आने पर वह एकदम निराशाजनक एवं रुक्ष प्रश्न कर बैठता है 'कहो, कौन तुम ?'

सलक्ष्यक्रम व्यग्य :—इस प्रकार की ध्वनि में केवल वस्तु तथा अलंकार का ही परिग्रह होता है। इसकी सलक्ष्यक्रमता का भी विचार पहले हो चुका है। इसके मूलभूत तीन प्रभेदों के शब्दशक्तिमूल, अर्थशक्तिमूल, उभयशक्तिमूल, ही उदाहरण यहाँ दिए जायँगे।

शब्दशक्तिमूल :—यह बात 'सिद्धात पक्ष' के निरूपण में बताई जा चुकी है कि जहाँ व्यग्यार्थ की सत्ता का रहना न रहना उसी 'शब्द' के रहने न रहने पर हो, वहाँ शब्द-शक्ति मूल ध्वनि का व्यवहार होता है। यहाँ वस्तु से वस्तु एव वस्तु से अलंकार व्यग्य होते हैं।

वस्तु से वस्तु व्यंग्य का उदाहरण—नवीन कविता में अभिधा को प्रायः निर्वासित करने का प्रयत्न है, अत अभिधायक शब्दों के प्रयोग की रुचि घटी हुई देखी जाय, तो उसमें आश्चर्य क्या है ? और इन अभिधायक शब्दों के आधार पर श्लेपमूलक चमत्कार दिखाने की प्रवृत्ति अब पुरानी मानी जाती है और इसीलिये इस के प्रति हेय बुद्धि है, फिर जहाँ हेय-बुद्धि हो चुकी, उसका प्रयोग क्यों किया जायगा ? कहीं कोने अँतरे यदि इस तरह की प्रवृत्ति दिखाई पड़ जाय, तो मैं इसका निपेध नहीं कर सकता, पर सामान्यत. यह प्रवृति आज बिलकुल लुप्त-प्राय हो चली है। उदाहरणार्थ, एक उदाहरण पुरानी कविता से ही लें—

लग्यौ सुमनु ह्वै है सफल, आतप-रोप निवारि।
वारी-वारी आपनी सींचि सुहृदता वारि॥

—बिहारी सतसई।

प्रस्तुत दोहे के दो अर्थ हैं, जिनमें से एक वाच्य है और दूसरा व्यंग्य। हाँ, दोनों अर्थों के बोद्धव्य भिन्न-भिन्न हैं। वाच्यार्थ तो वारि जाति के व्यक्ति विशेप को लक्ष्य में रखकर कहा जा रहा है और व्यंग्यार्थ का लक्ष्य है नायिका विशेप। यहाँ का वाच्यार्थ वस्तुतः आच्छादक है रहस्यभूत व्यग्यार्थ का।

अवतरण—

आज इस नायिका के घर नायक के पधारने की पारी है, पर अभी तक वह आया नहीं है। नायिका का मन उसी में लगा हुआ है, और विलंब के कारण कुछ रुष्ट सी होकर वह जी बहलाने के निमित्त, वाटिका में भ्रमण कर रही है, जहाँ माली तथा कुछ बहिरंगिनी सखियाँ भी उपस्थित हैं। इतने में उसकी अंतरगिणी सखी, जो नायक के पास गई थी, आकर यह दोहा ऐसी चातुरी से पढ़ती है कि नायिका तो अपना इष्टार्थ समझ ले, पर माली तथा बहिरंगिनी सखियाँ समझें कि वह यह वाक्य माली से कह रही है। नायिका के प्रति तो वह यह कहती है—(अर्थ १ प्राकरणिक)—हे नारी (भोली स्त्री !) (तेरा) मन (जो) लगा है, सो सफल (प्राप्ताभीष्ट) होगा।

(तू इस) दु'खदायी रोष को निवारित करके अपनी वारी (पारी) सुहृदता (मैत्री) के वारि (वाक्य) से सींच (सरस कर) ।

(अर्थ २ अप्राकरणिक)—हे वारी (माली), (तेरी वाटिका में) लगा हुआ सुमन (फूल) सफल (फलयुत) होगा (तू) अपनी वारी (वाटिका) सहृदयता के वारि (सानुकूल जल) से सींचकर वाम के रोष (प्रचंडप्रभाव) को निवारित कर ।

अब, कोई भी विचारक यह स्पष्ट समझ सकता है कि इस तरह की चमत्कारकारिणी प्रवृत्ति आज के नवीन कवियों में है? इसका अन्वेषण नितात श्रमसाध्य तो है ही, श्रम करने पर भी शायद कहीं मिले ।

वस्तु से अलकार—

दो वर्शो में प्रकट करके पावनी लोकलीला,
सौ पुत्रों से अधिक जिनकी पुत्रियाँ पूतशीला ।
त्यागी भी है शरण जिनके, जो अनासक्त गेही,
राजा योगी जय जनक ये पुण्य देही विदेही ।।'
—'साकेत' नवम सर्ग

यहाँ व्यंजक 'वस्तु' है और व्यंग्य अलंकार । यह व्यग्य अलकार है—विरोधाभास । उक्त पद्य का केवल 'पुण्यदेही विदेही'—यही अंश लक्ष्य है । विरोधाभास में श्लिष्ठ पदों का प्रयोग अत्यधिक अपेक्षित है । ऐसे पदों से जो दो अर्थ निकलते हैं, उनमें पहले एक अर्थ को लेकर आपातत. विरोध की प्रतीति होती है और पश्चात् दूसरे अर्थ को लेकर विरोध का परिहार ।

विरोधी अर्थ—(१) पुण्यदेही—पुण्यमय देह वाला व्यक्ति
(२) विदेही—विगत-विनष्ट-देह वाला व्यक्ति

यहाँ एक ही व्यक्ति के इन दोनों विशेषणों में स्पष्ट ही विरोध है । भला, जिसे देह ही नहीं है, उसके लिये पुण्यमय देह की संभावना ही क्या की जाय ? देह की सत्ता का होना और न होना परस्पर विरोधी बातें हैं ।

अविरोधी अर्थ—पुण्यमय देह वाले ही तो विदेह हो सकते हैं कुछ कुत्सित देह वाले थोड़े न ?

पृष्ठ १३ बिहारी रत्नाकर, (नवीन संस्करण १९६१
१६ वाँ दोहा ग्रथकार प्रकाशन, शिवाला, बनारस)

उपर्युक्त द्वितीय अर्थ की दृष्टि से आयातत. प्रतीत विरोध की शांति हो जाती है। विरोधाभास यहाँ व्यजना वृत्ति द्वारा ही लभ्य होता है। विरोधाभास वाच्य या अभिधेय वहाँ होता है, जहाँ 'भी' आदि विरोध द्योतक शब्द पड़े रहते हैं। यहाँ ऐसा कोई शब्द नहीं है।

अर्थ-शक्तिमूलध्वनि—

ध्वनि के अन्य उक्त प्रभेदों की अपेक्षा यह प्रभेद आज बहुत ही अधिक गृहीत हो रहा है। आज का कवि अपने पदों में अधिक से अधिक अतिरिक्त अर्थ देने की क्षमता भरना चाहता है अर्थात् पदों को अधिक से अधिक व्यंजक बनाना चाहता है—एक उदाहरण लीजिए—

धूल लगी है, पद कांटों से विंधा हुआ है, दुःख अपार।
किसी तरह से भूला भटका आ पहुँचा हूँ तेरे द्वार।
डरो न इतना धूलि धूसरित होगा नहीं तुम्हारा द्वार।'

प्रस्तुत पद में आराधक आराध्य से 'द्वार खोलने' की याचना कर रहा है। द्वार तभी खुल सकता है, जब आराध्य आराधक पर करुणार्द्र हो उठे और इसके लिये आवश्यक यह है कि आराधक अपना करुणतम चित्र खींच दे। प्रस्तुत पद में आराधक का ऐसा ही चित्र खींचा गया है।

प्रस्तुत पद के प्रत्येक पद व्यजक हैं, उदाहरणार्थ, हम 'किसी तरह से' इसी वाक्य-खंड को ले लें, तो देखेंगे कि वह वाच्यार्थ के अतिरिक्त कुछ और अर्थ देने में भी वह सक्षम है। साधारण ढग से इन शब्दों का वाच्यार्थ तो स्पष्ट ही है, ध्यान देने से यह भी लक्षित होगा, कि आराध्य की द्वारप्राप्ति कितनी दुःसाध्य है? 'किसी तरह से आ पहुँचा हूँ—' द्वारा कवि यह बोधित करना चाहता है कि आराध्य का द्वार यत्न करने पर भी दुष्प्राप्य है। उसमें भी अज्ञ और असमर्थ आराधक यत्न कर ही क्या सकता है। दूसरे यह कि जिन उपायों से उसके द्वार की प्राप्ति होती है, वे उपाय भी विभिन्न मतवादों से उलझे हुए हैं कि उन्हें साधन मानकर पहुँचना तो दुर्लभ ही है, उल्टे उलझे हुए उपायों के सुलझाने में अतिरिक्त एवं निरर्थक श्रम करना पड़ता है। समस्या यह है कि उपाय के विना पहुँचना कठिन है और उपाय का निर्णय करना चाहे, तो यह उससे भी कठिन है। इन सबके ऊपर यह कि काल प्रतिक्षण मनुष्य की चोटी पकड़े हुए है, उसे इतना अवकाश ही कहाँ कि वह इन प्रपंचों में पड़े। इन उलझनों में पड़ा हुआ आराधक उसकी स्मृति

में विह्वल होकर दर दर की ठोकर खाकर इधर उधर घूम ही रहा था कि अनजाने आराध्य का द्वार हाथ आ गया। कवि अपनी तथा कथित व्यंजकत्व गर्भ उक्तियों से पूर्वोक्त परेशानियों के साथ-साथ अंधे के हाथ बटेर लग जाने वाली बात भी अवश्य व्यक्त करना चाहता है। उक्त व्यंग्यार्थ के लिये किसी भी वाचक और लक्षक पदों का ग्रहण न होने के कारण अभिधा एवं लक्षणा की संभावना ही नहीं की जा सकती।

उपर्युक्त व्यंजक-पद राशि ऐसी नहीं है, कि जिसके पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग से व्यंग्यार्थ की सत्ता शाब्दी व्यंजना वाले स्थलों की भाँति विलुप्त हो जाय। तात्पर्य यह कि व्यंजना से लब्ध होने वाला उक्त व्यंग्यार्थ नियत शब्दों के साथ अन्वय-व्यतिरेक न रखकर नियत अर्थों से ही अन्वय-व्यतिरेक रखता है अतः यह अर्थ शक्ति मूल ध्वनि का ही उदाहरण हुआ।

(१) शब्दार्थोभयशक्त्युत्थ ध्वनि—

उपर्युक्त दोनों भेद पद के अतिरिक्त वाक्य एवं प्रबंध में भी होते हैं, परंतु यह केवल वाक्यगत होता है। यह केवल वाक्यगत ही इसलिए होता है कि यहाँ का व्यंग्यार्थ किसी पर्यायासह शब्द एवं किसी किसी पर्यायसह-शब्द अर्थात् कम से कम दो पदों से तो संबंध अवश्य ही रखेगा, वह 'उभयशक्त्युत्थ' ही न हो सकेगा। इस प्रकार यह जब होगा तब एक पद से अधिक पदों की ही सहायता से ही हो सकेगा। इस प्रकार 'पद-कदंब' की अपेक्षा होने से यह प्रभेद सर्वदा वाक्यगत ही होता है। उदाहरण लीजिये—

> 'रस हैं बहुत परंतु सखि, विष है विषम प्रयोग।
> बिना प्रयोक्ता के हुए यहाँ भोग भी रोग।'
>
> —साकेत

यह पद विप्रलंभ शृंगार के प्रकरण में कहा गया है, अतः जो अर्थ उसके अनुकूल होगा, वह वाच्यार्थ और जो प्रतिकूल होगा, वह व्यंग्यार्थ होगा।

प्राकरणिक अर्थ.—उर्मिला के लिये उस समय कामद राजमहल में षट्-रस भोजनों की कमी हो, सो बात नहीं, परंतु आज प्रिय के न होने से इनका उपयोग विषम हो गया है। प्रयोक्ता लक्ष्मण के बिना आज भोगों ने भी

रोगों का रूप धारण कर लिया है अर्थात् वे रस विप्रलभावस्था में रोग सा ही विरहोद्दीपन के माध्यम से कष्ट पैदा कर देते हैं।

अप्राकरणिक अर्थः—यह सामान्य बात है कि रसौषधियों का प्रयोग यदि विषम हो जाय, तो वे ही रस जो अमृत सा कार्य करते हैं, विष के सदृश फल देने लग जाते हैं और इन रसों का प्रयोक्ता न हो तो उनका अव्यवस्थित प्रयोग रोगों पर रोगों का प्रसव करने लग जाता है।

यहाँ दूसरा अर्थ अप्राकरणिक है। अत. ध्वनिवादियों के अनुसार यह अर्थ व्यग्य हुआ। इस स्थल में जिन शब्दों की महिमा से द्वितीय अर्थ बोधित होता है, वे हैं—'रस' 'प्रयोक्ता' एव 'विषमप्रयोग' आदि। ये ऐसे शब्द हैं, जो रासायनिक प्रक्रिया में निरंतर प्रयुक्त होते रहते हैं, अतः वहाँ का इनका शतश· प्रयोग उस प्रसग का स्मरण दिला देता है। सपूर्ण अप्राकरणिक अर्थ को व्यक्त करने में वाक्य के यद्यपि सभी पद हेतु हैं, तथापि, उक्त पद 'पर्याया सह' एव शेष 'पर्याय सह' हैं। अत. यह उदाहरण वाच्यगत शब्दार्थोमय शक्त्युत्थ ध्वनि का हुआ।

इस प्रकार सक्षेप में व्यजना की भारतीय व्यवस्थित पद्धति का दिग्दर्शन करा दिया गया। अब इसके अनतर देखना यह है कि व्यजना ने इन व्यस्थित प्रयोगों के माध्यम से जितना मुँह खोल रखा है, नवीन कविता ने अपने नवप्रयोगों द्वारा उसे कुछ और खोलने को बाध्य किया है अथवा नहीं ? हिंदी के नवीन साहित्य में व्यजना का प्रसार इन्हीं विलक्षण प्रयोगों के सहारे देखना है।

———



तृतीय परिच्छेद

'व्यंजना के पश्चिमी प्रयोग (नव-प्रयोग)'

पूर्व के दो परिच्छेदों में व्यजना के प्रसार और उसकी प्राचीन पद्धति की चर्चा की गई है इस परिच्छेद में आधुनिक कविता की कुछ प्रमुख व्यजक प्रवृत्तियों की सोदाहरण चर्चा की जायगी ।

'बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही कविता की भाषा ब्रज से खड़ी बोली हो गई थी । खडी बोली अबतक केवल बोलचाल की भाषा थी और यद्यपि वह उन्नीसवीं शताब्दी में ही गद्य की भाषा बन गई थी, फिर भी उसमें शब्दों का बहुत अभाव था, क्योंकि गद्य में भी साहित्यिक गद्य बहुत कम लिखा गया था । स्वय ब्रजभाषा का शब्दभडार बहुत कम था और जो कुछ था भी वह उन कवियों की कमाई थी, जिन्होंने जन्मभर लौकिक श्रृंगार का ही व्यवसाय किया था परतु जब बीसवीं शताब्दी में काव्य के विषय, उपादान रूप एव शैली में अभूतपूर्व उन्नति हुई, तो भाषा का संकुचित शब्द भडार बहुत ही तुच्छ जान पडा[1] ।' मेरी समझ में तुच्छ जान पड़ने का जो सबसे बड़ा कारण था वह था स्थूल की प्रतिक्रिया में सूक्ष्म का अपनी अभिव्यक्ति के लिये आकुल होना । अभी तक कवि का मुँह बोलता था, हृदय बंद था अथवा कम खुला था । इस मुँहबंदी से ऊबकर हृदय ने जब अपना मुँह खोला, तो उसके लिए भाषा बड़ी दुर्बल, हल्की एवं अशक्त दिखाई पड़ी । हृदय (भाव) कभी भी अपने को वाच्य नहीं कर पाता, वह अपने को लखा (लक्षणा से) सकता है, इंगित (व्यजना) कर सकता है । इस स्थिति में आवश्यक था कि भाषा अधिक से अधिक लाक्षणिक एवं व्यंजक शब्दों से अपने को पुष्ट एवं पूर्ण बनावे, व्यंजन की अधिक से अधिक, नूतन से नूतन पद्धतियाँ आविष्कृत की जायँ । पुरानी पद्धतियाँ बँधी-बँधाई टाँचे हैं, जिनमें — परपरागत बँधी-बँधाई बात ही कही जा सकती है, पर इस काल के कवियों का व्यक्ति स्वातन्त्र्य इन बँधे ढाँचों अर्थात् आचार्यों के जटिल एव नियत पद्धतियों को लेकर नहीं अट सकता था । ये तो किसी ऐसी कला की खोज

१—आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास, डा० श्रीकृष्णलाल पृ० ।

में थे, जिसमें व्यक्तिस्वातन्त्र्य का सम्मान हो और पश्चिमी कला ऐसी ही थी। बस, फिर क्या था हमारे कवि पश्चिमी कला के भक्त बन गए और उन्होंने पश्चिमी काव्यालंकार और पश्चिमी काव्य-परिभाषा ग्रहण की। काव्यों की परिभाषा उन लोगों ने ध्वनि एवं व्यंजना के ही रूप में स्वीकार की। छायावादी कवि 'प्रसाद' जी ने तो 'छायावाद' की व्याख्या करते हुए उसे स्पष्ट ही आलोककार की 'ध्वनि[2]' माना है। यह व्यंजना पश्चिमी सजेस्टिवनेस से भिन्न नहीं है। डा० लाल ने[3] इसे भिन्न बताया है और पं०[4] रामदहिन मिश्र ने इसका खंडन किया है वस्तुतः डा० साहब जब इसे भिन्न कहते हैं, तो उनका अभिप्राय यह नहीं है कि ध्वनि या व्यंजना तत्व ही उनका दूसरा है, बल्कि यह भेद प्रयोग-पद्धति मात्र को लेकर किया गया है। प्रयोग पद्धति का वैभिन्न्य नूतन प्रयोगों के प्राचुर्य से आता है। इसी पश्चिमी नई प्रयोग पद्धति के रास्ते व्यंजना का प्रसार देखना इस खंड का लक्ष्य है।

आचार्य शुक्ल जी ने भी अपने इतिहास में नवीन कविता की विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए लिखा है 'छायावाद का जन्म द्विवेदी काल की रूखी इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया में हुआ था, अतः इस प्रतिक्रिया का प्रदर्शन केवल लक्षणा एवं व्यंजना गर्भ अन्योक्ति प्राचुर्य के ही रूप में नहीं, कहीं कहीं उपमा और उत्प्रेक्षा के भरमार के रूप में भी हुआ। इनमें से उपादान एवं लक्षणलक्षणाओं को छोड़कर और सब बातें और किसी न किसी प्रकार की साम्यभावना के ही आधार पर खड़ी होने वाली हैं। साम्य को लेकर अनेक प्रकार की अलंकृत रचनाएँ पहले भी होती थीं तथा रीतिकाल और उसके पीछे भी होती रही हैं। अतः छायावाद की रचनाओं के भीतर साम्यग्रहण की उस प्रणाली का निरूपण आवश्यक है, जिसके कारण उसे एक विशिष्ट रूप प्राप्त हुआ[5]।

शुक्ल जी ने बताया है कि 'साम्य' मुख्यतः तीन प्रकार का बताया गया है—सादृश्य (रूप या आकार साम्य), साधर्म्य (गुण एवं क्रिया का साम्य),

---

१—वही।

२—काव्य कला तथा अन्य निबंध।

३—वही [आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास]।

४—काव्यालोक।

५—हिंदी साहित्य का इतिहास।

एव शब्दसाम्य। भारतीय दृष्टि से साम्य के तीन प्रकार नहीं बन सकते। यहाँ 'साम्य' का अर्थ 'सादृश्य' किया जाता है और साधर्म्य इसी सादृश्य का निष्पादक है, और कुछ नहीं। साधर्म्य साधारण धर्म का उपमान एवं उपमेय से होने वाला एक संबंध है। हाँ, यह साधारण धर्म अलबत तीन प्रकार का है—गुण, क्रिया एवं शब्द-साम्य। अस्तु, शुक्ल जी ने शब्द-साम्य को तो शब्द-क्रीड़ा में रुचि रखने वाले कवियों का खेलवाड बताया है। रहे, सादृश्य एवं साधर्म्य। विचार करने पर इन दोनों में 'प्रभाव-साम्य' ही मिलेगा। 'छायावाद' बड़ी सहृदयता के साथ इस 'प्रभाव-साम्य' को ही लेकर चला है। कहीं तो बाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यंत अल्प या न रहने पर भी आभ्यतर प्रभाव-साम्य को ही लेकर अप्रस्तुतों का सन्निवेश कर दिया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत ही 'प्रतीक' (सिम्बलस) कहे जाते हैं। 'प्रतीक' और 'चिह्न' पर्याय हैं, पर इस प्रसग में 'प्रतीक' एक विशेष प्रकार के 'उपमान' को न कहकर 'अप्रस्तुत' को ही कहना अधिक सगत है। शुक्ल जी ने 'प्रतीक' को एक विशेष प्रकार का उपमान ही बताया है, पर ऐसा मानने से कहीं कहीं अड़चन आती है। उदाहरणार्थ, 'उषा' को 'आनद' का प्रतीक माना गया है। यहाँ 'उषा' 'आनद का उपमान नहीं है, क्योंकि इसमें साम्य की अपेक्षा होती है, जो 'उषा' में नहीं है। वस्तुत यहाँ 'उषा' एवं 'आनद' का कार्यकारण भाव संबध है, उपमानोपमेय भाव संबध नहीं। अब यदि उपमान ही को प्रतीक माना जाय, तब तो उषा को प्रतीक नहीं कहना चाहिए, अत· उपमान के पर्याय रूप में प्रयुक्त होकर भी कहीं उससे व्यापक अर्थ रखने वाला 'अप्रस्तुत' शब्द ही 'प्रतीक' का परिचय ठीक दे सकेगा। सारांश यह हुआ कि आभ्यंतर प्रभाव साम्य के आधार पर लाक्षणिक एवं व्यंजनात्मक पद्धति का प्रगल्भ एव प्रचुर विकास छायावादी काव्य-शैली की असली विशेषता है।

'प्रसाद' जी की रचनाओं में शब्दों के लाक्षणिक वैचित्र्य की प्रवृत्ति इतनी प्रबल नहीं रही है, जितनी साम्य की दूरारूढ़ भावना की। उक्त प्रभाव साम्य को लेकर चलने वाली प्रतीक पद्धति वेदों से चली आ रही है। हिंदी के कबीर आदि महात्माओं में भी साम्प्रदायिक प्रतीकों का प्रयोग प्रचुर रूप से उपलब्ध होता है, परतु आज के हिंदी साहित्य के प्रतीकों का स्रोत एव प्रवृत्ति कुछ और ही गई है। इन लोगों के आदर्श महाकवि 'टैगोर' है और स्वय टैगोर १९ वीं शती की अंतवाली प्रतीक पद्धति से प्रभावित हैं। इन प्रतीकों के

में थे, जिसमें व्यक्तिस्वातंत्र्य का सम्मान हो और पश्चिमी कला ऐसी ही थी। बस, फिर क्या था हमारे कवि पश्चिमी कला के भक्त बन गए और उन्होंने पश्चिमी काव्यालकार और पश्चिमी काव्य-परिभाषा ग्रहण की। काव्यों की परिभाषा उन लोगों ने ध्वनि एव व्यजना के ही रूप में स्वीकार की। छायावादी कवि 'प्रसाद' जी ने तो 'छायावाद' की व्याख्या करते हुए उसे स्पष्ट ही आलोककार की 'ध्वनि[२]' माना है। यह व्यंजना पश्चिमी सजेस्टिवनेस से भिन्न नहीं है। डा० लाल ने[३] इसे भिन्न बताया है और प०[४] रामदहिन मिश्र ने इसका खडन किया है वस्तुत डा० साहब जब इसे भिन्न कहते हैं, तो उनका अभिप्राय यह नहीं है कि ध्वनि या व्यजना तत्व ही उनका दूसरा है, वल्कि यह भेद प्रयोग-पद्धति मात्र को लेकर किया गया है। प्रयोग पद्धति का वैभिन्न्य नूतन प्रयोगों के प्राचुर्य से आता है। इसी पश्चिमी नई प्रयोग पद्धति के रास्ते व्यंजना का प्रसार देखना इस खड का लक्ष्य है।

आचार्य शुक्ल जी ने भी अपने इतिहास में नवीन कविता की विशेपताओं का विश्लेपण करते हुए लिखा है 'छायावाद का जन्म द्विवेदी काल की रूखी इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया में हुआ था, अतः इस प्रतिक्रिया का प्रदर्शन केवल लक्षणा एव व्यंजना गर्भ अन्योक्ति प्राचुर्य के ही रूप में नहीं, कहीं कहीं उपमा और उत्प्रेक्षा के भरमार के रूप में भी हुआ। इनमें से उपादान एव लक्षणलक्षणाओं को छोड़कर और सब बातें और किसी न किसी प्रकार की साम्यभावना के ही आधार पर खडी होने वाली हैं। साम्य को लेकर अनेक प्रकार की अलंकृत रचनाएँ पहले भी होती थीं तथा रीतिकाल और उसके पीछे भी होती रही हैं। अतः छायावाद की रचनाओं के भीतर साम्यग्रहण की उस प्रणाली का निरूपण आवश्यक है, जिसके कारण उसे एक विशिष्ट रूप प्राप्त हुआ[५]।

शुक्ल जी ने बताया है कि 'साम्य' मुख्यत. तीन प्रकार का बताया गया है—सादृश्य (रूप या आकार साम्य), साधर्म्य (गुण एव क्रिया का साम्य),

---

१—वही।
२—काव्य कला तथा अन्य निबंध।
३—वही [आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास]।
४—काव्यालोक।
५—हिंदी साहित्य का इतिहास।

एव शब्दसाम्य। भारतीय दृष्टि से साम्य के तीन प्रकार नहीं बन सकते। यहाँ 'साम्य' का अर्थ 'सादृश्य' किया जाता है और साधर्म्य इसी सादृश्य का निष्पादक है, और कुछ नहीं। साधर्म्य साधारण धर्म का उपमान एवं उपमेय मे होने वाला एक संबध है। हाँ, यह साधारण धर्म अलबत्त तीन प्रकार का है—गुण, क्रिया एव शब्द-साम्य। अस्तु, शुक्ल जी ने शब्द-साम्य को तो शब्द-क्रीडा में रुचि रखने वाले कवियों का खेलवाड बताया है। रहे, सादृश्य एवं साधर्म्य। विचार करने पर इन दोनों में 'प्रभाव-साम्य' ही मिलेगा। 'छायावाद' बड़ी सहृदयता के साथ इस 'प्रभाव-साम्य' को ही लेकर चला है। कही तो बाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यंत अल्प या न रहने पर भी आभ्यंतर प्रभाव-साम्य को ही लेकर अप्रस्तुतों का सन्निवेश कर दिया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत ही 'प्रतीक' (सिम्बल्स) कहे जाते हैं। 'प्रतीक' और 'चिह्न' पर्याय हैं, पर इस प्रसग में 'प्रतीक' एक विशेष प्रकार के 'उपमान' को न कहकर 'अप्रस्तुत' को ही कहना अधिक सगत है। शुक्ल जी ने 'प्रतीक' को एक विशेष प्रकार का उपमान ही बताया है, पर ऐसा मानने से कही कहीं अड़चन आती है। उदाहरणार्थ, 'उषा' को 'आनंद' का प्रतीक माना गया है। यहाँ 'उषा' 'आनद का उपमान नहीं है, क्योंकि इसमें साम्य की अपेक्षा होती है, जो 'उषा' में नही है। वस्तुत यहाँ 'उषा' एवं 'आनद' का कार्यकारण भाव सबध है, उपमानोपमेय भाव संबंध नहीं। अब यदि उपमान ही को प्रतीक माना जाय, तब तो उषा को प्रतीक नहीं कहना चाहिए, अत उपमान के पर्याय रूप में प्रयुक्त होकर भी कही उससे व्यापक अर्थ रखने वाला 'अप्रस्तुत' शब्द ही 'प्रतीक' का परिचय ठीक दे सकेगा। साराश यह हुआ कि आभ्यंतर प्रभाव साम्य के आधार पर लाक्षणिक एव व्यजनात्मक पद्धति का प्रगल्भ एवं प्रचुर विकास छायावादी काव्य-शैली की असली विशेषता है।

'प्रसाद' जी की रचनाओं में शब्दो के लाक्षणिक वैचित्र्य की प्रवृत्ति उतनी प्रबल नहीं रही है, जितनी साम्य की दूरारूढ़ भावना की। उक्त प्रभाव साम्य को लेकर चलने वाली प्रतीक पद्धति वेदों से चली आ रही है। हिंदी के कबीर आदि महात्माओं में भी साम्प्रदायिक प्रतीकों का प्रयोग प्रचुर रूप से उपलब्ध होता है, परन्तु आज के हिंदी साहित्य के प्रतीकों का स्रोत एवं प्रवृत्ति कुछ और हो गई है। इन लोगों के आदर्श महाकवि 'टैगोर' है और स्वय टैगोर १९ वीं शती की अंतवाली प्रतीक पद्धति से प्रभावित है। इन प्रतीकों के

सैद्धांतिक रूप की विवेचना पहले की जा चुकी है। आज व्यंजना इन नव-नव प्रतीकों के माध्यम से अपना प्रसार-क्षेत्र विस्तृत करती जा रही है।

प्रतीक और व्यंजना:—'कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जिनसे केवल अर्थ मात्र ही नहीं प्रतीत होता, वरन् भावनाओं का उदबोधन भी होता है। जिन वस्तुओं में तनिक भी निजी विशेषता होती है तथा जिन पर दीर्घ सास्कृतिक वासना का प्रभाव पड़ा है, वे शब्द हमारे काव्य में प्रतीक का कार्य करते हैं। प्रतीक जिन तमाम सूक्ष्म एवं स्थूल अव्यक्त एवं व्यक्त संकेतों से लिपटे रहते हैं, ग्राहक उनका ग्रहण व्यजना से ही करता है। ये प्रतीक गोचर एव अगोचर दोनों तरह के होते हैं। अप्रस्तुत में जितना ही प्रतीकत्व रहेगा, इसके आधार पर व्यंजना भी उतनी ही सुदर होगी।

गोचर या मूर्त प्रतीक के उदाहरण—सस्कृत शास्त्रों के अनुसार मूर्तत्व एव अमूर्तत्व की परिभाषाएँ भिन्न भिन्न हैं, पर हिंदी में मूर्त एवं अमूर्त के सबध में मोटी धारणा यही है कि जो चक्षुगोचर हो, वह मूर्त और जो चक्षु गोचर न हो वह अमूर्त। अथवा और चलती धारणा के अनुसार कहा जाय तो चित्त वृत्तियाँ अमूर्त एव उनसे अतिरिक्त दृष्ट पदार्थ मूर्त है—

'करुण भौंहों में था आकाश, हास में शैशव का संसार'

—पत

यहाँ 'आकाश' शून्यता या उदासी का प्रतीक है। हिंदी की धारणा इसे गोचर प्रतीक ही कहेगी, यद्यपि तर्कशास्त्री 'आकाश' को मूर्त या गोचर नहीं मानते, इन लोगों के मत से आकाश एक रूपविहीन द्रव्य है और रूपविहीन द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता। जो हो, हिंदी की दृष्टि से यह मूर्त प्रतीक है।

प्रतीक प्राय वाछित अर्थ प्रयोजनवती लक्षणा से ही देते हैं। यह प्रयोजनवती लक्षणा प्रायः शुद्धा साध्यवसाना या गौणी साध्यवसाना होती है। कारण यह है कि प्रतीक अप्रस्तुत ही होते हैं और प्रस्तुत का निगरण किए रहते हैं। जहाँ प्रस्तुत का निगरण होता है, वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है। यदि अप्रस्तुत एव प्रस्तुत में सादृश्य संबंध है, तब तो गौणीसाध्यवसाना होती है और सादृश्य से अतिरिक्त कार्यकारण भाव आदि अन्य संबध होता है, तब शुद्धा साध्यवसाना होती है। प्रस्तुत स्थल में 'प्रस्तुत' है शून्यता, जो खिन्नता या उदासीनता का अनुभाव है, वह 'आकाश' रूप अप्रस्तुत से निगीर्ण है। 'शून्यता' एव 'आकाश' में सादृश्य संबध न होने से यहाँ शुद्धा

साध्यवसाना ही है। करुणभौंहों में 'शून्यता' का तात्पर्य, प्रसन्नता व्यंजक अवस्था की शून्यता या अभाव है। इस लक्ष्यार्थ (शून्यता) की प्रतीति होने पर हृदय की खिन्नता का अतिरेक व्यजना वृत्ति से प्रतीत होता है।

अगोचर प्रतीक का उदाहरण—आचार्य शुक्ल ने अपनी 'रसमीमांसा' के 'कल्पितरूपविधान' में वर्तमान काव्यधारा की लाक्षणिक वक्रता की चर्चा करते हुए एक उदाहरण दिया है—'लाज में लिपटी उषा समान'

—श्री पंत

यहाँ 'लाज' एक अमूर्त वस्तु है, जो 'अरुणिमा' का प्रतीक है। यहाँ भी 'लाज' एवं 'अरुणिमा' में जन्यजनक अव सवध है, अत. गौणी लक्षणा न होकर शुद्ध साध्यवसाना ही होगी। यहाँ प्रस्तुत किस प्रकार निगीर्ण है—यह स्पष्ट ही है। सब मिलाकर उक्त पंक्ति का अर्थ स्पष्ट है कि नायिका लज्जा-प्रसूत अरुणिमा से रंजित होकर एकदम उषा के समान लक्षित हो रही है। अरुणिमा का जो स्वयं लज्जा के अतिरेक से प्रसूत होता है—आतिशय्य व्यक्त करना ही यहाँ लक्षणा का प्रयोजन है, जो व्यजना व्यापार का विषय है।

सुधांशु जी ने प्रतीकों का विभाजन दूसरी दृष्टि से किया है इनके विचार से प्रतीक दो प्रकार के हैं (इन्टेलेक्चुअल) विचारोत्तेजक एव (इमोशनल) भावोत्तेजक। कुछ प्रतीक (चिन्ह) विचारों का उत्तेजन करते हैं और कुछ भावों का। पहले प्रकार के प्रतीकों का सबंध गणित आदि बौद्धिक वाङ्मय मे है और दूसरे प्रकार के प्रतीकों का संबंध साहित्य से। विचारोत्तेजक प्रतीक अंकगणित या बीजगणित के चिह्न विशेष ही हैं।

'झञ्झा झकोर गर्जन है, बिजली है नीरद माला।
पाकर इस शून्य हृदय को आ सबने डेरा डाला।'

—आंसू

इस पद्य में झञ्झा, झकोर, गर्जन, बिजली तथा नीरदमाला साहित्यिक प्रतीक हैं जो आतरिक वृत्तियों का 'सादृश्य' वशात् बोध कराते हैं। यहाँ अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत का सादृश्य सवध होने से गौणी सारोपा लक्षणा स्पष्ट ही है। इसमें झञ्झा—भीतरी संघर्ष का, बिजली टीस का, एव नीरदमाला उमड़ती हुई वाष्पराशि का प्रतीक है। जिस प्रकार आकाश के उर पर छाई हुई नीरदमाला के बीच बिजली अपनी लपटों में लिपटी हुई रह रहकर कौंध

उठती है, ठीक यही स्थिति वियोगी के सूने हृदय पर उमड़ती हुई वाष्पराशि के बीच एक ज्वालामयी तीखी टीस की भी है। भावों का भीषण संघर्ष छिड़ जाता है। मधुमयी वृत्तियाँ अपनी अतृप्ति में दाढ़ मारकर चिल्लाने और हाहाकार करने लगती है। सारा हृदय-देश एक वर्षाकालीन आसमान बन जाता है। इन प्रतीकों से हार्दिक वृत्तियों की भीषणता एवं उनका अतिशायक रूप संकेतित किया गया है और वह व्यजनावृत्ति से ही प्रकाशित होता है।

प्रतीकों का एक अन्य दृष्टि से भी विभाजन है, जिसकी चर्चा सुधांशु एवं रामदहिन मिश्र—दोनों ने की है। यह विभाजन है—शुद्धप्रतीक एवं लाक्षणिक प्रतीक।

> 'करुण भौंहों में था आकाश, हास में शैशव का संसार।
> तुम्हारी आँखों में कर वास, प्रेम ने पाया था आकार।
> उषा का उर में है आवास।'
>
> —पंत

यहाँ उन दोनों मनीषियों के मत से 'उषा' शुद्ध प्रतीक है, जो 'पावित्र्य' या 'आनंद' का लक्षक है। 'उषा' के द्वारा पवित्रता एवं आनंद का बोध कराने में कवि सात्त्विकता एव शातिमयता का भी संकेत देता है। स्पष्ट है कि सकेत के ग्रहण में व्यजना की ही उपासना होती है' 'शैशव का संसार' तथा 'विचारों में वच्चों की सांस' इत्यादि लाक्षणिक प्रतीकों के उदाहरण है। शुद्ध प्रतीक से लाक्षणिक प्रतीकों के अंतर के संबंध में उनका कहना है कि ये उपमान लाक्षणिकता के बल पर रक्खे जाते हैं। दूसरे यह कि ऐसे उपमानों के विधान में प्राय लाक्षणिक चमत्कार दिखलाने के लिए धर्म के स्थान पर धर्मी का प्रयोग कर दिया जाता है।[1]" परतु सुधांशु जी के उक्त भेदक तत्व बहुत स्पष्ट नहीं है, कारण यह है कि इन्होंने निम्नलिखित दो तत्वों का निर्देश किया है—

(१) लाक्षणिकता का बल तथा (२) धर्म के स्थान धर्मी का प्रयोग इन दोनों में से प्रथम तत्व तो 'शुद्ध एवं 'लाक्षणिक' उभयविध प्रतीकों में स्थित हैं। 'आकाश' का आधार 'भौंहों' में बताया गया, जो वाच्यार्थ की

१—'काव्य में अभिव्यजना'—

—श्री सुधांशु

दृष्टि से सर्वथा असंगत है, अतः यहाँ लक्षणा का होना नितांत आवश्यक है। लाक्षणिक प्रतीक में तो स्वयं सुधांशु जी स्वीकार करते हैं, अतः प्रथम भेदक तत्व ठीक नहीं, वह उभयनिष्ठ होने के कारण भेदक नहीं हो सकता। रही दूसरी विशेषता या भेदकत्व—धर्म के स्थान पर धर्मी का प्रयोग। मोटी दृष्टि से देखा जाय, तो यह भेदक तत्व भी ठीक नहीं है, 'शून्यता' धर्म है और उसके लिए उक्त है 'आकाश' रूप धर्मी। 'हाँ, 'उषा' से जो 'धर्म' (आनद) लक्षित होता है, स्वयं 'उषा' उसका धर्मी नहीं है अर्थात् 'उषा' में 'आनद' वृत्ति नहीं है, 'बच्चों' एव 'भोलापन' में धर्मधर्मिभाव है। यहाँ भेदक के निर्व्यूढ होने पर भी 'शैशव' एव 'भोलापन' में तो धर्मधर्मिभाव नहीं है, अत. यह भेदक तत्व भी ठीक नहीं है, और किसी तरह इस तत्व को भेदक मान भी लें, तो उचित यह था, कि दूसरे प्रकार के प्रतीक को लाक्षणिक प्रतीक न कहकर 'धर्मी प्रतीक' या कुछ इसी तरह का कहना चाहिए, क्योंकि शुद्ध प्रतीक से इसका व्यावर्तक लाक्षणिकता जब नहीं है, तो उससे युक्त नामकरण का कोई स्वारस्य नहीं है। शायद इसीलिए आचार्य शुक्ल ने इन सब प्रकार के प्रयोगों को लाक्षणिक प्रयोग मात्र कहकर छोड़ दिया है, उसके विभाजन के चक्कर में पड़ने नहीं गये हैं।

इन लाक्षणिक प्रतीकों में लक्षणा का कार्य बड़ा ही चक्करदार है। उदाहरण के लिए हम 'विचारों में बच्चों की साँस' को ले सकते हैं। यह शब्द अंग्रेजी के 'इन्नोसेंट ब्रीथ' का हिन्दी रूप है। 'बच्चों की साँस' को 'भोलापन' का प्रतीक बताया गया है। भारतीय प्रयोजनवती लक्षणा की दृष्टि से यदि इस प्रयोग की चीर-फाड की जाय, तो वह यों होगी—इस प्रयोग में 'विचारों में बच्चों का साँस' कहकर 'विचारों' को आधार एवं 'बच्चों की साँस' को आधेय बनाया गया है, जो अभिधेयार्थ की दृष्टि से बिलकुल असंगत है। अत मुख्यार्थबाध के अनतर वांछित अर्थ की प्रतीति के लिए लक्षणा की ही उपासना करनी होगी। लक्ष्यार्थ ऐसा होना चाहिए, जिसका मुख्यार्थ से सबध हो, और जिसमें यथाश्रुत (आधाराधेय भाव) सबंध बन जाय। इस दृष्टि से यहाँ का लक्ष्यार्थ हुआ—'भोलापन—सरलता-निष्कपटता'। यह 'निष्कपटता' मूलवाच्यार्थ से आधाराधेय भाव रूप से सबद्ध भी है और 'विचार' के साथ उसका यथाश्रुत (आधाराधेय भाव) संबध भी बन जाता है अर्थात् 'विचारों में निष्कपटता' रह ही सकती है। इतना होने पर भी 'बच्चों की साँस' में से केवल 'बच्चों' की लक्षणा हुई और तब स्वरूप हुआ—'विचारों

में निष्कपटता की साँस है। अब, निष्कपटता की साँस" भला कब संभव है? अत· 'साँस' पद अब भी लक्षणा की आवश्यकता रखता है? वस्तुतः 'साँस' पद की लक्षणा 'सत्ता' रूप अर्थ में है क्योंकि 'साँस' एवं व्यक्ति की 'सत्ता' में द्योत्यद्योतक भाव सबद्ध है। इस प्रक्रिया से 'विचारों' में बच्चों की 'साँस'—इस वाक्य का लक्ष्यार्थ हुआ 'विचारों में निष्कपटता की सत्ता' है।

इस प्रकार प्रतीकों के माध्यम से लक्षणामूला व्यजना का प्रसार उत्तरोत्तर हो रहा है। प्रतीकों में प्रयोजनवती लक्षणा की शुद्धा तथा गौणी साध्यवसाना लक्षणाएँ काम करती हैं। प्रयोजनवती लक्षणा के इतर रूपों का भी प्रचुर प्रयोग आज नये ढग से हो रहा है। द्विवेदीकाल तक की हिंदी कविता में लाक्षणिकता का एक प्रकार से अभाव ही रहा, केवल कुछ रूढ लक्षणाएँ मुहाविरों के रूप में कहीं कहीं मिल जाती थीं। ब्रजभाषा में यदि किसी ने लाक्षणिक प्रयोगों का साहस दिखाया तो केवल घनानद ने। नवीन उत्थान में सबसे अधिक लाक्षणिक साहस पंत जी ने दिखाया है और उसका कारण कुछ तो व्यक्तिगत प्रतिभा और कुछ लाक्षणिक प्रवृत्ति वाली आँग्ल-भाषा का अनुगमन है। 'पंत' जी की यह प्रवृत्ति खुलकर 'पल्लव' में जितनी आई है, उतनी अन्यत्र नहीं। इस लक्षणा के ही परिवेश में अग्रेजी के रूढ प्रयोग (अलंकार) प्राय· आ जाते हैं, जो आज हिंदी में अधाधुध उतारे जा रहे हैं, अत· इस रास्ते भी व्यजना का मुँह अधिक खुला है। 'छायावाद' कालीन भाषा को आलोचकों ने (इमेजिनेटिव लैंग्वेज) कल्पनागर्भ भाषा कहा है और इस भाषा की सपत्ति लाक्षणिक प्रयोग है।

उपादान लक्षणा के उदाहरण—

प्रणय का चुम्बन छोड़ अधीर
अधर जाते अधरों को भूल।
अरे वे अपलक चार नयन
आठ आँसू रोते निरुपाय,
उठे रोओं के आलिंगन
कसक उठते काँटों मे हाथ!

—'पत' का 'अनित्य जग'

भिन्न टाइप वाले पक्तियों में उपादान लक्षणा काम कर रही है। अधर को अधरों का भूलना 'वाच्यार्थ की दृष्टि से असगत प्रयोग है, अतः 'अधर' शब्द

'अधर' वालों के अर्थ में लाक्षणिक है। पहले बताया जा चुका है कि उपादान लक्षणा के बल से वाच्यार्थ कुछ और अर्थ का (उपादान) ग्रहण करके लक्ष्यार्थ की कोटि में प्रवेश करता है। इस प्रकार लक्षणा की सहायता से सपूर्ण वाच्य का अर्थ हुआ 'इस अनित्य जग में जो दो प्रणयी एक दिन यौवन के मधुमय वातावरण में चुंबन आदि रसमय व्यापारों से 'संयोग सुख' ले रहे थे, निठुर देव अकस्मात् उनमें से किसी को छीन लेता है और फिर जीवित अधर वाला प्रणयी वियोग की प्रतप्त वाष्प राशि में फूल से कपोलों को झुलस डालता है, इतना ही नहीं उत्तरोत्तर पड़ती हुई समय की धूलि एक दिन मृत अधरवाले की स्मृति पर अपनी इतनी मोटी तह जमा देती है, कि वह उसी में दब जाता है।' इसी प्रकार 'अरे वे अपलक चार नयन भी' तब तक 'निरुपाय' होकर आठ आँसू नहीं रो सकते 'जब तक कि ग्राहक 'लक्षणा' वृत्ति की उपासना नहीं करेगा। लक्षणा से अपलक चार नयन का अर्थ है 'निर्निमेष नेत्रों से विलोकनप्रवण दो प्रणयी।' 'अनित्य जग' जब इनमें से किसी को विनष्ट कर डालता है, तब नियति से लड़ने में दुर्बल मानव 'निरुपाय' होकर आठ आठ आँसू रोता रहता है। इसी प्रकार 'रोएँ' क्या आलिंगन करेंगे ? हाँ, पुलकित व्यक्ति आलिंगन कर सकते हैं। इन तीनों स्थलों में लक्षणा का प्रयोजन क्रमशः 'चुंबन व्यापार' 'आलिंगन व्यापार' 'एव' 'विलोकन व्यापार' के अतिरेक को सूचित करता है। यही कारण है कि अन्य अगों के वर्तमान रहते हुए भी कुछ इने गिने सरस व्यापार शील अंगो के द्वारा ही कवि ससार के विभिन्न रंगमय चित्रों को उपस्थित करता है और उनके विनाश द्वारा ससार की अनित्यता प्रतिपादित करता है।

इसी प्रकार एक उदाहरण 'पत' जी की 'ग्रंथि' मे लीजिए—

'अल्पता की संकुचित आँखें सदा, उमड़ती हैं अल्प भी अपनाव मे' यहाँ सभी पदार्थों का विभक्तियों द्वारा द्योतित संबंध बाधित है। न तो 'अल्पता' को 'आखें ही होती हैं और न इन जड़ आँखों में 'सकोच' ही। अतः इन सभी स्थलों में लक्षणा होगी और प्रयोजनाश सर्वत्र व्यजना से गृहीत होगा। यहाँ 'अल्पता' की लक्षणा 'अल्पतावाले' अर्थात् हर तरह से 'घोर दरिद्र' में होगी और 'सकुचित' का लक्ष्यार्थ होगा 'कृतज्ञता के भार से झुकी हुई'। आँखों के उमड़ने से तात्पर्य है हर्षोद्रेकवश प्रसूत अश्रुबिंदुओं से उत्फुल हो जाना। इन लक्षणाओं का प्रयोजन कहीं 'दारिद्र्य का अतिरेक' कहीं 'कृतज्ञता का आतिशय्य' आदि होंगे और ये ही व्यजना के कार्य हैं। इस प्रकार सभी

लक्ष्यार्थों को एकत्र करें, तो उक्त पद्य का अर्थ होगा घोर दरिद्र व्यक्तियों को यदि महानों का अल्प अपनाव भी प्राप्त हो जाय, तो वे कृतज्ञता के भार से इतना झुक जाते हैं कि आँखों में विनति उद्वेल हो उठती है, आनंदाश्रु उमड़ पड़ते हैं।'

अंग्रेजी साहित्य का और प्रयोग है—अमूर्त का मूर्त विधान। लाक्षणिक मूर्तिमत्ता या भावों का गोचर रूपविधान इसी के भीतर आ जायगा। विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि भावों की कल्पना (भावित अनुभूति) जब कारयत्री प्रतिभा को बहुत तीव्र एवं स्पष्ट होती है और उन्हें कवि व्यक्त करना चाहता है, तो सूक्ष्म भावों को मिलता जुलता गोचर रूप देकर उन्हें आकारवान बना देता है और इस क्रिया से भाषा में प्रभविष्णुता आ जाती है। उदाहरणार्थ नीचे की पंक्तियाँ देखिए—

'इस करुणा कलित हृदय में, क्यों विकल रागिनी बजती।
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती।'
—आँसू

प्रस्तुत स्थल में 'वेदना' को 'गरजाया' गया है। यद्यपि 'गरजना' क्रिया की कर्तृता मुख्यतः लोक में अंनः वाष्पमय बादलों में ही प्रसिद्ध है, परतु 'असीम' विशेषण के संपर्क से यहाँ समुद्र का 'गरजना' ही भीतरी आँखों के सामने आता है। ऐसा लगता है कि वेदना असीम समुद्र की भाँति अपने आपे में अपने वेग को सम्हाल नहीं पाती है और गरज गरज कर उत्कूल हो जाने का यत्न करती है। किसी सूक्ष्म भाव में मूर्त पदार्थों की क्रियाओं का सम्बध जोड़ देने से वे भाव गोचर हो उठते हैं। यहाँ वही किया गया है। यहाँ 'गरजना' क्रिया की 'कर्तृता' वेदना में बाधित है, अत इसकी लक्षणा 'आवेग' में होगी, तभी 'वेदना' की उक्त क्रिया से संगति बन सकेगी। इस आवेग का आतिशय्य व्यग्य है, जो लक्षणलक्षणा का प्रयोजन है। यहाँ लक्षणलक्षणा का प्रयोग इसलिये है कि 'पद' अपने वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग (लक्षण) करता है, और एक अन्य ही संबद्ध अर्थ लाता है। छायावादी कविता ऐसे प्रयोगों से भरी हुई है।

एक दूसरा नवीन प्रयोग है—धर्मी के लिये धर्म का प्रयोग। यहाँ उक्त प्रयोग का वैपरीत्य है अर्थात् यहाँ मूर्त का सूक्ष्म विधान किया जाता है।

'बंद हुए हैं आज जेल में पुण्य हमारे पर्व'
सत्य, अहिंसा, देशभक्ति औ भारत गौरव गर्व ॥

तथा

जो चाहो सो दंड दो मैं तो हूँ अपराध।

इन स्थलों में होता यह है कि जो व्यक्ति अपनी जिस विशेषता के लिये प्रसिद्ध है, भावातिरेक में उसे वही (गुण) कह दिया जाता है और उसी के द्वारा धर्मी का बोध हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि इन स्थलों में उपादान लक्षणा ही काम करती है। गुण या धर्मवाचक शब्द अपने वाच्यार्थ को अर्थांतर से युक्त करके लक्ष्यार्थ के परिवेश में स्थापित कर देता है। स्पष्ट है कि इस तरह के प्रयोगों का एकमात्र लक्ष्य होता है उन उन गुणों का उन उन गुणियों में आतिशय्य लक्षित कराना।

उक्त स्थल में अहिंसा, सत्य, देशभक्ति आदि को बंदी कहा गया है, जो वाच्यार्थ की दृष्टि से असंगत है। बंदी मूर्त (व्यक्त) हो सकते हैं, 'अमूर्त भाव नहीं। अत. उनमें बंदी-भाव दिखाने के लिये उपादान लक्षणा का सहारा लेना चाहिए। यहाँ सूक्ष्म की लक्षणा मूर्त पदार्थों के लिए की गई है, सत्य एवं अहिंसा की प्रसिद्धि गाधी में है, अतः ये पद 'गांधी' को ही लक्षित करते हैं। इसी प्रकार अन्य गुण भी हमारे मान्य नेताओं को लक्षित करते हैं।

एक और नवीन प्रयोग है विशेषण विपर्यय (Transferred Epithet–In this figure an epithet is transferred from a word to, which is properly belongs to some other word closely connected with it) एक विद्वान का विचार है कि किसी कथन को विशेषण अर्थ से गर्भित तथा गभीर करने के विचार से विशेषण का विपर्यय कर दिया जाता है। वस्तुतः अभिधावृत्ति से विशेषण की जो जगह हो सकती है, उसे वहाँ से हटाकर लक्षणा के सहारे दूसरे जगह बिठा दिया जाता है और इससे काव्य सौष्ठव समृद्ध हो जाता है। भावाधिक्य की व्यजना के लिये इसका प्रयोग अत्यंत सुंदर है। उदाहरण लीजिए—

'कल्पने ! आओ सजनि ! उस प्रेम की, सजल सुधि में मग्न हो जावें
पुन', खोजने खोये हुए निज रत्न को'

—पंत की 'ग्रंथि'

यहाँ 'सजल' को 'सुधि' का विशेषण बनाया गया है। वस्तुतः सजल से अभिप्राय है—वाष्पमयता का, जो आँखों की विशेषता है। वस्तुतः 'सुधि' स्वय 'सजल' नहीं है, बल्कि (आँखों में) 'सजलता' का कारण है। स्पष्ट है यहाँ विशेषण स्थानातरित कर दिया गया है। अब देखना यह है कि 'सजल' एव 'सुधि' में जो विशेषण—विशेष्यभाव सबध कवि को विवक्षित है, वह किस प्रकार बन सकता है ? उक्त दोनों पदों के वाच्यार्थ तो परस्पर विशेषण विशेष्य भाव सपन्न नहीं हो सकते, फिर लक्षणा का सहारा आवश्यक है। वस्तुतः यहाँ 'सजल' शब्द 'सजल हेतु' अर्थ को लक्षित करता है और तब दोनों का विशेषण—विशेष्य भाव संसर्ग संपन्न हो जाता है। 'स्मृति' में अतः वाष्प को उभाड़ने का कारणातर से जो आधिक्य है, उसी की प्रतीति व्यजना का लक्ष्य है। दूसरा उदाहरण लीजिए—

'भीख की भूखी झोली छीन, मान सच कुछ भी पायेगा न।
छान सूने मसान की खाक, हाथ कोई विधि आयेगा न।'

यहाँ झोली का विशेषण 'भूखी' है जब कि 'भूख' का सबध प्राणी के पेट से है, अतः झोली भूखी कभी नहीं हो सकती। फिर 'भूखी' की लक्षणा (आवश्यकता होने पर भी) 'सूनी' में है। अब सूनी झोली हो सकती है। यहाँ रिक्तता का अतिरेक ही व्यग्य है।

आजकल के नवीन व्यजक प्रयोगों में मूर्त के लिए अमूर्त का विधान एक है। इसमें मूर्त सामान्य की जगह अमूर्त का कथन होता है। धर्मी के लिए धर्म का जो विधान होता है, उसका संबंध व्यक्ति से होता है, और यहाँ का अमूर्त जाति से संबंध रखता है। उदाहरण लीजिए—'दीनता के ही विकम्पित पात्र में ज्ञान बढ़कर छलकता है प्रीति से 'यहाँ 'दीनता' एक भाव-वाचक संज्ञा है, जिसको हाथ ही नहीं फिर पात्र कैसे ले सकता है ? अत 'दीनता' पद 'दीन व्यक्ति' के अर्थ में लाक्षणिक है। यहाँ भी उपादन लक्षणा ही है।

इसी प्रकार एक प्रसिद्ध प्रयोग 'मानवीकरण (परसानिफिकेशन) भी है। इसका प्रयोग भारतीय साहित्य में भी मिलता है और लक्षण ग्रथकारों[1]

१—भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्ट सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया।
—ध्व० श्रा० तृ० उ० पृ० ४६८ सन् १६२०।

ने भी इस प्रकार के प्रयोग की अनुमति दी है। हाँ यह अवश्य है कि इस अनुशासन के प्रायोगिक रूप में यत्र-तत्र मिलना एक बात है और एक प्रवृत्ति-विशेष के रूप में बराबर मिलना दूसरी बात। प्राय. जितने प्रकार के प्रयोग ऊपर दिखाये गए है, उन सबके संबंध में यह बात लागू होती है।

मानवीकरण का अर्थ है[१]—अमानव को मानव के रूप में अथवा और व्यापक करके कहें तो—'अचेतन को चेतन के रूप में वर्णन करना। ध्वन्यालोक-कार ने यही तो कहा है कि अचेतन भावों को चेतन की तरह कवि स्वेच्छा पूर्वक वर्णन कर सकता है। उन्होंने तो आगे बढ़कर यह भी कह दिया कि वह चाहे तो चेतन को अचेतन की भाँति भी वर्णन कर सकता है। अचेतन को चेतन की तरह वर्णित करने का यह अर्थ है कि उन्हें (अचेतनों को) जीवन और अतःकरण दिया जाय और उसके गुण—धर्मों का उनमें इस प्रकार वर्णन किया जाय, कि लगे, वे उनके अपने व्यापार और विशेषतायें ही हों।

'प्रसाद' ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक कामायनी में 'लज्जा' वृत्ति को चेतनरूप ही दिया है। 'लज्जा' एक चितवृत्ति होने के कारण वह अचेतन हुई, पर उसे एक स्त्री के रूप में प्रतिष्ठित किया गया, जो 'गुनगुना उठती है।' उसके सारे व्यापार इस तरह वर्णित हैं, जो उसके अपने जान पडते हैं। शुक्ल[२] जी ने इस विशेपता की चर्चा करते हुए कहा है कि छायावादी 'भापा' में कलावाद एव अभिव्यंजनावाद का पहला प्रभाव यह दिखाई पडा कि काव्य में भावा-नुभूति के स्थान पर कल्पना का विधान ही प्रधान समझा जाने लगा और कल्पना अधिकतर अप्रस्तुतों की योजना करने तथा लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और विचित्रता लाने ही में प्रवृत्त हुई। दूसरा प्रभाव प्रकृति वर्णन के क्षेत्र में वैचित्र्यपूर्ण 'काल्पनिक' प्रयोग का लक्षित होता है। यूरोपीय साहित्य में तो यह मत ही प्रचार पाने लगा कि प्राकृतिक दृश्यों का प्रत्यक्षीकरण मात्र तो स्थूल व्यवसाय है, उनको लेकर कल्पना की एक सृष्टि खड़ा करना ही कवि कर्म है। 'इस प्रवृत्ति के अनुसार कुछ लोगों ने तो प्रकृति के नाना रूपों के बीच व्यंजित होने वाली भावधारा का बहुत सुंदर उद्घाटन किया पर

१—"Personification is a figure by which we attribute life and mind to inanimated things and ideas with qualities and passion life his own."

२—हिंदी साहित्य का इतिहास।

बहुतेरे अपनी बेमेल भावनाओं का आरोप करके उन रूपों को अपनी अंतर्वृ-त्तियों से छोपने लगे । उदाहरणार्थ—

जग के दुःख दैन्य शयन पर यह रुग्णा जीवन बाला ।
पीली पर निर्बल कोमल कृश देह लता कुम्हिलाई ।
विवसना, लाज में लिपटी, साँसों में शून्य समाई ।

चाँदनी के सहज स्वरूप को कवि ने अपनी अंतर्वृत्ति को प्रतिबिंबित करने में पूरा पूरा ढँक दिया है । चाँदनी सामान्यत उक्त प्रकार की भावना नहीं जगाती । उसके संबंध में यह उद्भावना भी केवल स्त्री की मुद्रा सामने खड़ी करती दिखाई पड़ती है । इस प्रकार की विचित्र चित्र-विधायिनी कल्पना का प्रयोग काव्य को कला मान लेने से है । काव्य भी जब कला हो गया, तो उसका लक्ष्य भी धीरे धीरे सौंदर्य-विधान हो गया और इस सौंदर्य की भावना को रूप देने में मनोविज्ञान के क्षेत्र से आए हुए उस सिद्धांत का भी असर पड़ा है, जिसके अनुसार अंतस्संज्ञा में निहित अतृप्त कामवासना ही कलानिर्माण की प्रेरणा करने वाली वृत्ति है इस प्रकार जब सौंदर्यभावना कामवासना से प्रेरित ठहराई गई तब पुरुष कवि के लिये यह स्वाभाविक ही ठहरा कि उसकी सारी सौंदर्य भावना स्त्रीमयी हो अर्थात् प्रकृति के अपार क्षेत्र में जो कुछ दिखाई पड़े, उसे सुंदर रूप में दिखाने के लिए उसकी सारी सौंदर्यभावना स्त्री के रूप सौंदर्य के भिन्न भिन्न अंग लाकर ही की जाय । अरुणोदय की छटा का अनुभव कामिनी के कपोलों पर दौड़ी हुई ललाई लाकर की जाय, राका रजनी की सुषमा का अनुभव सुंदरी के उज्ज्वल वस्त्र या शुभ्र हास द्वारा किया जाय, आकाश में फैलती हुई कादंबिनी तबतक सुंदर न लगे, जब तक उस पर स्त्री के मुक्त कुंतल का आरोप न हो । आजकल तो स्त्री कवियों की भी कमी नहीं है उन्हें अब पुरुष कवियों का दीन अनु-करण न कर अपनी रचनाओं में क्षितिज पर उठती हुई मेघमाला को दाढ़ी मूछ के रूप में देखना चाहिए ।' यहाँ तक तो छायावादी कविता में अमानव प्रकृति पर मानवीय भावों के आरोप की चर्चा हुई ।

इस मानवीकरण से 'समासोक्ति' नामक अलंकार का बहुत दूर तक मेल है ।

'नीले नभ के शतदल पर बैठी वह शारद हासिनि' ।
मृदु करतल पर शशि मुख धर नीरव, अनिमिष, एकाकिनि ।'

—पंत

इसमें प्रस्तुत है टहकती हुई ज्योत्स्ना, जिसके मानवेतर होने में किसी को सदेह नहीं हो सकता। समासोक्ति में प्रस्तुत या वर्ण्य वृत्तांत से अप्रस्तुत वृत्तांत का स्फुरण होता है। यह अप्रस्तुत वृत्तात व्यंजना के सहारे मिलता है। यहाँ दूसरा अथवा अप्राकरणिक अर्थ जो व्यंग्य हो रहा है वह है एक नायिका का। यह नायिका नीरव एवं निर्निमेष मुद्रा में अपने करतल पर मुखेन्दु को रखी चिंताकातर मुद्रा में बैठी हुई जान पड़ती है।

आधुनिक कविता की ओर प्रवृत्ति है अंग में भावपूर्ण विशेषण, पर इसके लक्ष्य विशेषण-विपर्यय के लक्ष्यों के से प्रतीत होते हैं—

तेरे क्रंदन तक में सुगान, सुनते हैं जग के कुटिल कान।
लेने में ऐसा रस महान्, हम चतुर करें किस भाँति चूक।
ओ कोइल, कह यह कौन कूक?

यहाँ 'कान' में 'कुटिल' विशेषण किया गया है। यह एक भावपूर्ण विशेषण है। कौटिल्य अंतःकरण की एक वृत्ति है, अतः कुटिलता अत.करण में ही संभव है, कान में नहीं। विशेषण विपर्यय में भी तो यही होता है। यहाँ 'कुटिल पद की लक्षणा 'कौटिल्य संपन्न अंतःकरण वाले व्यक्ति' के लिये है। इस प्रकार कुटिलकान का अर्थ है 'कुटिलव्यक्ति के कान'। यहाँ 'कौटिल्य' का आतिशय्य ही व्यंग्य है। यद्यपि लक्ष्यों की एकता होने से लक्षण एक नहीं मान लिए जाते, तथापि 'विशेषण विपर्यय' से उक्त प्रयोग का अनैक्य तभी माना जा सकता है, जब दोनों के लक्ष्य विविक्त या असंकीर्ण रूप से मिलें। यहाँ उपादान लक्षणा स्पष्ट ही है।

इसी प्रकार एक प्रवृत्ति और भी है—अंग से अंगी का बोध। कभी कभी मूर्त्त-विधान की प्रवृत्ति से काव्य में अग को अंगी बना दिया जाता है। मानव शरीर का जो एक अगमात्र है, उसके साथ भी किसी दूसरे अंग का संबंध जोड़ दिया जाता है। यह कार्य बहुधा उसकी प्रवृत्ति तथा वाग्धारा पर विचार रखकर किया जाता है—

'लालची लोचनों के तो मुँह में पानी भर आता।' 'लोचनों' में 'मुँह, जोड देने से भावाभिव्यक्ति सशक्त हो गई है। 'मुँह में पानी भर आना' एक मुहाविरा है जहाँ निरूढ़ा लक्षणा कार्य करती है इसका अर्थ है ललचाना। यहाँ रूप के लालची नेत्रों की विशेषता बताई गई है। बाध 'लालची' विशेषण में है।

कहीं कहीं लक्षणा के बडे ही घुमावदार प्रयोग मिलते हैं। शुक्ल जी ने 'मर्म पीड़ा के हास' में लक्षणा के कसरत की चर्चा अपने इतिहास में की है। रामदहिन जी ने अपने ग्रंथों में 'दुहरी लक्षणा, अस्वाभाविक लक्षणा, प्रयोजन-शून्य लक्षणा आदि के उदाहरण दिए हैं।

छायावाद की प्रमुख प्रवृत्ति अन्योक्ति पद्धति की भी है। छायावाद की रचनाएँ गीतों के ही रूप में अधिक होती हैं। इससे उनमें अन्विति बहुत कम दिखाई पड़ती है। जहाँ यह अन्विति होती है, वहाँ समूची कविता अन्योक्ति पद्धति पर की जाती है। प्रकृति अनत रूपों एव व्यापारों के द्वारा अनेक बातों की गूढ़ या अगूढ़ व्यजना करती है, इसे परख कर ही साम्य विधान करना उचित है अन्योक्ति में अप्रस्तुत द्वारा तुल्य प्रस्तुत की व्यजना की जाती है। नवीन नवीन अन्योक्तियों से व्यजना का प्रसार ही तो होगा। निराला जी की 'झरना' शीर्षक रचना सब जीवात्मा पर घट जाती है, अत वह एक सुदर अन्योक्ति है। इसी प्रकार महादेवी जी की 'पूछता क्यों शेष कितनी रात' भी अन्योक्ति का ही उदाहरण है। यहाँ दीपक अप्रस्तुत एव साधक प्रस्तुत है। साधक परक अर्थ व्यजना व्यापार से मिलता है।

छायावादी कवियों में पर्यायों के प्रयोग पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है। सुमित्रानदन पंत ने लिखा है कि वीचि, ऊर्मि, लहर, तरग आदि पर्यायों में से प्रत्येक अपना एक पृथक् पृथक् अर्थ उपस्थित करते हैं। इसी बातको शुक्ल जी ने 'काव्य' में प्राकृतिक दृश्य' शीर्षक लेख में कहा है कि पदों की अभिधा से जहाँ वैयाकरणों ने जाति, गुण क्रिया एव यदृच्छा रूप साकेतिक अर्थों की चर्चा की, वहाँ 'बिंबार्थ' की चर्चा छोड़ दी। उदाहरण के लिए एक 'कमल शब्द लें' तो स्पष्ट ही 'कमल' शब्द के कथन से दो प्रकार के अर्थ प्रतीत होते हैं सामान्य एव विशेष। अविदग्ध जनों के मानस चक्षु के समक्ष एक सामान्य चित्र ही उपस्थित होता है, पर विदग्धों के हृदय पटलपर एक लाल लाल पखुड़ियों से लदा हुआ धीरे धीरे कमल या पुष्प विशेष प्रत्य-क्षायमाण होता है। यद्यपि शब्द के द्वारा जो पदार्थ मस्तिष्क में स्फुरित होते हैं, वे परोक्ष ही होते हैं, पर विदग्ध ग्राहक का यदि उस पदार्थ का सबंधी सस्कार जागरूक है, तो वह उसका ग्रहण प्रत्यक्षायमाण कमल के रूप में ग्रहण करेगा। परोक्ष ज्ञान का प्रत्यक्ष ज्ञान से अतर स्पष्ट ही है कि परोक्ष ज्ञान के विषयों की वे अशेष विशिष्टताएँ जो प्रत्यक्ष से गृहीत होती हैं, नहीं हो पातीं, अत. परोक्ष ज्ञान सामान्य रूप से ही होता है। इस प्रकार जहाँ

तक अन्वय व्यतिरेक से (ग्राहक निरपेक्ष) शब्द की अभिधा की जितनी शक्ति है, उस से सामान्य अर्थ की ही प्रतीति होती है, विशेष अर्थ के ग्रहण कराने में शब्द की अभिधा शक्ति नहीं काम करती, किंतु ग्राहक के जागरूक संस्कार कार्य करते हैं। अत इस विंवार्थ के विधान में शब्द की अभिधा अक्षम है। हाँ, क्रम यह है, कि पहले ग्राहक सामान्य कमल शब्द सुनता है और इस शब्द के सुनने पर उसे सामान्य अर्थ की प्रतीति होती है, फिर वह सामान्य अर्थ ग्राहक के तत्संबंधी गाढ़ संस्कार को उद्बुद्ध कर देता है और तब अंत करण की विभिन्न वृत्तियाँ उन सस्कारों को जोड़ जाड़कर एक अशेष विशेषताओं से समन्वित कमल को उपस्थित करती हैं। इस क्रम का ज्ञान न होने से ही इस विशेष या विंवार्थ को अभिधा का ही कार्य कह दिया जाता है। वस्तुत. इसमें ग्राहक का सस्कार या कल्पना कार्य करती है। डा० नगेंद्र ने इसी पद्धति को ध्यान में रखकर कहा है कि ऐसे शब्दों में दो प्रकार के सामर्थ्य है। 'एक तो सामान्य या साकेतिक अर्थ के उपस्थापन को और दूसरे विशेष या विंबार्थ के योजक कल्पना के उद्बोधन की। कल्पना के उद्बोधन की यही शब्द-शक्ति या सामर्थ्य व्यजना है। उन्होंने अपने संपादित ध्वन्यालोक की भूमिका में कहा है—'व्यजना कल्पना को उकसानेवाली एक शब्द शक्ति है।' संभवतः वह इसी स्थल को ध्यान में रखकर कहा गया है। पर विचार करने पर यह स्पष्ट लक्षित होता है कि नगेंद्र जी का यह कथन या व्यजना की यह व्याख्या ठीक नहीं है। क्योंकि जहाँ कल्पना से उपस्थापित या खचित विभावादिकों से हम रस प्राप्त करेंगे, वहाँ विभावादिकों का रस के प्रति कौन व्यापार होगा ? विभावादि के उपस्थापन से पूर्व ही यहाँ कल्पना का व्यापार हो चुका है, अत' आगे कल्पना की गुंजाइश है नहीं, तो यहाँ आपके मत से व्यंजना नहीं होनी चाहिए। पर सिद्धात में यहाँ व्यजना स्वीकृत है। व्यजना तो एक प्रकार का प्रकाशन है, जो सिद्ध वस्तुओं से संबध रखती है। रस की इस सिद्धरूपता को ध्यान में रखकर दर्पणाकार ने इसे व्यजना का कार्य न कहकर एक पृथक व्यापार का ही कार्य माना और उसका नाम 'रसना' व्यापार दिया।

प्रश्न यह है कि आखिर कमल शब्द श्रवण के अनंतर जो प्रत्यक्षायमाण कमल रूप पदार्थ का बिंब ग्रहण होता है, उसमें शब्द का वैशिष्ट्य है या ग्राहक का ? और शब्द का वैशिष्ट्य है तो किस प्रकार का है ? इस प्रश्न के समाधान में एक मत का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इस मत के

आविष्कारक नगेंद्र जी हैं। द्वितीय मत है पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र एवं पं० रामअवध द्विवेदी जी का। ये लोग विशेष या बिंबार्थ के उपस्थापन में शुद्ध कल्पना का ही महत्त्व अर्थात् ग्राहक का ही वैशिष्ट्य स्वीकार करते है। पं० महादेव शास्त्री जी का विचार है, जो तृतीय मत कहा जा सकता है—यहाँ शब्द का वैशिष्ट्य है। गुरुचरण शास्त्रों के कट्टर अनुयायी हैं और शास्त्रानुकूल विचार यह है कि कल्पना एवं प्रतिभा एक है और प्रतिभा ऐसे अर्थों के उपस्थापन में सहकारी कारण है। इस अर्थ की उपस्थिति में मुख्य शब्द ही है। प्रतिभा की जागरूकावस्था में भी शब्द की अभिधाशक्ति इन अर्थों का उपस्थापन नहीं कर सकती। क्योंकि ऐसे पुरुषों में जिन्हें कमल की अभिधा गृहीत है, सब समय (अर्थात् प्रतिभा की जागरूक या अजागरूक किसी भी अवस्था में) इस विशेष अर्थ को प्रतीति नहीं होती और उचित यह है कि सब समय जितना अर्थ प्रतीत हो उतने ही से अभिधा माने। सब समय उपस्थित होनेवाला अर्थ सामान्यात्मा ही है। अत. वही अभिधेय है।

हाँ, यदि कवि को वही विशेष अर्थ या बिंबार्थ ही विवक्षित है, तो वहाँ उस विवक्षित बिंबार्थ की प्रतीति लक्षणा से होगी, क्योंकि कवि का तात्पर्य अभिधेयार्थ में नहीं है, अत ऐसे स्थलों में कवि की तात्पर्यानुपपत्ति रूप लक्षणा का बीज वर्तमान है। परंतु जहाँ कहीं वह बिंबार्थ कवि का विवक्षित न हो, पर ग्राहक की भावुकता वश प्रतिभा में स्फुरित हो जाय तो वहाँ अभिधा एव लक्षणा से अतिरिक्त तृतीय शक्ति ही काम करेगी, यह तृतीय शक्ति व्यंजना ही तो है। ऐसे स्थल व्यंजना की प्रसार भूमि है। एक तरह से तो कल्पना भी व्यंजना है क्योंकि कल्पना-भावना है और भावना-व्यजना।

इस प्रकार अनेकानेक नए-नए प्रयोगों के माध्यम से व्यजन का प्रसार किया जा रहा है।

सन् ३६ ई० के बाद से हिंदी काव्य में प्रगतिवाद का प्रवेश हुआ। जिस प्रकार रहस्यवाद के सबध में शुक्ल जी ने कहा है कि जब दर्शन के क्षेत्र का अद्वैत भावना के क्षेत्र में उतरता है, तो रहस्यवाद का जन्म होता है कुछ उसी तरह की बात प्रगतिवाद के विषय में भी कही जाती है अर्थात् जब मार्क्सवादी राजनीति के दल-गत विचार साहित्य के क्षेत्र में उतरते हैं, तो प्रगतिवाद का जन्म होता हैं। छायावादियों की दृष्टि कला या अभिव्यक्ति शैली पर टिकी है। अत हृदय अपने को बाहर ठीक ला सके इसके लिए नये नये प्रयोगों की

आवश्यकता हैं भी और हुई भी। यहाँ कवि का 'अहं' जागरूक है। प्रगतिवाद में परिस्थितियों वश सामाजिक चेतना का सशक्त स्वर विद्यमान है। उन व्यक्तिवादियों के लिए प्रगतिवाद में कोई स्थान नहीं है, जिनके लिए कलाकार का 'अहं' समाज की समस्याओं से अधिक महत्व रखता है अथवा जो व्यक्तिगत सुखोपभोग एवं आत्म वृत्ति को ही काव्य की मुख्य भावना के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, जिन्हें समाज के ज्वलंत प्रश्नों से कोई सरोकार नहीं। अतः इस वाद में नये प्रयोगों की सृष्टि हो गई हो तो हो गई हो पर यह लक्ष्य नहीं था।

इसके अनंतर 'अज्ञेय' प्रवर्तित प्रयोगवाद का युग आता है। यद्यपि प्रयोग का शील युग युग से रहा है परतु प्रयोगवाद आधुनिककाल की वस्तु है। आज के इन प्रयोगों में परिस्थिति, प्रयोजन, दिशा एवं आग्रह का भी अतर है। प्रयोगवाद के इन कवियों के विषय की ओर से दृष्टि हटाकर रूप-विधान भाव प्रेषण या आत्मनिवेदन को आधुनिक काव्य की प्रमुख समस्या माना है।" (त्रिशकु में 'वागर्थप्रतियत्तये' शीर्षक निबंध से) इनके अनुसार समाज के अनेक वर्गों में विभाजित हो जाने के कारण और ज्ञान के सामूहिक क्षेत्रों में बँट जाने के फलस्वरूप भाषा भावों के साधारणीकरण में असमर्थ होती जा रही है। (तार सप्तक)। अत. कलाकार का प्रधान लक्ष्य नवीन 'प्रयोगों' के द्वारा भाषा एवं अभिव्यक्ति को इस प्रकार समर्थ बनाना है कि वह आज के जीवन की जटिलता से उत्पन्न समाज के 'विभाजित सत्य को समूचा' प्रदर्शित कर सके। 'द्वितीय सप्तक' में प्रयोगों का लक्ष्य सत्य की खोज है। इस कविता में कवि की व्यक्तिवादी मनोवृत्ति अतृप्ति एव कुण्ठाजनित अहवादिता और यौन-भावना का ही प्राधान्य है।

उदाहरण—

बंद कमरे
या कि दरवाजों भरी दीवार
शर्तें नंगे झरोखों की —
या कि गलियों पार झोंको की उदास पुकार
लाओगे, क्या लाओगे ? ओ अपरिचित। [नववर्ष

[केदारसिंह। उद्धृत, 'आजकल' जून १९५५]

आदि से अंत तक वाच्यार्थ बाध है ही, अत. लक्षणा की सहायता अपे-

क्षित है। इस कविता का शीर्षक है 'नए वर्ष के प्रति' और यह काफी लंबी है। कवि की यह जिज्ञासा है कि अपरिचित यह नव-वर्ष जन-जीवन के लिए क्या लायगा 'बंद कमरे' या 'दरवाजों भरी दीवार' ? यहाँ 'बद कमरे हैं 'घुटे हुए जीवन' के प्रतीक। यहाँ गौणी साध्यवसाना लक्षणा कार्य कर रही है। विवक्षित अर्थ का वाचक शब्द यद्यपि सुलभ है, तथापि लाक्षणिक शब्द का प्रयोग कवि का कुछ अवश्य निहित प्रयोजन सूचित करता है। वह निहित प्रयोजन कौन सा है जो ध्वन्यालोक के शब्दों में 'उक्त्यन्तरेणाशक्य' है ? विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह प्रयोजन उन समानताओं या साधारण धर्मों का आतिशय्य-प्रत्यायन ही है, जो वाच्यार्थ एव लक्ष्यार्थ दोनों में वर्तमान है, हाँ यदि तारतमिक दृष्टि से विश्लेपण किया जाय तो यह होना ही चाहिए कि वर्ण्य से अवर्ण्य में वे धर्म उत्कट कोटि के हों। वे समान धर्म हैं—(१) दोनों का उन्मुक्त वायुमडल से पार्थक्य अर्थात् कमरा भी ऐसा, जिसमें कहीं से कोई रध्र नहीं ताकि बाहरी वायु का उसमें प्रवेश हो और भीतरी का रेचन। इसी प्रकार जीवन भी ऐसा कि जो रूढ़ियों से इस कदर बद्ध हो, कि वह बाह्य एव नव विचारों को प्रवेश न पाने दे और भीतर के प्रयोजन-शून्य एवं ऊब पैदा करने वाली प्रवृत्तियों का निर्गमन न होने दे (२) जिस प्रकार बद कमरा बाह्य वायु से असंपृक्त रहकर विभिन्न प्रकार के कीटाणुओं, दुर्गंध एवं अनुपयोगिता की राशि है उसी प्रकार वह जीवन भी जो बाह्य एव नव विचारों से असंपृक्त है, प्रयोजन शून्य एवं निरुत्साहमयी रूढ़ियों से भरा रह कर विभिन्न प्रकार की कुत्सित प्रवृत्तियों का अड्डा है। (३) यहाँ बाहरी वायु को स्वस्थ एवं परिवर्तन-प्रिय विचारों का प्रतीक मानना चाहिए। विभिन्न प्रकार की जड़ी-बूटियों एवं सुगधों से मिश्रित एवं नव किरणों में निखर कर आने वाली वायु की सी स्थिति नव-विचारों की भी है पर जैसे वह बद कमरा इस सुविधासे बचित हो जाता है, वही स्थिति बद जीवन की भी होती है, वह भी उन विचारों से बचित हो जाता है, जो स्वस्थ मस्तिष्कों से युगोपयोगी उपादेयताओं से भरकर व्यवहार में निखरते हुए सर्वत्र मान्यता प्राप्त करते रहते हैं। इस प्रकार न जाने ऐसे कितने साम्य कवि के उपचेतन अचेतन या चेतन मन में सोये, जगे रहते हैं, जिनसे प्रेरित होकर वह ऐसे प्रयोगों द्वारा अपनी आत्मा को व्यक्त करता है।

इस प्रकार पश्चिम से आई हुई कुछ विशेष प्रवृत्तियों द्वारा तो व्यंजना का प्रयोग हो ही रहा है।

पूर्व चर्चित विभिन्न वाद भी किस तरह व्यग्यार्थ की ओर उत्तरोत्तर झुकते चले जा रहे हैं, इसकी चर्चा 'पश्चिमी साहित्य और व्यंजना' नाम के अध्याय में पीछे दिखायी जा चुकी है। पर एक बात ध्यान रखने की यह है कि यह व्यंजना उत्तरोत्तर इतनी गूढ़ होती जा रही है, कि सहृदय समाज भी जब तक एड़ी से चोटी तक का श्रम न करेगा, तब तक उसके पल्ले कोई व्यवस्थित विचारधारा पड़ने की आशा नहीं। लक्षणा की भी यही स्थिति है। उसका प्रयोग इतने घुमाव के साथ होता जा रहा है, कि उसमें उसकी तीनों शर्तों का सम्यक् निर्वाह लक्षित नहीं होता। यही कारण है 'नेयार्थत्व' दोष पद-पद पर लक्षित होता है। कविता में 'अतिरिक्त अर्थ' की 'गूढ़ता' चमत्कार की विनाशिनी होने के कारण किसी दिन दोष मानी जाती थी, पर आज पश्चिमी जगत् में यह (Ampiguity) अस्पष्टता इतनी उपास्य हो गई है, वही काव्य का मूर्धन्य गुण बन बैठी है। आज का ख्यातिलब्ध कवि ईलियट अपनी इसी विशेषता के कारण प्रसिद्ध है। ईलियट काव्य में 'अव्यक्ति-वाद का प्रचारक है, अर्थात् वह यह मानता है कि कविगत भाव से काव्यगत भाव सर्वथा पृथक् है और मानता यह भी है कि काव्यगत भाव संवेदनाओं और अनुभूतियों का समन्वित रूप है। कवि या कलाकार व्यक्तित्व न होकर केवल माध्यम है, जिसमें कलासृजन के दबाव के प्रेरणा से काव्यगत भाव निष्पन्न होते हैं।'[1] इन्हीं लोगों के अंधानुकरण में हिंदी भी अपनी परंपरागत प्रवृत्तियों, सीमाओं एव व्यवस्थाओं का अतिक्रमण करती चली जा रही है। हमारी कविता पुराण को अनवद्य मानकर नवीन को उसकी उपादेयता परख कर ग्रहण करे— इसी में उनका स्थय और स्वरूप-रक्षा है। हमारे मान्यवर कवि कालिदास का कथन आज फिर भी इस संक्राति काल के लिए प्रकाश स्तभ है—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापिकाव्यं नवमित्यवद्यम्"

———

१—प्रतीक भाग २—नगेंद्र

सहायक ग्रन्थ

हिंदी खण्ड

काव्यग्रन्थ—

१—कामायनी	जयशंकर 'प्रसाद'
२—लहर	जयशंकर 'प्रसाद'
३—ग्रन्थि	सुमित्रानंदन 'पंत'
४—पंचवटी	मैथिलीशरण गुप्त
५—आधुनिक कवि	सुमित्रानंदन पंत
६—आधुनिक कवि	डा० रामकुमार वर्मा
७—आधुनिक कवि	महादेवी वर्मा
८—साकेत	मैथिली शरण गुप्त
९—यशोधरा	,, ,,
१०—रामचन्द्रिका (प्र० भाग)	केशवदास
११—विहारी रत्नाकर	कविवर विहारी [टीकाकार-'रत्नाकर']
१२—फुटकर कविता	केदारनाथ सिंह प्रभृति
१३—पल्लव	सुमित्रानदन पत

साहित्य शास्त्र—

१४—हिंदी ध्वन्यालोक	आचार्य विश्वेश्वर
१५—हिंदी वक्रोक्ति जीवित	,, ,,
१६—भारतीय साहित्य शास्त्र	वलदेव प्रसाद उपाध्याय
१७—काव्य दर्पण (प्र० स०)	रामदहिन मिश्र
१८—काव्यालोक	,, ,,
१९—हिंदी में अप्रस्तुत योजना	,, ,,
२०—पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धात	लीलाधर गुप्त
२१—रसमीमासा	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

२२—साहित्य लोचन — श्यामसुंदर दास
२३—हिंदी साहित्य का साथी — प० हजारी प्रसाद द्विवेदी
२४—चिंतामणि (द्वि० भाग) — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
२५—आधुनिक कविता की भाषा — श्री बृजकिशोर चतुर्वेदी
२६—बीसवीं शताब्दी (हिंदी साहित्य) — श्री नंददुलारे वाजपेयी
२७—नए साहित्य और नए प्रश्न — " "
२८—काव्य कला तथा अन्य निबंध — जटाशंकर प्रसाद
२९—काव्य में अभिव्यंजनावाद — लक्ष्मी नारायण सिंह सुधांशु
३०—काव्यागकौमुदी — प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
३१—काव्य कल्पद्रुम — सेठ कन्हैयालाल पोद्दार
३२—हिंदी साहित्य का इतिहास — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
३३—भारतीय दर्शन — बलदेव प्रसाद उपाध्याय
३४—आधुनिक साहित्य का विकास — डा० श्रीकृष्ण लाल
३५—भाषालोचन — सीताराम चतुर्वेदी
३६—वक्रोक्ति और अभिव्यंजना — रामनरेश वर्मा

पत्रिका—

'आलोचनाक'—आलोचना
प्रतीक भाग २

ENGLISH BOOKS

1	Making of Literature	R. A. Scottjames
2	Practical Criticism	I. A. Richrds
3	Maning of Meaning	,, ,,
4	Speculative Instrument	,, ,,
5	Philosophy of Rhetoric	,, ,,
6	Principle of Literary Criticism	,, ,,
7	Emma	James Austen
8	Rhetoric	Aristotle
9	Poetics	,,
10	On the Sublime	Longinous
11	Dictionary of world Literature	J. T. Shipley
12	Wit In Resturation Period—Fuji Mura	
13	History of English Criticism—George Saintsbury	
14	Principle of Literary Criticism—Lascelles Abercrombie M.A.	
15	Essay on Criticism	Pope
16	Seven types of Ambiguties	Empson
17	Litraria Biographia	S. S. Colerridge
18	The Idea of Great Poetry	L Abercrombie, M. A.

काव्य शास्त्र

१६—रसगगाधर	प० राज जगन्नाथ
२०—व्यक्तिविवेक	महिम भट्ट
२१—काव्यप्रकाश (वामनी)	मम्मट भट्ट
२२—ध्वन्यालोक	आनदवर्द्धन
२३—कुवलयानद	अप्पयदीक्षित
२४—वृत्तिवार्तिक (द्वि० अ०)	,,
२५—चित्रमीमासा	,,
२५—दशरूपक	धनिक-धनञ्जय
२७—काव्यमीमासा	राजशेखर
२८—वक्रोक्तिजीवित	कुन्तक
२९—शृगारप्रकाश	भोजराज
३०—काव्यप्रदीप	म० म० श्री गोविन्द ठक्कुर
३१—साहित्यदर्पण	महापात्र विश्वनाथ
३२—काव्यालकार	भामह
३३— ,, ,,	रुद्रट
३४—अलकार सर्वस्व (द्वि० आ०)	रुय्यक
३५—नाट्यशास्त्र (अभिनवभारती)	आचार्यभरत

सांख्य शास्त्र

३६—साख्यतत्त्वकौमुदी	ईश्वरकृष्ण

कोष ग्रन्थ

३७—अमरकोष (रामाश्रमी)	अमरसिंह
३८—वाचस्पत्यभिधानकोष	तारानाथ वाचस्पति

तंत्र ग्रंथ

३९—प्रपचसार	शकराचार्य

सामान्य ग्रंथ

४०—सनातनधर्मोद्धार	प० नकछेदराम द्विवेदी

प्रबन्धान्तवर्ती पारिभाषिक पदों के अर्थ।

(अ)

(१) अन्वयव्यतिरेकः—इसका उपयोग कार्यकारणभाव निश्चय में होता है। कारण के रहने पर कार्य का सदैव रहना ही कारण का कार्य से अन्वय तथा कारण के न रहने पर कार्य का सर्वथा न रहना ही व्यतिरेक है। इस प्रकार जिस वस्तु का जिस वस्तु से अन्वय तथा व्यतिरेक हो, उनका परस्पर कार्यकारण भाव सबंध होता है।

(२) अतद्व्यावृत्ति—इसका पर्याय 'अपोह' तथा 'भेद' भी है। बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार किसी भी शब्द की अभिधा 'अतद्व्यावृत्ति' में ही गृहीत होती है। इन लोगों का मत है कि जितने भी 'सत्' पदार्थ हैं, वे सब क्षणिक हैं और इसी कारण से इन क्षणिक पदार्थों में शक्तिग्रह नहीं हो सकता। निरन्तर एव अनुगत प्रतीति का विषय तो 'भेद' (अभाव) ही हो सकता है, अत. प्रतिक्षण परिवर्तनशील 'सत्' की अपेक्षा निरन्तर वर्तमान 'भेद' में ही शक्ति मानना ठीक है। अतद्व्यावृत्ति का शब्दतः अर्थ है—अ + तद् [= संकेतित से अतिरिक्त (का)] व्यावृत्ति (= भेद) = सकेतित से भिन्न पदार्थ मात्र का भेद।

(३) अनुमानः—यह 'प्रमा' का एक साधन है। 'अनुमिति' प्रमा के करण को अनुमान कहते हैं। प्राचीन आचार्यों ने व्याप्तिज्ञान को ही अनुमान कहा है। 'व्याप्ति' दो पदार्थों का 'नियत साहचर्य' है और इसी नियत साहचर्य (व्याप्ति) का ज्ञान हमें अनुमिति में सहायक होता है।

(४) अन्विताभिधानवादः—यह वाद शब्दशक्तियों के विचार से सम्बद्ध है। मीमासकों में प्रमुख रूप से दो दल हैं—गुरुमत एव भाट्टमत प्रस्तुत वाद का संबध गुरुमत से है। ये लोग मानते हैं कि लोक व्यवहार द्वारा किसी पद की शक्ति 'अन्वित पदार्थ' में ही गृहीत होती है, अतः 'अन्वित' का ही अभिधान (अभिधाशक्ति से बोधन) मानना चाहिए। भाट्ट लोगों का यह मानना कि पद की शक्ति केवल निरन्वय पदार्थ में होती है—सर्वथा ठीक नहीं।

से 'अतियथार्थ वाद' का निर्माण हुआ है। इस वाद का मुख्य लक्ष्य था उक्त दोनों विरोधी वादों का अविरोधी एकीकरण कर साहित्य में प्रयोग करना। इस वाद का प्रचलन १६२४ ई० के लगभग हुआ। असल में यह एक अन्ताराष्ट्रिय आदोलन था जिसका लक्ष्य था स्वाधीनता एवं सामाजिक न्याय का स्थापन। इसमें मानव को आर्थिक एवं वैयक्तिक शोपण को मुक्त करना ही लक्ष्य माना गया है। वधन दो ही हैं—अर्थ संवधी एव काम तृप्ति सवधी। केवल 'मैटर' को महत्त्व देने वाला मार्क्सवाद तथा केवल 'माइंड' को महत्त्व देने वाला फ्रायड-निर्धारित अतश्चेतना वाद दोनों के विरोधों को हटाकर यहाँ सतुलन रखने का प्रयास है।

(१६) अनुव्यवसाय:—नैयायिक विद्वान् 'ज्ञान' के फल को अनुव्यवसाय कहते हैं। अथवा प्रथम ज्ञान के फलस्वरूप होनेवाले ज्ञान को अनुव्यवसाय कहा जाता है। प्रथम ज्ञान का पर्याय 'व्यवसाय' भी है और इसी के (अनु) पीछे होने के कारण उस फलीभूत ज्ञान का अनुव्यवसाय कहते हैं। उदाहरणार्थ—"यह घड़ा है" प्रथम ज्ञान, तथा "मैं घड़ा को जानता हूँ" यह दूसरा ज्ञान है। पहले में केवल विषय तथा दूसरे में इसके अतिरिक्त आत्मा तथा ज्ञान भी हैं।

(१७) अनौचित्य·—यह 'औचित्य' का विरोधी तत्त्व है, जिसके कारण काव्य का सर्वस्व नष्ट हो जाता है।

(१८) अगूढ:—गुणीभूत व्यग्य के आठ प्रभेदों में से यह भी एक प्रभेद है। व्यग्यार्थ जब इतना स्पष्ट हो कि उसे असहृदय लोग भी शीघ्र समझ लें, तब उसे 'अगूढ' व्यंग्य कहना चाहिए।

(१६) अपराग्य व्यंग्य:—जो व्यग्यार्थ अपने से भिन्न वाच्यार्थ या व्यग्यार्थ की शोभा बढ़ावें, वह अपराग व्यंग्य कहा जाता है।

(२०) अप्रस्तुत प्रशसा:—जहाँ अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत अर्थ व्यग्य किया जाय, वहाँ यह अलकार होता है। अप्रस्तुत व्यजक होता है और प्रस्तुत व्यग्य। इस व्यग्य एव व्यंजक में पाच सवध माने गए हैं—कार्य कारण भाव, कारण कार्यभाव, सामान्य विशेपभाव, विशेष सामान्य भाव तथा सादृश्य। सादृश्य मूलक के भी तीन भेद होते हैं—श्लेष मूलक, समासोक्ति मूलक एवं शुद्ध साम्य। शुद्ध साम्य में भी तीन भेद होते हैं—अनारोप पूर्वक कथन, अशत· आरोपपूर्वक कथन एवं पूर्णतः आरोपपूर्वक कथन।

(२१) अपौरुषेय वाक्यः—मीमासक एवं वेदाती लोग 'वेद' को अपौरुषेय कहते हैं। पर दोनों में इतना अतर अवश्य है कि मीमासक वेद वाक्यों को अपौरुषेय इसलिए कहते हैं कि वह वेद किसी पुरुष विशेष (ईश्वर) द्वारा प्रणीत नहीं जब कि वेदाती लोग उसकी अपौरुषयेता वेद निर्माण में पुरुष के पौरुष का अभाव बताकर मानते हैं।

(२२) अभिव्यजनावादः—इटली के वेनेडेट्टो क्रोचे द्वारा आविष्कृत दार्शनिक पीठिका पर आधृत एक साहित्यिक वाद है। सौंदर्य सदैव सापेक्ष होता है अर्थात् ग्रहीता के सस्कार ही वस्तु में सौंदर्य का आधान करते हैं। यही आहित-सौंदर्य-वस्तु जब ग्रहीता के प्रातिभज्ञान को उकसाता है और इस उकसाये हुए प्रातिभ ज्ञान में उस सुन्दर वस्तु का स्पष्ट चित्र जग जाता है, तब उसी चित्र-जागरण को आतरिक एव वास्तविक अभिव्यंजना कहते हैं।

(२३) अभिधेयार्थः—शब्द की अभिधा शक्ति से मिलने वाला अर्थ का प्रकार है।

(२४) अभिधामूलध्वनिः—इसका पर्याय है—विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि। यह ध्वनि का एक भेद है। यहा का व्यञ्जक अर्थ अभिधा शक्ति से ही प्राप्त होता है। यदि अभिधा से लब्ध व्यञ्जक अर्थ जब प्रधान रूप से किसी अर्थ को ध्वनित करता है, तब उसी ध्वनित अर्थ को लेकर आभिधामूल ध्वनि का व्यवहार होता है।

(२५) अभिहितान्वयवाद.—भाट्टमीमासक प्राभाकरों से विपरीत केवल पदार्थ-मात्र में शब्द की अभिधा शक्ति मानते हैं। जहा प्राभाकर 'अन्वय सहित पदार्थ' में शब्द की अभिधा मानते हैं वहा भाट्ट 'निरन्वय पदार्थ' में। प्राभाकर 'अन्वय' एवं 'पदार्थ' दोनों को ही अभिधाशक्ति-वेद्य बताते हैं जब कि भाट्ट 'पदार्थ' को ही अभिधालभ्य कहते हैं। इस प्रकार इनके मत में अभिहित (अभिधा से प्राप्त पदार्थमात्र) का (लक्षणा या तात्पर्य वृत्ति से) अन्वय होता है। 'अभिहित' का अन्वय होने के ही कारण इस मत की उक्त सज्ञा पड़ी है।

(२६) अभ्यास—काव्य के कारणों का विचार करते हुए आचार्यों ने 'अभ्यास' का भी नाम लिया है। प्रकाशकार ने लिखा है—"काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यासः"—काव्य निर्माण एव काव्यालोचन में पटु मनीषी से शिक्षा ग्रहण पूर्वक काव्यनिर्माण का अभ्यास ही 'अभ्यास' है।

(२७) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिः—लक्षणा मूल ध्वनि का एक भेद है। इस प्रभेद में उपादान लक्षणा काम करती है, जिसका फल यह होता है कि वाच्यार्थ अर्थान्तर में सक्रमण कर जाता है और लक्षणा का प्रयोजनाश चमत्कारावह होता है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर इसे उक्त संज्ञा प्रदान की गई है।

(२८) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिः—यह भी लक्षणामूल ध्वनि का ही एक भेद है। यहा लक्षणलक्षणा काम करती है जिसका फल यह होता है कि लक्ष्यार्थ कोटि में वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार रहता है। प्रयोजनाश के चमत्कारकारी होने के कारण इसे ध्वनि संज्ञा भी दी जाती है। सब मिला कर इसे उक्त सज्ञा प्रदान की गई है।

(२९) अर्थशक्तिमूलध्वनिः—यह अभिधा मूलध्वनि का एक प्रभेद है। यहा का व्यञ्जक अर्थ जिन शब्दों से मिलता है उनके पर्यायों का प्रयोग कर देने पर भी ध्वनित अर्थ में कोई क्षति नहीं आती। इस प्रकार ध्वनित अर्थ का शब्द से नहीं, प्रत्युत अर्थ से अन्वयव्यक्तिरेक है और यही कारण है उक्त सज्ञा का।

(३०) अर्थालकार—अलकार का एक प्रभेद है। यहाँ जिस प्रकार की चमत्कृति अनुभूत होती है उसकी सत्ता का अन्वय-व्यतिरेक (उन्हीं) अर्थों से होता है, (उन्हीं) शब्दों से नहीं। शब्द चाहे पर्याय के रूप में बदल लिए जायं परतु जबतक उनका अर्थ सुरक्षित रहेगा तब तक वह चमत्कृति नष्ट नहीं हो सकती।

(३१) अभाववादः—यह वाद ध्वनितत्त्व के विरोधियों से सम्बद्ध है। ये लोग (i) ध्वनि नाम की वस्तु का सर्वथा अभाव कहते हैं और बताते हैं काव्य में चारुता का उत्पादक गुण एव अलंकार से भिन्न कोई वस्तु नहीं होती। कुछ (ii) लोग तो यह भी कहते हैं कि यदि ध्वनि नाम की कोई वस्तु होती तो पूर्व के सूक्ष्ममति सम्पन्न आचार्यगण अवश्य उसका उल्लेख करते। (iii) कुछ अभाववादी ध्वनि संज्ञा तो मान लेते हैं पर उसका अर्थ किसी चारुता धायक गुण एव अलकार को ही बनाते हैं।

(३२) अन्योन्याश्रयः—शास्त्रों में चार प्रकार के दोषों की चर्चा आती है—(i) आत्माश्रय (ii) अन्योन्याश्रय (iii) चक्रक एव (iv) अनवस्था। इन सभी दोषों का आगमन किसी तत्त्व के निरुपण या सिद्धि में होता है।

(i) किसी भी वस्तु की सिद्धि या स्वरूप-परिचय के लिए प्रयुक्त शब्दों में स्वयं साध्य वस्तु की संज्ञा का भी प्रयोग हो जाय तो वहाँ आत्माश्रय दोष होता है। (ii) अन्योन्याश्रय दोष वहाँ होता है, जहाँ दो वस्तुएं अपने स्वरूप निरूपण में एक दूसरे की अपेक्षा रखती हों अर्थात् जैसे एक ही सिद्धि में दूसरे का ज्ञान अपेक्षित है उसी प्रकार दूसरे की सिद्धि में भी जहाँ पहले का ज्ञान अपेक्षित हो—वहां यह दोष होता है। (iii) चक्रक दोष वहाँ होता है जब दो से अधिक अर्थ अपनी स्वरूप-सिद्धि में परस्पर सापेक्ष हों और (iv) अनवस्था नामक दोष वहा होता है जहा साध्य का अंत ही न मिले। यह दोष कार्य-कारण भाव के प्रसंग में प्रायः होता है। अनवस्था यदि बीज-वृक्ष की भाति प्रामाणिक हो, तो वहा यह दोष नहीं होता।

(३३) अव्युत्पन्न शब्दः— कुछ आचार्य (यास्क आदि) मानते हैं कि सभी शब्द यौगिक अथवा धातुज हैं पर कुछ आचार्य (पाणिनि) यह भी मानते हैं कि सभी शब्द यौगिक या धातुज नहीं हैं। दूसरी कोटि के आचार्यों का विचार है कि शब्द दो प्रकार के हैं—व्युत्पन्न एवं अव्युत्पन्न अर्थात् प्रकृति एवं प्रत्यय के योग से निष्पन्न तथा प्रकृति एवं प्रत्यय के योग से रहित। यही दूसरे प्रकार के शब्द ही अव्युत्पन्न कहे जाते हैं।

(३४) अर्थापत्ति—यह मीमांसकों द्वारा आविष्कृत एक प्रमाण है, जिसको अन्य दार्शनिक 'व्यतिरेक व्याप्ति' के द्वारा गतार्थ कर लेते हैं। उपपाद्य की अवगत अनुपपत्ति से उपपादक की कल्पना ही अर्थापत्ति है। जैसेः—"दिन में भोजन न करने वाला देवदत्त स्थूल है" इस वाक्य से अवगत स्थूलता, भोजनाभाव की परिस्थिति में युक्तियुक्त नहीं लगती अतः उसको सिद्ध करने के लिए रात्रि भोजन की जो कल्पना है वही अर्थापत्ति है। यह शब्द प्रमा एवं प्रमाण दोनों के लिए ही प्रयुक्त होता है। श्रुतार्थापत्ति इसके दो प्रभेद हैं।

अर्थासिद्धातः—देखिए पृष्ठ १४३

(३५) अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्यः—जो व्यङ्ग्य इतना गूढ हो कि सहृदयों को भी विलम्ब से प्रतीत हो, उसे अस्फुट कहते हैं। यह गुणीभूत इसी लिए कहा जाता है कि विलम्ब से होने वाली प्रतीति चमत्कार का गला घोंट डालता है।

(३६) असुंदर—असुंदर व्यङ्ग्य वह है जो सुंदर न हो। भारतीय सौंदर्य आतर है और आतर की वस्तु आत्मा है—रस है। अतः सुंदर वही

है जो रसमय हो अथवा रस की प्रतीति कराने में उत्कट हो। कहीं-कहीं व्यङ्ग्यार्थ ऐसा भी मिल जाता है जो वाच्य की अपेक्षा रसप्रत्यायन में कम समर्थ होता है। ऐसे व्यङ्ग्य को असुंदर कहते हैं।

(३७) अखण्डार्थ—यह अद्वैतवेदान्त दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। वेदात परिभाषा में लिखा है—"संसर्गासङ्गिसम्यग्धी हेतुता या गिरामियम्। उक्ताखण्डार्थता" । अर्थात् अखंडार्थता वाणी का वह धर्म है, जिसके बल पर संसर्ग रहित ज्ञान पैदा हो। क्रिया कारक भावपूर्वक होने वाला ज्ञान सखड है और इससे निरपेक्ष ज्ञान अखंड है।

(आ)

(३८) आकाङ्क्षा—इसका उपयोग शाब्दबोध में होता है। कुछ आचार्य आनुपूर्वी एवं आकाङ्क्षा को पर्याय मानते हैं। जिस प्रकार के पद के विना जिस प्रकार का पद बोध ही न पैदा कर सके, वे दोनों परस्पर साकाङ्क्ष होते हैं और वहीं आकाङ्क्षा का व्यवहार होता है। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि कारक को क्रिया का तथा क्रिया को कारक पदों या पद की आकाङ्क्षा रहती है।

(३९) आनंत्यः—यह एक दोष है, जो किसी भी सिद्धात का व्याघातक होता है। उदाहरणार्थ, यदि व्यक्ति-व्यक्ति में शब्द की शक्ति मानी जाय तो व्यक्ति के अनंत होने से शक्ति को भी प्रतिव्यक्ति अनंत मानना पड़ेगा और ऐसे अवसर पर 'आनंत्य' नामक दोष होगा और इसी कारण व्यक्ति में शक्ति का स्वीकार अग्राह्य होगा।

(४०) आर्थी व्यञ्जनाः—अर्थ से अन्वय व्यतिरेक रखने वाली व्यजना आर्थी-व्यजना कही जाती है। पंचम परिच्छेद में इसका सविस्तार विचार है।

(४१) आलीक्यूम (Aulicum)—दाँते ने अपनी पुस्तक में काव्य भाषा पर विचार करते हुए लिखा है कि काव्य के लिए कोई Vulgar Tongue होनी चाहिए। इतना अवश्य है कि उसे Illustrious होना चाहिए और ऐसा होने के लिए जिन चार गुणों की आवश्यकता है उनमें से एक Aulicum भी है। इसका अभिप्राय है वकालती भाषा का वैशिष्ट्य।

(४२) आसत्तिः—इसका उपयोग भी शाब्द बोध में ही होता है। आसत्ति का अर्थ है शाब्दबोधोपयोगी पदों का सानिध्य।

(४३) आनंदाशः—अद्वैत वेदात की दृष्टि से ब्रह्म के तीन अंश हैं—सदंश, चिदंश एवं आनंदाश।

(४४) आयरनी (Irony)—यह वक्तृत्व का एक प्रकार है। इसके लिये जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है उससे वास्तविक अर्थ तिरोहित रखा जाता है अथवा सुनने में आपाततः विरोध भी लक्षित होता है। प्रायः इसका प्रयोग उपहास अथवा जुगुप्सा के लिये होता है।

(४५) ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव (objective correlative) काव्य जगत् में पश्चिम की यह एक नवीन पद्धति है, जिसकी विशेषता यह है कि मस्तिष्क में आए हुए भावों को सीधे न कहकर उसी के समशील बाह्य-जगत् की कोई वस्तु, घटना या व्यापार के रास्ते व्यक्त करना।

(इ)

(४६) इण्टेंशन (Intention):—'अर्थ के अर्थ' पर विचार करते हुए रिचार्ड्स ने बताया है कि भाषा का सपूर्ण रहस्य sense, fee-liny, Tone एव Intention के मेल से ज्ञात होता है। Intention का अभिप्राय है लेखक अथवा वक्ता का अभिप्राय। सारांश यह कि वक्ता के मनोवाञ्छित को ठीक से समझने के लिये इतना ही आवश्यक नहीं है कि हम उसके द्वारा प्रयुक्त केवल शब्द राशि को ही देखें, बल्कि यह भी आवश्यक है कि हम उसके हार्दिक अभिप्राय से परिचित हों।

(४७) इल्लस्टर (Illustre):—पूर्वोक्त Illustrious Vulgar tongue के चार गुणों में से एक यह भी है। इसका अर्थ होता है एक प्रा र की दीप्ति।

(४८) उदाहरणः—परार्थानुमान (दूसरों के समझाने के उद्देश्य से किया जाने वाला अनुमान) में उपयोगी पञ्चावयवात्मक न्याय वाक्य का एक भाग 'उदाहरण' भी है। इसमें 'व्याप्ति' का 'सपक्ष' दिया जाता है—जैसेः-जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ वह्नि होती है, उदाहरणार्थ पाकशाला पकड़ी जा सकती है।

(४९) उद्दीपन विभावः—रस निष्पत्ति में अपेक्षित विभाव के दो भेद होते हैं—आलंबन एवं उद्दीपन। उद्दीपन विभाव जगे हुए भावों को उद्दीप्त करने का यत्न करता है। उदाहरणार्थ, किसी मृत पुत्र को लेकर जगे हुए शोक का उद्दीपन तत्संबद्ध वस्तुएँ अथवा उनकी स्मृति करती है।

(५०) पूर्वोक्त परार्थानुमान में इसका उपयोग होता है। इस प्रसंग में पंचावयवात्मक न्याय वाक्य का एक अंश 'उपनय' है। इसका 'उदाहरण' है—'पर्वत' भी महामानस की तरह है।

(५१) उपाधिः—वैयाकरण जिस अर्थ में शब्द की शक्ति स्वीकार करते हैं, वह व्यक्ति नहीं बल्कि व्यक्ति की उपाधि है। उपाधि से अभिप्राय यहाँ धर्म का है। उपाधि दो प्रकार की होती है—स्वाभाविक एवं याद्दच्छिक। पहली के दो भेद हैं—प्राणप्रद एवं विशेषाधान हेतु। दूसरी के भी दो भेद होते हैं—गुण एव क्रिया। इस प्रकार यहाँ उपाधि से अभिप्राय यद्दच्छा, जाति, गुण एव क्रिया का है। उपाधि के और अर्थ भी हैं।

(५२) उपमालंकारः—यह एक अर्थालंकार है। इसके चार अवयव होते हैं—उपमान, उपमेय, वाचक तथा धर्म। ये सब मिलकर उपमा के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। उपमा का स्वरूप 'साद्दश्य' है, पर प्रकाशकार 'साधर्म्य' को उपमा कहते हैं और विचार करने पर यही युक्तियुक्त पक्ष लगता है।

(५३) उपमानः—यह एक प्रमाण है जिससे उपमिति नामक प्रमा होती है। साद्दश्य द्वारा जिज्ञास्य वस्तु का बोध कराया जाता है।

(५) ए

(५४) एम्बिग्विटी (Ambiguity):—एम्बिग्विटी से तात्पर्य है काव्य की अस्पष्टताएँ। पुराने दिन ऐसी अस्पष्टताएँ दोष कही जाती थीं, पर आज ये काव्य के गुण-रूप में गृहीत होने लगी हैं। एम्पसन ने तो इसके सात प्रकार बनाए हैं। इनके अनुसार भाषा की कोई भी परिणति, जो गद्य के सामान्य कथन में कुछ सूक्ष्म व्यंजन देता है, एम्बिग्विटी की कोटि में आता है।

(५५) एसोशियेशन ऑव आइडियाज (Association of ideas)—इस सिद्धांत में यह माना गया है कि चेतना (ideas) प्रत्ययों की राशि है और ये प्रत्यय परस्पर आवृत्ति (अभ्यास) (Frequency) अचिरता (Recency) तथा सुस्पष्टता (vividness) के नियमों से सबद्ध होते हैं। [विशेष देखें—मनोविज्ञान और व्यंजना शीर्षक विवेचन]। जलोटा साहब इस शब्द का अनुवाद करते हैं—भावानुपग। एक भाव दूसरे भाव से सबद्ध होते हैं और यह सबंध साहचर्य

(Association) से बनता है। एक भाव के जागते ही साहचर्य संबद्ध संस्कार को खींच लाता है। यह है Association of ideas.

(५६) एसोशियेशन वेल्यू (Association value):—साहचर्य का मूल्य उसके न्यूनाधिक भावों के जागने पर है। जो साहचर्य अधिक भावों को जगाए उसका अधिक महत्त्व है।

ऐ

(५७) ऐतिह्यः—यह पौराणिकों द्वारा आविष्कृत एक प्रमाण है। लोक में कुछ ऐसी परपरागत बातें या कथा भी प्रमाण मानी जाती हैं, जिनके आद्य प्रवक्ता का कहीं कोई निर्देश या पता नहीं रहता। जैसेः—इस वट में यक्ष निवास करता है—यह परंपरागत श्रुति ऐतिह्य प्रमाण के भीतर है। दूसरे इसे शब्द प्रमाण में ही सिमेट लेते हैं।

क

(५८) कला.—कला मानवीय अनुभूति का संक्रामक प्रेषण है। कलावाद Art for Art sake का अनुवाद समझिये। १९ वीं शताब्दी में फ्रास के फ्लावर्ट, अनातोले फ्रास एवं अन्य फ्रेंच विद्वानों ने इसका स्थायन तथा समर्थन किया है।

(५९) कदंबगोलक न्यायः—नैयायिक मनीषियों का विचार है कि जो ध्वनि वक्ता के मुख से उच्चरित होती है, वह ठीक उसी प्रकार अपने चारो ओर और ध्वनि-लहरियों का प्रसव करती है जिस प्रकार कदंव पुष्प में पराग का प्रस्फुटन चतुर्दिक होता है।

(६०) कल्पनाः—हिंदी में यह शब्द Imaginnion का अनूदित रूप है। इस Imagination शब्द की समय-समय पर बहुत सी व्याख्यायें हुई हैं। जहाँ तक कोष संमत अर्थ की बात है यह वह शक्ति है जो मस्तिष्क में विभिन्न प्रकार की मूर्तियाँ ढाला करती है—the faculty of forming image in mind. कॉलरिज ने इसे उस मार्मिक एव असतुलित गुणों में संतुलन एव समन्वय के रूप में प्रकट करती है।

[देखिये पृष्ठ १३४]

(६१) काकुः—प्रायः हम बोलने में बहुधा स्वरों का सहज ढंग से उच्चारण करते हैं, पर कभी-कभी उसे विशेष अभिप्राय से विकृत भी कर देते

हैं। यही विकृत स्वर या स्वर की विकृत काकु है, जिसका प्रयोग कुछ विशेष अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये होता है। [पृ० १७४ देखें]

(६२) काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य [देखिए पृ० १७३]:—शब्द का अर्थ जब काकु की सहायता से किसी अन्य अर्थ का आक्षेपक हो जाता है, तो वहाँ का व्यंग्य काक्वाक्षिप्त कहा जाता है। इस प्रकार के व्यंग्यार्थ की स्थिति यदि उत्तम है तो उसे काक्वाक्षिप्त ध्वनि, यदि मध्यम हो तो गुणीभूत व्यंग्य और यदि अधम हो तो काकुवक्रोक्ति के नाम से पुकारा जाता है।

(६३) कारयित्री:—प्रतिभा के काव्य निर्माण एवं बोध दोनों में अपेक्षित है। निर्माण में उपयोगी प्रतिभा कारयित्री के नाम से पुकारी जाती है। यह भी दो प्रकार की होती है—सहजा एव व्युत्पाद्या। पहली नैसर्गिक होती है और दूसरी व्युत्पत्ति एवं अभ्यास के बल पर बनाई जाती है।

(६४) कुब्जशक्तिवादः—"पदशक्ति पदार्थांशे ज्ञाताऽन्वयांशे वाऽज्ञातोपयुज्यते—इति कुब्ज शक्तिवादः"—भूषणकार ने इस वाद का यही स्वरूप बताया है। इन लोगों के अनुसार वाक्यार्थ अभिधेय ही है। हाँ, जिस प्रकार कुब्ज व्यक्ति अपने कुछ अवयवों से कार्य करता है और कुछ पंगु अवयवों से कार्य करने में असमर्थ रहता है, ठीक उसी प्रकार वाक्य की अभिधान शक्ति पदार्थांश में ज्ञात होकर क्रियाशील होती है और वाच्यार्थ के अवशिष्ट अन्वयांश में अज्ञात रह कर ही उपयोगिनी बनती है।

(६५) कार्डिनेल (Cardinale)—पूर्वोक्त Illustrious Vulgar Tongue. में वैशिष्टय का आधान करनेवाले चार गुणों में से एक यह भी है। इसका अर्थ है—"लोच"।

(६६) क्यूरियल (Curial):—यह भी पूर्वोक्त भाषा के चार गुणों में से एक है। इसका अर्थ होता है—दरबारीपन।

ग

(६७) गुण शब्द का प्रयोग प्रायः तीन अर्थों में होता है—(1) अप्रधान (11) रस्सी तथा (111) विशेषाधायक धर्म। प्रस्तुत प्रसंग में 'गुण' शब्द

विशेषाधायक या उत्कर्षाधायक धर्म के ही रूप में लिया गया है। साहित्य शास्त्र में गुण की चर्चा बड़ी पुरानी है और उसके स्वरूप संख्या, आश्रय एवं अस्तित्व तथा अनस्तित्व पर क्रमशः बहुत विचार हुआ है। इसके विषय में परिनिष्ठित मत यह है कि काव्यात्मा रस का धर्म है और संख्या में तीन प्रसाद, माधुर्य तथा ओज है। यद्यपि उत्कर्षाधायक धर्म अलंकार भी है तथापि दोनों का अंतर यह है कि अलकार काव्य शरीर (शब्दार्थ) का धर्म है और गुण काव्यात्मा का।

(६८) गुणीभूत व्यंग्यः—व्यंजना व्यक्ति से लब्ध अर्थ व्यग्य है और जब वह अप्रधान या वाच्य समकक्ष होता है, तब उसे गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं। यह अप्रधानता या समकक्षता चमत्कार की दृष्टि से ही मानी गई है।

(६९) गूढश्लेष.—यह नाम अप्पय दीक्षित द्वारा आविष्कृत है। और लोग शाब्दी व्यंजना या समासोक्ति आदि स्थलों में जहाँ अप्राकरणिक अर्थ को व्यंग्य मानते हैं, वहाँ अप्पय उसे अभिधेय ही मानते हैं। अप्राकरणिक अर्थ को व्यंग्य मानते हैं, वहाँ अप्पय उसे अभिधेय ही मानते हैं। अप्राकरणिक अर्थ को आकरणिक की अपेक्षा बिलव से मिलने के कारण इसे ये श्लेष न कहकर गूढ श्लेष कहते हैं। कारण यह है कि श्लेष में दोनों अर्थ साथ ही मिल जाते हैं।

(७०) गुरुमतः—मीमासा दर्शन में कुमारिल के शिष्य प्रभाकर द्वारा प्रचालित मत गुरुमत कहा जाता है।

(७१) चारुताः—लोचनकार अभिनव ने 'चारुता' दो प्रकार की बताई है जहाँ तक शब्द एव अर्थगत 'चारुता' का सबंध है, वह स्वरूपनिष्ठ एव संघटनानिष्ठ होने से दो-दो प्रकार की है। शब्दों के स्वरूप से व्यक्त होनेवाली चारुता का कारण शब्दालकार एवं अर्थ के स्वरूप से व्यक्त होनेवाली चारुता का कारण अर्थालंकार है। इसी प्रकार संघटना से व्यक्त होने वाली चारुता का कारण शब्द गुण एव अर्थगुण (वामन सम्मत) हैं। इस प्रकार गुण तथा अलंकार से होनेवाली चारुता के अतिरिक्त भी एक विशेष प्रकार की चारुता आनदवर्द्धन ने भी बताई है। यह 'चारुता' रसमयता या 'रमणीयता' है जो व्यजक सापेक्ष है और इस चारुत्व को उन्होंने काव्य का मुख्य चारुत्व कहा है—"व्यजकत्वाश्रय्येव तेषा मुख्यं चारुत्वम्"।

(७२) चित्रकाव्यः—अर्थ की दृष्टि से काव्य के कई स्तर हैं, जिनमें सबसे निकृष्ट स्तर को ही चित्रकाव्य या अधम काव्य कहते हैं। चित्र के समान ही यह भी निष्प्राण (नीरस) होता है। इसके दो भेद हैं—शब्द चित्र एवं अर्थ चित्र।

(७३) च्युत संस्कृतिः—यह एक दुष्ट शब्द या पद है। जो पद व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध हो, उसे च्युत संस्कृति कहते हैं।

(७४) छायावादः—'छाया' शब्द के चार अर्थ कोषकार ने बताये हैं—"छाया सूर्यप्रिया कांतिः प्रतिविम्बमनातपः"—सूर्यप्रिया, काति, प्रतिविम्ब एव अनातप। इन चारों में से 'काति' तथा 'प्रतिविम्ब' अर्थ को पकड़ कर आचार्य शुक्ल एवं 'प्रसाद' जी ने 'छाया' शब्दार्थ का विचार किया है। ध्वन्यालोक के आधार पर ललनागत लावण्य की भाँति काव्य के आवरण से दीप्त होने वाले अर्थ में प्रसादजी ने 'छाया' देखी है और 'सुदर' के प्रतिबिंब को शुक्ल जी ने 'छाया' शब्द से बताया है। इस प्रकार आरंभ में इसका संबंध अध्यात्म से रहा, पर बाद में इसका सबध लोक से भी हो गया। वस्तु के रूप में रहस्यवाद के नाम से अध्यात्म सबद्ध एव शैली के रूप में छायावाद के नाम से लोकसंबद्ध रहा। लोक में छायावाद का अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाला अप्रस्तुत का कथन।

Judgment जजमेंट—हाब्स बुद्धि की वह शक्ति है, जिसके द्वारा पदार्थों का तुलनात्मक एव समन्वयात्मक विवेचन किया जाता है तथा इस प्रकार व्यावहारिक निष्कर्ष भी निकाले जाते हैं। इसी अर्थ में लॉक एडीशन प्रभृति मनीषियों ने भी जजमेंट का विचार किया है।

(७५) टोन (Tone) —भाषा के संपूर्ण अर्थ को व्यक्त करने के लिये रिचार्डस ने जिन चार तत्त्वों का निर्देश किया है, उनमें से 'टोन' भी एक है। इसका अर्थ है—श्रोता अथवा पाठक के प्रति लेखक की चेष्टा।

(७६) ड्रामेटिक आयरनी (Dramatic Irony).—आयरनी का यह एक प्रकार है। यह एक विशिष्ट प्रकार का व्यंग्य है, जो परिस्थिति में निहित रहता है। संबद्ध व्यक्ति को वास्तविक परिस्थिति का ज्ञान नहीं रहता, किंतु दूसरे पात्र, पाठक अथवा श्रोता उससे परिचित रहते हैं।

परिस्थिति संबद्ध व्यक्ति अपने मूर्खता अज्ञानवश पूर्ण व्यवहार अथवा वार्तालाप करता है।

ड

(७७) ड्रीम एसोशियेशन (Dream Association)—इसके दो अर्थ हो सकते हैं—(i) स्वप्न-दशा में एक स्वाप्न-अंश साहचर्यवश दूसरे भाव को खींच लाता है। (ii) दूसरा यह कि स्वप्न-याख्याता जाग्रदवस्था में स्वाप्न-अंशों को लेकर Association के सहकार से उसकी व्याख्या करता है।

त

(७८) तमोगुण—साख्य दर्शन 'प्रकृति' को त्रिगुणात्मक मानता है। तीन गुण ये हैं—सत्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण। तमोगुण गुरुत्व पैदा करता है और यह 'रजोगुण' की 'चल' प्रकृति का निरोधक है। यदि यह गुण न होता तो किसी क्रिया का निरोध ही न हो पाता। आलस्य आदि इसके परिणाम हैं।

(७९) तात्पर्यवृत्ति—साहित्य शास्त्र में 'तात्पर्य' का प्रयोग तीन अर्थों में मिलता है—(१) अनेक पदार्थों के अन्वयाश के उपस्थापक शब्द व्यापार के रूप में (२) मुख्य अर्थ के उपस्थापक शक्ति के रूप में (३) एव विधेयार्थ—बोध के रूप में 'तात्पर्य' की चर्चा मिलती है। प्रथम अर्थ के आचार्य भाट्टमीमासक, दूसरे के धनिक-धनञ्जय एव तीसरे के भी मीमासक ही बताये जाते हैं।

द

(८०) द्रवत्व—नैयायिकों ने गुणों की संख्या २४ मान रखी है। द्रवत्व भी उन्हीं चौबिसों में एक है। तरल पदार्थ के स्पंदन में यही द्रवत्व कारण है।

ध

(८१) ध्वनि—इस तत्व के उद्भावक आनंदवर्द्धन आचार्य हैं। इन्होंने इस शब्द को 'व्यंजकत्व' के साम्य पर वैयाकरणों से उधार लेकर साहित्य में भी चलाया है। इस शब्द के चार अर्थ हैं—व्यंजक, व्यंग्य, व्यंजन एवं इनकी समष्टि धारण करने वाला काव्य। इन सबों की ध्वनि संज्ञा तभी होती है, जब ये सब प्राधान्य का अनुभव करने लगते हैं।

न

(८२) न्यूएंस—(Nuance) इसका अर्थ है—सूक्ष्म व्यंग्यार्थ ।

(८३) नियत पूर्व वृत्तिता—इसका अर्थ है—नियमतः पूर्व में रहना। कारण के लिये यह एक आवश्यक शर्त है।

(८४) नकेनवाद—यह आधुनिकतम वाद है, जिसका नाम नरेश मेहता, केशरीकुमार एवं नलिनीमोहन के नामों के आद्यक्षर से बना हुआ है।

प

(८५) पद—संस्कृत साहित्य में वैयाकरणों ने 'सुबंत' एव 'तिङन्त' प्रयोगों को 'पद' कहा है। नैयायिकों ने अर्थदान में 'शक्त' शब्द मात्र को 'पद' कहा है।

(८६) परावाणी—वाणी के चार रूपों—परा, पश्यती, मध्यमा एवं वैखरी में यह प्रथम रूप है। इसका स्थान मूलाधार है। ब्रह्मस्वरूप यह वाक् स्पद शून्य एव विदु रूप है। वायु एवं अग्नि-दोनों तत्वों के मेल से सुसस्कृत होकर इसका व्यक्ती करण होता है। यह इतना सूक्ष्म है कि योगियों के भी सविकल्पकज्ञान का विषय नहीं वन सकती।

(८७) पश्यती—'परा' के बाद नाभिदेश में वाणी का जो रूप स्थित है, उसे 'पश्यन्ती' कहते हैं। इसे योगी लोग ही विशेष रूप में जान पाते हैं।

(८८) परस्पीक्यूटी—(Perspicuty) अरस्तू ने Style के दो गुणों—पर्स्पीक्यूटी एव प्रोप्राइटी—की चर्चा की है। परस्पीक्यूटी भारतीय दृष्टि से 'प्रसाद' गुण के समकक्ष वस्तु है।

(८९) परपरित रूपक—सामान्यतः रूपक के तीन भेद हैं—१ निरग २—साग ३—परपरित। साग एव परपरित में अनेक सबद्ध रूपकों का विधान रहता है, फिर भी अतर यह है कि साग रूपक के उपमान एवं उपमेय कवि परपरा में प्रसिद्ध तथा परंपरित रूपक में कवि कल्पित होते हैं।

(९०)—पर्यायोक्त—यह भी एक अलकार है। इसमें अभिप्रेत अर्थ वड़ी भगी के साथ व्यक्त किया जाता है। यद्यपि वाच्यार्थ एवं व्यग्यार्थ कहते एक ही अर्थ को हैं, परंतु दोनों की कथन-पद्धति भिन्न-भिन्न होती है। दोनों में से वाच्यार्थ की पद्धति वड़ी घुमावदार होती है।

(६१) पौरुषेयवाक्य—अपौरुषेय वेद-वाक्यों की तुलना में तदितर निखिल वाङ्मय को पौरुषेय वाक्य की समष्टि कहा जाता है।

(६२) प्रकरण:—शब्द की व्यंजना शक्ति से निवेदित होने वाले अर्थों को पकड़ने में 'प्रकरण' भी कारण है।

(६३) प्रकृतिवाद:—१६ वीं शताब्दी में फ्रांस के कलाकारों ने रोमांटिसिज्म की कल्पना शीलता के विरोध में यथार्थ और वास्तविकता की पुकार उठाई और कथा साहित्य के अंतर्गत यथार्थवाद यथातथ्यवाद तथा प्रकृतिवाद की स्थापना की। प्रकृतिवाद मानवता वाद का ठीक विरोधी है। मानवतावादी मनुष्य को पाशविक धरातल से ऊपर उठा ले जाता है, जबकि प्रकृति वाद उसे पशु-सुलभ आकर्षण-विकर्षण के कारणीभूत काम क्रोध आदि मनोरागों का गह्वर मात्र समझता है।

(६४) प्रगतिवाद:—जिस प्रकार दर्शन का अद्वैत जब भावना के क्षेत्र में उतरता है तो रहस्यवाद की सृष्टि होती है, उसी प्रकार जब राजनीति का मार्क्सवाद साहित्य के क्षेत्र में उतरता है, तो प्रगतिवाद की सृष्टि होती है। मार्क्सवाद अध्यात्मवाद का विरोधी दर्शन है इसे द्वंद्वात्मक भौतिकवाद भी कहते हैं। इसके सिद्धांतों को मुख्य मानकर चलने वाला साहित्य अपना लक्ष्य खो देता है।

(६५) प्रत्यभिज्ञा:—हिंदी में इसका पर्याय है—पहचान। इस शब्द के दो तरह के अर्थ मिलते हैं—(i) पुनः पुनः अनुसंधान [प्रत्यभिज्ञेयौ= पुनः पुनरभिसंवेयौ लोचन] एवं (ii) दूसरा अर्थ है प्रत्यक्ष एवं स्मरणात्मक ज्ञान के मेल से उत्पन्न ज्ञान। जब एक ही वस्तु का प्रत्यक्ष भी हो और स्मरण भी, तब प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्ति होती है।

(६६) प्रत्यक्ष प्रमाण:—यही एक ऐसा प्रमाण या प्रमा-साधन है, जिसके विषय में किसी को विरोध नहीं है। नैयायिक लोग सुख, दुःखादि के साक्षात्कार में मन को तथा बाह्य पदार्थों के प्रत्यक्ष में चक्षुरादि को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। सांख्य लोग विषयेन्द्रिय सन्निकर्ष के अनंतर उद्भूत अंतःकरण की वृत्ति विशेष को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

(६७) प्रतिभा.—साहित्य शास्त्र में प्रतिभा को कभी-कभी शक्ति के पर्याय के रूप में और कभी-कभी शक्ति के कार्य रूप में कहा गया है प्रकाशकार, रसगंगाधरकार आदि दूसरे रूप में ही प्रतिभा को मानते हैं। पंडितराज

ने बताया है—"काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः प्रतिभा"। काव्योपयोगी शब्द एवं अर्थ का स्मृति ही प्रतिभा है। लोचनकार ने कहा है—"अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमाप्रज्ञा प्रतिभा" आदि।

(६८) प्रतिमाः—आजकल Image के अनुवाद के रूप में यह शब्द चलता है जलोटा साहब Image का अनुवाद 'प्रतिरूप' मानते हैं।

(६६) प्रतिज्ञाः—यह भी पंचावयवात्मक न्याय वाक्य का एक अंश है। इसमें साध्य का स्वरूप निर्दिष्ट होता है, जैसे—"पर्वत अग्निमान् है"।

(१००) प्रतीकः—भारतीय साहित्य शास्त्र के दार्शनिक वाङ्मय में 'प्रतीक' शब्द का प्रयोग प्रतीकोपासना के प्रसग में यत्र-तत्र अवश्य मिलता है, पर साहित्यिक वाङ्मय में उपलब्ध नहीं होता। कोष की दृष्टि से इसका अर्थ अवयन, विलोम आदि है। अंग्रेजी साहित्य के संपर्क के बाद symbole के अनुवाद रूप में हिंदी साहित्य में इसका प्रयोग-प्राचुर्य दिखाई पड़ने लगा है। शुक्ल जी ने भावोत्तेजक उपमानों का पर्याय 'प्रतीक' को माना है। मेरा विचार है कि इसे भावोत्तेजक अप्रस्तुत का पर्याय मानना चाहिए। 'उषा' आनद का उपमान नहीं, पर अप्रस्तुत कही जा सकती है।

(१०१) प्रतीकवादः—इस ठोस एवं दृश्यमान जगत् के पर्दे में एक आध्यात्मिक जगत् है, जो अपेक्षाकृत उससे भी महत्त्वपूर्ण है। आध्यात्मिक जगत् की सूक्ष्म, असीम तथा मूल्यवान् अनुभूतियाँ, जो व्यावहारिक भाषा में व्यक्त नहीं की जा सकतीं, प्रतीकों के द्वारा ही व्यक्त की जा सकती है। वाद के रूप में इसका उद्भव, कहा जाता है कि, यथार्थवाद एवं प्रकृतिवाद के विरोध में हुआ है। आरंभ में यह प्रायः अध्यात्म-क्षेत्र की भाषा थी।

(१०२) प्रभाव-साम्यः—छायावाद युग में जो नव-नव उपमानों का विधान हुआ उसके प्रेरक रूप में निहित रहने वाला तत्त्व 'प्रभाव-साम्य' ही है। ऐसे प्रतीक खोजे जाते थे जो प्रस्तुत के सदृश ही भावना को जगा सकें।

(१०३) प्रयोगवाद—यह एक आधुनिकतम वाद है। वाजपेयी जी के अनुसार इसका परिचय यों है—"उलझी हुई सवेदना की अभिव्यक्ति के लिये अथवा अभेद्य क्षेत्रों में जाने की स्वाभाविक प्रेरणा वश, सीधी तिरछी लकीरों, सीधे या उलटे अक्षरों आदि का उपयोग करते हुए कभी किसी विषय पर सहमत न होने वाले अन्वेषियों की रचना ही प्रयोगवादी रचना है"।

(१०४) प्रयोजनवती लक्षणाः—वाचक शब्दों के बावजूद जो अवाचक (लक्षक) शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वह दो कारणों से (i) परंपरा ग्राह्य होने से (ii) अथवा प्रयोजन विशेष की सिद्धि के लिये। दूसरे कारण से प्रयुक्त अवाचक या लक्षक शब्द की लक्षणा शक्ति ही प्रयोजनवती कही जाती है।

(१०५) प्रातीतिक सत्ता—अद्वैत वेदान्तियों ने विश्व के पदार्थों की सत्ता को तीन भागों में बाँट रखा है—पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातीतिक। पहली सत्ता त्रिकालाबाधित है, दूसरी केवल व्यवहार काल में अबाधित है और तीसरी व्यवहार काल ही में परवर्ती ज्ञान से बाधित है। स्वाप्न पदार्थों एवं भ्रम-जन्य पदार्थों की सत्ता प्रातीतिक ही कही जाती है।

(१०६) प्राप्यकारीइन्द्रियः—वे इन्द्रियाँ प्राप्यकारी कही जाती हैं, जो विषय का सान्निध्य प्राप्त कर ज्ञानोत्पादन में उपयोगी होती हैं। उदाहरणार्थ ... ही है।

(१०७) प्रोप्राइटी (Propriety):—अरस्तू ने style के ... दो गुणों की चर्चा की है, प्रोप्राइटी उनमें से एक है। इसका शाब्दिक ... है—औचित्य।

फ

(१०८) फैंसी—(Fancy):—दार्शनिक हाब्स के मतानुसार Fancy कल्पना का वह रूप है, जिसमें उसका विस्तार सीमा रहित होता ... फिर भी Fantacy की अपेक्षा कुछ Reasonable होता है। Fancy प्रत्येक पदार्थ को स्पष्ट कर उसमें चमत्कार का आधान करती है। आगे चलकर तो काट, हीगल, कालरिज प्रभृति विद्वानों ही ने Fancy के ...गों पर सूक्ष्मतर विवेचन उपस्थित किया है।

(१०९) फीलिंग (Feeling):—यह एक मनोविज्ञान का पारिभाषिक शब्द है। सुख, दुःख आदि वृत्तियों का अनुभव ही Feeling या भावना है।

(११०) फ्रीक्वैंसी (Frequency): Repeated Occurrence of anything किसी वस्तु का बार-बार होना। जिस भाव (Idea)

की कई बार आवृत्ति (Frequency) होती है, उसका संस्कार दृढ हो जाता है और वे चेतन मस्तिष्क में शीघ्र आ जाते हैं।

(१११) फैंटेसी (Fantacy):—कल्पना का अत्यत अनियंत्रित रूप है। परी आदि से संबद्ध शुद्ध कपोल-कल्पना Fantacy की उपज है।

व

वर्बल अयारनी (Verbal Irony):—एक प्रकार का व्यंग्य, जो प्राय: वचन में परिलक्षित होता है।

(११२) ब्रह्मः—उपनिषद् का प्रतिपाद्य तत्त्व है। अद्वैत वेदाती इसे निर्गुण तथा द्वैत वेदाती सगुण मानते हैं। अद्वैतवादी ब्रह्म से अतिरिक्त सब कुछ असत्य एव उसी का विवर्त मानते हैं जब कि द्वैतवादी उससे अतिरिक्त वस्तु को भी सत्य मानते हैं।

(११३) बाधः—किसी वस्तु की भ्रम-वशात् यदि अन्यथा ज्ञान हो जाता है तो परवर्ती वास्तविक ज्ञान से उसका मिट जाना ही बाध है।

(११४) बौद्ध अर्थः—कुछ शब्दों के ऐसे भी अर्थ होते हैं, जिनकी वहिंजगत् में सत्ता होती नहीं, वे केवल बुद्धि में ही आ सकते हैं। उदाहरण के लिए 'बंध्या पुत्र' शब्द है, इसका अर्थ केवल बुद्धि में ही स्फुरित होता है, बहिर्जगत् में नहीं। सो ऐसे ही अर्थ बौद्ध कहे जाते हैं।

भ

(११५) भक्तिवादः—ध्वनि तत्त्व के पार्थक्य में विश्वास न रखने वाले मनीषी उसकी सत्ता मानने पर भी भक्ति से पृथक् उसका अस्तित्व मानने में हिचकते हैं। 'भक्ति' शब्द का अर्थ है—लक्षणा। इन लोगों का अभिप्राय यह है कि अर्थ दो ही प्रकार के हो सकते हैं—मुख्य एवं अमुख्य। यदि ध्वनि स्वरूप अर्थ मुख्य नहीं तो फिर अमुख्य अवश्य होगा। अमुख्य लक्ष्यार्थ ही तो है। इस प्रकार ध्वनि एवं लक्ष्यार्थ के एक होने से भक्ति एव ध्वनि (ध्वनन व्यापार) भी एक ही हैं। यही मत भक्तिवाद है।

(११६) भग्नावरण चिद्—वेदातियों की धारणा है कि ब्रह्म प्रकाशक है और जगत् प्रकाश्य। यदि व्यापक प्रकाशक एवं प्रकाश्य को सदा सबद्ध

माना जाय तो निरंतर सभी वस्तुओं का साक्षात्कार होना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं। अतः कल्पना करनी पड़ती है कि जितने विषयों की ओर से ब्रह्म-विषयक आवरण हटा रहता है, उतने का ही प्रत्यक्ष होता है। यह आवरण 'वृत्ति' द्वारा नष्ट होता है। वृत्ति द्वारा आवरण का भंग होने पर ब्रह्म अपने चिदंश में भग्नावरण कहा जाता है।

(११७) भाट्टमत—मीमासकों मे कुमारिल भट्ट का मत भाट्टमत के नाम से पुकारा जाता है। यही मत प्रतिष्ठित मत है।

(११८) भावना—साहित्य शास्त्र में 'भावना' शब्द दो अर्थों में मिलता है। (i) पडितराज ने एक जगह लिखा है—"भावना च पुनः पुनरनुसंधानात्मा"। (ii) दूसरे भट्टनायक ने काव्य की तीन शक्तियों में एक भावना भी मान रक्खी है। यह साधारणीकरण व्यापार के रूप में मानी गई है।

(११९) भावयित्री प्रतिभा—काव्य का मर्म समझनेवाली एवं उसका स्पष्ट उल्लेख करनेवाली प्रतिभा भावयित्री प्रतिभा है।

(१२०) भोगः—भट्टनायक ने भरत के रससूत्र की व्याख्या करते हुए इस शब्द का प्रयोग किया है और प्रकाशकार ने उसका स्वरूप यों बताया है—"सत्त्वोद्रेकप्रकाशानंदमयसंविद्विश्रातिसतत्त्वेन भोगेन"—अर्थात् काव्य व्यापार का परिणाम यह होता है कि श्रोता का रजोगुण एवं तमोगुण दब जाता है तथा सत्त्वगुण का उद्रेक हो जाता है और उद्रेक के फलस्वरूप आनंदमय संवित् की निष्पत्ति होती है। यही भोग का तत्त्व है।

म

(१२१) मध्यमाः—हृद्देशस्थ वाणी का नाम मध्यमा है। इसी से जो नाद होता है वह स्फोट तत्त्व का व्यजक होता है—'मध्यमया कृतो नादः स्फोटव्यजक उच्यते' कहा ही है।

(१२२) माध्यमिकः—बौद्ध दार्शनिकों के चार संप्रदाय हैं—वैभाषिक, सौत्रांतिक, योगाचार एव माध्यमिक। माध्यमिक बौद्धो की दूसरी संज्ञा शून्यवादी भी है ये लोग बाह्य जगत्, आतर विज्ञान सबको असत्य मानते हैं। केवल 'शून्य' ही परम तत्त्व है। (शून्य शब्द की व्याख्या 'शून्य' शीर्षक टिप्पणी में देखिए)।

(१२३) मानवीकरणः—यह एक नया अलकार है, जिसमें अचेतन पदार्थों को चेतन जैसा वर्णित किया जाता है। बहुत पहले ध्वन्यालोककार ने भी कहा था—"भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचे तनवत्। व्यवहारयति यथेष्ट सुकविः काव्ये स्वतंत्रतया"।

(१२४) मार्क्सिज्मः—कार्लमार्क्स द्वारा अध्यात्मवाद के विरोध में आविष्कृत एक भौतिक वादी सिद्धात है। इसके दर्शन पक्ष का नाम है—द्वद्वात्मक भौतिकवाद। इसी आधार पर मार्क्सवादी समाज व्यवस्था को साम्यवाद कहते हैं। इनके अनुसार सृष्टि का मूल तत्त्व (matter) है, (Spirit) चैतन्यतत्व नहीं। जगत् उसी भूततत्त्व का विकसित रूप है।

(१२५) मूर्तद्रव्यः—न्यायशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है। वैशेषिको ने पृथ्वी, जल, तेज, पवन एवं मन को मूर्तद्रव्य माना है। वैशेषिक शास्त्र के विद्वानों ने बताया है कि मूर्त द्रव्य उन्हें कहना चाहिए, जिनमें अपकृष्ट परिमाण हो। इस लक्षण में अव्याप्ति (परमाणुगत) देखकर पुनः कहा है कि मूर्त द्रव्य वे हैं जो विभु में न रहनेवाले परिमाण से युक्त हों।

य

(१२६) यत्परः शब्दः स शब्दार्थः—यह मीमासकों का एक प्रामाण्य-निर्द्धारक न्याय है। इस न्याय का अभिप्राय यह है कि जिस (वेद) वाक्य का जिस तात्पर्य से प्रयोग है वही उसका मुख्य अर्थ है। तात्पर्य वाक्य का विधेयाश मात्र में होता है। अर्थात् जो अश विधेय होता है, उसी में तात्पर्य होता है और जिसमें तात्पर्य होता है उतने ही में वेदवाक्यों का प्रामाण्य समझना चाहिए।

(१२७) यदृच्छा शब्दः—संज्ञा शब्दों को ही यदृच्छा शब्द कहते हैं। असल में वैयाकरणों ने जिन उपाधियो में अभिधा स्वीकार की है, यदृच्छा उनमें से एक है।

(१२८) योगः—पतजलि का सूत्र है—"योगश्चित्तवृत्ति निरोधः"—चित्त वृत्तियों का निरोध ही योग है। यों तो 'योग' शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है—समाधि। यह शब्द समाधि अर्थवाले 'युज' धातु से बना है।

(१२९) योगरूढि—वाचक शब्दों का एक प्रकार है। ऐसे शब्दों की योगशक्ति रूढि शक्ति से नियन्त्रित होती है।

(१३०) योगाद्रूढिर्बलीयसी:—यह एक न्याय है जिसके द्वारा यह सिद्ध माना जाता है कि योग शक्ति से रूढ शक्ति बलवती होती है। उसका कारण यह है कि योगशक्ति विभिन्न अवयवों की अपेक्षा रखती है और रूढि शक्ति पूरे समुदाय की, अतः प्रथमः को द्वितीय की अपेक्षा विलम्ब स्वाभाविक ही है और यही कारण उसके दुर्बल होने का है।

(१३१) योग्यता—शाब्दबोध में 'योग्यता' का उपयोग होता है। योग्यता का अर्थ है—अनेक पदार्थों के संसर्ग में बाध का अभाव। जैसे सींचने में अग्नि की करणता बाधित है, पर जल की नहीं। अतः 'जल' का 'सींचना' क्रिया से जो संबंध है, वह योग्य है, पर अग्नि से जो संबंध है वह योग्य नहीं है। इस प्रकार जहाँ संबंध में योग्यता होगी, वहाँ शाब्दबोध होगा और अन्यत्र नहीं।

(१३२) योगाचार—बौद्ध दार्शनिकों का एक दल है। ये लोग 'विज्ञान' को ही सत्य मानते हैं। और संपूर्ण बहिर्जगत् को इसी विज्ञान का विवर्त मानते हैं। इस विज्ञान के दो भेद हैं—आलय विज्ञान तथा प्रवृत्ति विज्ञान। अपने मत के समर्थन में ये लोग स्वाप्न-दशा का दृष्टांत देते हैं।

(१३३) यौगिक—वाचक शब्द का एक प्रकार है। ऐसे शब्द प्रकृति एवं प्रत्यय के योग से बनते हैं और अवयव शक्ति से ही अर्थ देते हैं।

(१३४) यौगिकरूढि:—वाचक शब्दों का एक प्रकार है। ऐसे शब्दों की अवयव शक्ति एवं रूढि शक्ति अलग अलग अर्थ देती हैं।

र

(१३५) रजोगुण:—'प्रकृति' जिन तीन गुणों की समष्टि है, उनमें से एक यह भी है। इसी गुण के कारण पदार्थ मात्र क्रिया-शक्ति होते हैं।

(१३६) रस:—कोषों में तो 'रस' शब्द के जल आदि अनेक अर्थ हैं, पर साहित्यशास्त्र में काव्यानंद के लिए इसका प्रयोग होता है। इसकी निष्पत्ति विभाव, अनुभाव एव सञ्चारी के संयोग से होती है।

(१३७) रसना:—यह एक व्यापार के रूप में साहित्यदर्पणकार द्वारा कल्पित है। व्यजना सिद्ध पदार्थ का ही प्रकाशन करती है और रस पहले से सिद्ध नहीं होता अतः उसकी निष्पत्ति के लिए व्यञ्जना से अतिरिक्त 'रसना' नाम के व्यापार की कल्पना की गई है।

(१३८) रसाभास—रस की सामग्री में अनौचित्य की गंध मिलने पर रसाभाव की सृष्टि होती है। अनौचित्य का निर्धारण लोक व्यवहार करता है।

(१३६) रिसेन्सी (Recency)-(Ideas) भावों को साहचर्य (Association) वश जगाने में भावों की ताजी अनुभूति (Recency) भी सहायक है।

(१३०) रूढि—रूढवाचक शब्दों की शक्ति को रूढिशक्ति कहते हैं। रूढिशक्ति प्रकृति प्रत्यय की अपेक्षा न रखकर पूरे समुदाय का ही अर्थ देती है।

ल

(१४१) लक्षणाः—यह एक शब्द शक्ति है। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में विचारकों में परस्पर बड़ा मतभेद है। प्रकाशकार इसको ज्ञानरूप मानते हैं और ऐसा इन्होंने मीमासकों के 'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणामता' मानकर किया है। रसगंगाधरकार ने उसे 'शक्यसम्बन्ध' रूप माना है और ऐसा नैयायिकों के पदचिह्नों के अनुसरण का फल है। वैयाकरण 'शक्यतावच्छेदकारोप' रूप लक्षणा मानते हैं। इसी प्रकार लक्षणा के उत्थान में जहा प्राचीन लोग मुख्यार्थ सम्बन्ध तथा रूढि या प्रयोजन को कारण मानते हैं वहाँ नव्य केवल बाध तथा रूढ़ि या प्रयोजन को ही।

इसके निरूढा एव प्रयोजनवती–ये दो आरम्भिक भेद हैं। प्रयोजनवती के साहश्य सम्बन्ध एव तदितर सबध के आधार पर क्रमशः दो उपभेद हो जाते हैं—गौणी तथा शुद्धा। गौणी के भी दो—सारोपा तथा साध्यवसाना—एव शुद्धा के चार—पूर्वोक्त दो तथा उपादान लक्षणा एव लक्षण-लक्षणा—भेद हो जाते हैं। [विशेष देखिए लक्षणा विवेचन द्वितीय परिच्छेद]।

(१४२) लाघव—अदृष्ट पदार्थों के विचार में लाघव एव गौरव का महत्त्व है। लाघव के तीन रूप हैं—(१) शरीर कृत (२) उपस्थिति कृत (३) एवं सबंधकृत। लाघव के ही कारण प्रत्यक्ष में 'अणुद्रव्यभिन्नत्वम्' की जगह 'महत्त्व', उपस्थिति कृत लाघव के कारण रूपोत्पत्ति के प्रति रस प्रागभाव की अपेक्षा रूपप्रागभाव को तथा सबध कृत लाघव के कारण दण्डत्व की जगह दण्ड को घट के प्रति कारण माना जाता है।

(१४३) लिंगः—श्रौत मन्त्रों का अङ्गाङ्गिभाव-निर्णय करने के लिए इस तत्त्व की कल्पना महर्षि जैमिनी ने की है। शब्दों का अर्थ प्रकाशन सामर्थ्य ही लिङ्ग है।

व

(१४४) व्याप्तिः—यह न्याय शास्त्र का शब्द है और अनुमिति में इसका उपयोग है। दो भावों के नियत साहचर्य को व्याप्ति कहते हैं।

(१४५) वक्रोक्तिः—इस शब्द का साहित्य शास्त्र में तीन अर्थों में प्रयोग मिलता है—(1) पहला प्रयोग अलकार सामान्य के स्वरूप-निर्माण में अपेक्षित तत्त्व के रूप में—"कोऽलकारोऽनया विना' कहा ही है। दूसरा प्रयोग एक विशेष अलकार के रूप में, जहा वक्ता द्वारा भिन्न अभिप्राय से उच्चरित शब्दों की अर्थ योजना श्रोता काकु एवं श्लेष की सहायता से और ही तरह का करता है। तीसरा प्रयोग आत्मवाद के रूप में मिलता है।

(१४६) वस्तुः—ध्वनि के मोटे तौर पर तीन भेद हैं—वस्तुध्वनि, रसध्वनि, तथा अलकार ध्वनि। रस एव अलकार से अतिरिक्त जो कुछ भी ध्वनित हो, वह सब वस्तु ही है।

(१४७)—वाक्यः—विधेय गर्भ सार्थक, साकाङ्क्ष, योग्य एव सन्निहित पदों की समष्टि ही वाक्य है।

(१४८) व्यक्तिवैचित्र्यवादः—जहा भारतीय आचार्यों ने काव्य में रस को प्रामुख्य देने के कारण तादात्म्य तथा साधारणीकरण पर ध्यान दिया है वहाँ योरुपीय आचार्यों ने काव्य में शील वैचित्र्य या अन्तः प्रकृति वैचित्र्य को प्रधान मानकर व्यक्तिवैचित्र्य-प्रदर्शन पर अधिक बल दिया है।

(१४९) व्याज स्तुति—यह एक अलकार है। यहा कभी वाच्यार्थ निन्दापरक एव व्यङ्ग्यार्थ स्तवनपरक तथा कभी वाच्यार्थ-स्तवन-परक तथा व्यङ्ग्यार्थ-निन्दा-परक होता है।

(१५०) व्यावहारिक सत्ता—[देखिए—'प्रातीतिक सत्ता']।

(१५१) व्यापार—क्रिया तो अर्थ है ही व्यापार का, एक और भी पारिभाषिक अर्थ हैं और वह यों है—करण से जनित तथा करण के फल का जनक तत्त्व व्यापार है।

(१७४) श्रुतिकटुत्व—यह एक दोष है जो शृंगार आदि माधुर्य गुणमय रसों के प्रसग में कर्णकटु शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न होता है।

(१७५) शून्य—यह माध्यकिक बौद्ध दार्शनिकों का परमतत्त्व है। ब्राह्मण दार्शनिक इसका अर्थ 'कुछ नहीं' करते हैं, पर बौद्ध लोग इसे चतुष्कोटि विनिर्मुक्त एक सत्तावान् पर अनिर्वचनीय तत्त्व बताते हैं।

स

(१७६)—सत्त्वगुण—साख्य-सम्मत प्रकृति के तीन गुणों में एक है। यह लघु एवं प्रकाशक है और इसका परिणाम सुख है।

(१७७) सब्लिमिटी Sublimity—आचार्य लाञ्जिनस की दृष्टि में काव्य का सर्वस्व "सब्लिमिटी" (औदात्य) ही है। साहित्य में औदात्य पाँच स्रोतों से आता है। [विशेष विवरण देखिए, पृष्ठ १२२-१२३]

(१७८) समाख्या—वे श्रौतमन्त्रों का अगांगिभाव जिन साधनों से निर्णीत होता है, उनमें से एक यह भी है। इसका अर्थ होता है—योग।

(१७९) संवित्ति—यह अनुव्यवसाय का पर्याय है, जिसका परिचय पीछे दिया गया है। मीमासकों के मत से ज्ञान का फल 'प्रकटता' है। 'सवित्ति' भी ज्ञान का फल ही है, पर वह व्यक्तिनिष्ठ है और 'प्रकटता' वस्तु निष्ठ।

(१८०) सक्रमण सिद्धान्त—यह सिद्धात कला के सम्बन्ध में टालस्टाय द्वारा आविष्कृत है। इस सिद्धात में इस तथ्य पर बल दिया गया है कि कला द्वारा कवि अपनी भावनाओं का हृदयान्तर में सक्रमण करता है। [विशेष देखिए—पृष्ठ १४०-१४१]

(१८१) सभव—यह पौराणिकों द्वारा आविष्कृत एक प्रमाण है। इस प्रमाण के द्वारा किसी भी वर्णनीय प्रसंग में सभाव्य सारी बातें सत्य के समान ही लिखी जाती हैं।

(१८२) सस्कार—अनुभूतियाँ अपना स्थूल रूप नष्ट कर देने पर अपना सस्कार अंतःकरण में छोड़ जाती हैं। यह संस्कार कभी कभी अपेक्षात्मक एवं कभी-कभी उपेक्षात्मक अनुभव से जनित होता है।

अपेक्षात्मक अनुभव से जनित संस्कार स्मृति पैदा करने में प्रायः उत्तम होता है।

(१८३) सकेतग्रह—व्यवहार द्वारा किसी शब्द का किसी अर्थ में सकेत गृहीत होता है अर्थात् किस शब्द की किस अर्थ में शक्ति है—इसका पता लगता है। प्रायः लोग 'शक्ति' 'सकेत' एवं 'सबंध' को पर्याय मानते हैं, पर यह ठीक नहीं है। असल में वृद्धों का—"यह इस शब्द का वाच्य है—यही शब्द प्रयोग ही सकेत है [विशेष, पृष्ट १६]

(१८४) स्थायी—विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारी से परिपुष्ट होने पर जो भाव रसदशा तक पहुँचते हैं, उन्हें स्थायी भाव कहते हैं। प्रायः ये सख्या में नव माने जाते हैं।

(१८५) समासोक्ति—यह एक अलंकार है। इसमें प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यञ्जना की जाती है।

(१८६) संभोग श्रृंगार—श्रृंगार के दो भेद हैं—संभोग एवं विप्रलम्भ। पहले नायक नायिका परस्पर अनुकूल रह कर अपनी रति वृत्ति को विभिन्न माध्यमों से तुष्ट करते हैं और दूसरे में सकारण रति को अतृप्त रखते हैं।

(१८७) सभंगश्लेष—शब्द श्लेष के दो भेद हैं—सभंग एव अभंग। सभंग में पदों को तोड़कर अनेक अर्थ निकाले जाते हैं और अभग में बिना तोड़े ही अनेक अर्थ मिल जाते हैं।

(१८८) संघटना—पदशय्या ही संघटना है। आनदवर्धन ने इसे तीन प्रकार का कहा है—(i) समासवती (ii) अल्पसमासा (iii) असमासा। संघटना का गुण से संबंध कर अनेकधा विचार किया गया है। कुछ लोग संघटना एवं गुण एक मानते हैं कुछ लोग भिन्न। भिन्न माननेवालों में से भी कुछ एक सघटना को गुण का तथा कुछ लोग गुण को सघटना का आश्रय बताते हैं। वस्तुतः संघटना गुणाश्रित है।

(१८९) साधारणीकरण—यह काव्य या नाट्य की एक प्रक्रिया है, जिस के द्वारा काव्यीयपदार्थ ऐसी अवस्था में ला दिये जाते हैं जो प्रत्येक व्यक्ति के भावों को जगाने में क्षम हो जाते हैं।

(१९०)—साइनेसथीसिया—देखिए पृ० १६०

(१६१)—साइको-एनालिसिस—(Psyco-Analysis) 'मन-समीक्षा' इसका शाब्दिक अर्थ है। इसका क्षेत्र है मानवीय व्यापारों को देखकर उसकी तह में होनेवाले मानस की समीक्षा।

(१६२)—सादृश्य एव साधर्म्य—उपमान एव उपमेय का समान धर्म साधारण धर्म कहा जाता है और इसी साधारण का उपमान तथा उपमेय से संबंध साधर्म्य है। साधर्म्य एव सादृश्य में प्रयोज्य प्रयोजक भाव संबंध है। नैयायिक लोग तो दोनों को एक ही मानते हैं।

(१६३) सौंदर्य—एक विपयीगत अनुभूति है, जो वस्तु एवं संस्कार के समन्वय से उत्पन्न होता है।

(१६४)—स्फोट वाद—यह वाद वैयाकरणों का एक प्रमुख वाद है। शब्दाद्वैत वादी भर्तहरि का विचार है कि स्फोट रूप शब्द ही एक मात्र सत्य पदार्थ है वह नित्य तथा आकाश के समान व्यावक है। सारा अर्थ जात उसी का विवर्त है। अर्थ की उत्पत्ति का मूल तो यह है ही, उसके ज्ञान का मूल भी यही स्फोट तत्त्व है। अर्थदान की शक्ति इसी स्फोटात्मक शब्द में है—"स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः" नैयायिक श्रूयमाण शब्द को ही अर्थदान में शक्त मानते हैं।

ह

(१६५)—हिप्नोटिज्म (Hypnolism)—इसे सम्मोहन या मोहनिद्रवाद कहते हैं। इस प्रक्रिया में प्रभावित व्यक्ति अनालोचन पूर्वक सब कुछ स्वीकार कर लेता है।

(१६६) हेतु—नैयायिक लोग तीन प्रकार के हेतु या कारण मानते हैं—समवायी, असमवायी तथा निमित्त, परंतु वेदाती लोग केवल दोही कारण हैं—उपादन कारण एवं निमित्त कारण।

ज्ञ

(१६७) ज्ञापक—दूसरी दृष्टि से कारण के दो प्रकार हैं—कारक एव ज्ञापक कारक कारण वे कहे जाते है, जिनसे किसी वस्तु की उत्पत्ति या(सांख्य दृष्टि से) अभिव्यक्ति होती है। पर ज्ञापक कारण 'सिद्ध' कार्यों या पदार्थों को प्रकाशित मात्र करते हैं। उदाहरणार्थ मिट्टी घडे का कारक और दीप ज्ञापक कारण है। नैयायिकों का अनुमानोपयोगी हेतु एक प्रकार का ज्ञापक कर रक्खी है।

———